दस्तावेज़ : मंटो

रेखाचित्र



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

सआदत हसन मंटो

दस्तावेज़

5



चयन, संयोजन एवं परिचय

बलराज मेनरा, शरद दत्त

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली-110 002
साइंस कालिज के सामने, पटना-800 006

मूल्य
पाँच खंडों का पूरा सैट : रु. 1000.00

आवरण : नंद कत्याल

पाठ्य भाग मेहरा आफसेट प्रेस, चाँदनी महल, नई दिल्ली-110 002 में और आवरण एवं चित्र अभिषेक प्रिंटिंग सर्विस, अंसारी रोड, नई दिल्ली-110 002 में मुद्रित

विषय-सूची



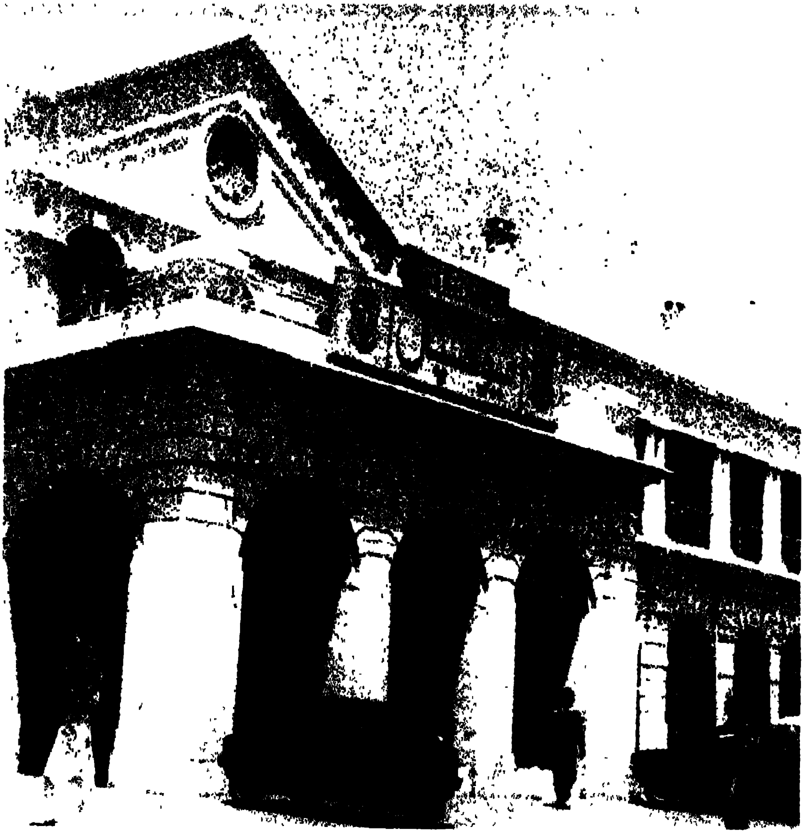
मंटो
कृति : रामचन्द्रन



मंटो और सफिया मंटो
मंटो जब कमीज-पतलून पहनता था—बाद में
उसने यह लिबास छोड़ दिया था।



मटो अपने भाजे हामद जलाल के साथ
लाहौर–1954



मेयो अस्पताल, लाहौर
18 जनवरी 1955 : सुबह साढ़े-दस बजे
पोर्च में एंबुलेंस पहुँची, डाक्टर लपके—
लेकिन मंटो दम तोड़ चुका था।

मजार



A Public Meeting of Delhi Citizens
will be held at
Delhi Municipal Committee Hall
on **February 5, 1955, at 6 P. M.**

to mourn the death of the great short story writer, **Saadat Hasan Manto,** who passed away on January 18, 1955.

CONVENERS –

Josh Malihabadi, Krishan Chandr Qudsia Begum Zaidi, Yunus Dehlvi, Khushtar Grami Dharmpal Gupta Wafa, Jagan Nath Azad, Shyam Sunder Pervez, Prakash Pandit, Zoe Ansari, and Satindra Singh.

मटो की मौत के बाद दिल्ली मे होनेवाली
शोकसभा का सचनापत्र

पहला शब्द

मोहन गुप्त ने कहा : "भई हद कर दी दोस्तो, पाँचवें और आखिरी खंड तक आन पहुँचे हो और मंटो की ज़िंदगी के बारे में एक लफ़्ज़ तक नहीं लिखा तुमने यह क्या हरकत है ?"

मोहन गुप्त राजकमल प्रकाशन के, वह जो अंग्रेज़ी में कहते हैं, वन आफ़ दि डायरेक्टर्स हैं और मंटोनवाज़ी के झमेले में हमारे साथ टाँका लगा बैठे हैं।

हमने दोस्ताना टाँके के एहतराम में मंटो की ज़िंदगी पर नज़र डालने की ठान ली।

अदब के एक पाकिस्तानी डाक्टर अनवार अहमद मंटो की ज़िंदगी पर इस तरह नज़र डालते हैं : "मंटो ग्यारह मई 1912 को सम्बराला, ज़िला लुधियाना में पैदा हुए। वालिद मियाँ ग़ुलाम हसन मुंसिफ़ के ओहदे पर फ़ाइज़ थे। मंटो की वालिदा मियाँ साहब की दूसरी बीवी थीं और यह शादी उस वक़्त हुई जब उनकी पहली बीवी हयात[1] थीं और उनकी औलाद जवान तीन बरस फ़ेल होने के बाद मंटो ने 1931 में मैट्रिक कर लिया "

देखिए ना, डाक्टर साहब कितनी तेज़ी से भागमभाग 1912 से 1931 में पहुँच गए। अरे भई, अगर आपको चंद सतरें घसीटना ही थीं तो कम-अज़-कम मंटो की वालिदा का नाम ही बता दिया होता जो सरदार बेगम था और जिन्हें मंटो बीबीजान कहा करता था।

डाक्टर अनवार अहमद ने नुस्ख़ा लिखने में जल्दी दिखाई सो दिखाई, मुहम्मद असदुल्लाह तो डाक्टर साहब का भी बाप निकला। असदुल्लाह की टेढ़ी-तिरछी रफ़्तार पकड़ ही में नहीं आती : "पैदाइश, ग्यारह मई 1912 को ज़िला अमृतसर के एक मुक़ाम सम्बराला में हुई। इब्तदाई तालीम अमृतसर में हासिल की। इसके बाद अलीगढ़ यूनिवर्सिटी चले गए। कुछ मुद्दत रहे। वापस आए तो सहाफ़त[2] बतौर पेशा के इख़्तियार करके रोज़नामा 'मुरव्वत' से मुंसलिक[3] हो गए। कुछ देर वहाँ काम करने के बाद लाहौर आकर लाला करमचंद के हफ़्तरोज़ा जरीदा 'पारस' से वाबस्ता हो गए। उस ज़माने में 'हुमायूँ' का 'फ़्रांसीसी नंबर' और 'आलमगीर' का 'रूसी नंबर' मुरत्तब[4] किया। आस्कर वाइल्ड के ज़ब्तशुदा ड्रामा 'वीरा' को उर्दू में मुंतक़िल[5] किया। रूसी अदब इतनी तेज़ी से उर्दू में लाए कि लोग उन्हें 'माहिरे-रूसियात' कहने लगे। इसके बाद बंबई चले गए। 'मुसव्विर' के इदारती फ़राइज़[6] अंजाम देते रहे और इसके साथ ही इंपीरियल फ़िल्म कंपनी

से भी वाबस्ता[7] हो गए। बंबई से आल इंडिया रेडियो, देहली में चले गए। वहाँ बेशुमार ड्रामे और रेडियो फ़ीचर लिखे। इसके बाद फिर बंबई चले गए। तक़सीम के बाद लाहौर आ गए। सारी उम्र बहुत ही हंगामाखेज़ जद्दोजहद में गुज़री। काफ़ी घूमते-फिरते भी रहे मगर 18 जनवरी 1955 को एक ऐसे मुक़ाम पर पहुँच गए जहाँ से कभी लौटकर नहीं आएँगे।"

असदुल्लाह ने 'लुधियाना' को 'अमृतसर' लिखने की जो ग़लती की, रोज़नामा 'मसावात' को 'मुरव्वत' लिखने की जो भूल की उनको तो ठीक किया जा सकता है। लेकिन बयालीस बरस, आठ महीने और सात दिन 'उधार' ली हुई ज़िंदगी को उसने जल्दबाज़ी में जिस तरह ख़लास किया है वह अदबी ग़ैरज़िम्मेदारी की बदतरीन मिसाल है।

अफ़सोस इस बात का है कि मंटो के सिलसिले में ऐसी बदतरीन मिसालें उर्दू के अलावा दूसरी ज़बानों में भी मिलती हैं। मंटो की ज़िंदगी को सरसरी आउटलाइंस में समेटा जाता है और अपना काम चलाया जाता है।

ख़ालिद हसन ने वियाना में बैठे-बैठे मंटो के कुछ अफ़साने अंग्रेज़ी में तरजुमा किए जो Kingdom's End and Other Stories के उनवान तले ग्रेट ब्रिटेन से छपे। 'इंट्रोडक्शन' में जो ग़लतियाँ उनसे हुईं सो हुईं, वह रस्मी और सहल लफ़्फ़ाज़ी से आगे न बढ़ सके।

लेसली ए. फ़्लेमिंग ने Another Lonely Voice में मंटो की ज़िंदगी पर क़दरे बेहतर और क़दरे तवील बाब[8] लिखा, लेकिन वह गहराई तक न उतर सकीं,सच को न पा सकीं।

अनीस नागी बिलकुल सही कहते हैं : "मंटो की ग़ैरजानिबदार सवानहउमरी[9], मंटो की तफ़हीन और उर्दू अफ़साने की वज़ाहत के लिए एक अहम ज़रूरत हैं, क्योंकि मंटो उर्दू अफ़साने का एक अहद है। वह उर्दू का एक बाहिम्मत फ़नकार है जिसकी सवानहउमरी इस अहद के अदीबों के लिए एक मिसाल बन सकती है।"

पिछले पचास वर्षों में मंटो की ज़िंदगी का अहाता करने की तीन कोशिशें—कृश्नचंदर, मुहम्मद असदुल्लाह और अबू सईद क़ुरैशी की तीन नाकाम कोशिशें हमारी सिर्फ़ इतनी मदद करती हैं कि हम तक मंटो के मुख़्तलिफ़ अदवार[10] की कुछ अहम इत्तलाआत पहुँचाती हैं।

वारिस अलवी कहते हैं : "अफ़साना में जब अफ़सानानिगार की ज़ात पेश-पेश होती है तो हक़ीक़त बेहिजाब[11] नहीं हो पाती। हक़ीक़त को क़ुबूल करने का हौसला मंटो ने ख़ुद को अफ़साना में रखकर ही पैदा कर लिया था। यूँ कहिए कि अफ़सानवी तकनीक ने उसे ज़िंदगी को क़ुबूल करने के आदाब सिखाए। मंटो कहानी में मौजूद है लेकिन वह कहानी का किरदार[12] नहीं, महज़ एक मीडियम है जिसके ज़रिये ज़िंदगी की एक हक़ीक़त बेनक़ाब होती है। मीडियम को अपने आदाब सीखने चाहिएँ और यह आदाब मंटो को सिखाता है

बाबू गोपीनाथ। मीडियम एक मानी में वह तवायफ़ है जिसकी ज़ात हविसनाक[13] जज़्बात के दहकते शोलों में घिरी है लेकिन उन शोलों के दरम्यान जो चीज़ सर्द है, वह ख़ुद तवायफ़ की ज़ात है। एक समाजी इंसान की हैसियत से मंटो की अपनी कुछ समाजी और इख़लाक़ी पासदारियाँ हो सकती हैं लेकिन बतौर एक फ़नकार के उसका फ़र्ज़ है कि वह अपनी ज़ात को इस कदर महीन और सफ़्फ़ाफ़ बना दे कि हक़ीक़त अपनी हुस्नो-बदसूरती के साथ आर्ट में मुंतकिल हो सके। फ़नकार के फ़न का दारोमदार इस बात पर रहता है कि वह अपने लिए कौन-सा रोल पसंद करता है। हादी, रहनुमा और पैग़ंबर का, या दर्दमंद तमाशाई का, या मुशफ़िक़ो-मेहरबान ग़मगुसार का...।"

लीजिए, वारिस अलवी ने तो मंटो की ज़िंदगी पर फ़्लैपी नोट, इंट्रोडक्टरी नोट और मंटोनामे क़िस्म की तहरीरें लिखनेवालों का क़ीमा बना डाला।

समाजी इंसान और फ़नकार की डाइकोटमी समझे बग़ैर, मुतज़ाद[14] शख़्सियतों का टकराव समझे बग़ैर आप मंटो की ज़िंदगी का अहाता नहीं कर सकते।

वह कब पैदा हुआ, उसके माँ-बाप कौन थे, वह कहाँ-कहाँ रहा, वह कहाँ मरा, इन बातों की महज़ मुफ़स्सिल जानकारी मंटो को समझने में हमारी मदद नहीं करती।

मंटो को समझने के लिए मंटो की तख़लीक़ात पढ़िए, मंटो समझ में आ जाएगा। तख़लीक़ात के हिसार[15] में वह साफ़ नज़र आता है। उससे सरसरी मुलाक़ात भी हो सकती है और भरपूर मुलाक़ात भी। इसका इनहसार[16] ख़ुद आपकी ज़ात है।

28 अक्टूबर 1951 को मंटो ने कहा था : "मैं चलता-फिरता बंबई हूँ।"

अगर हम बंबई को एक बड़े शहर के नाते समझने की कोशिश करें, तब भी बंबई को समझना इतना आसान नहीं। और अगर हम बंबई को एक इस्तआरे[17] के तौर पर समझने की कोशिश करें, तब भी बंबई एक बड़ी मुश्किल बन जाएगा।

बंबई को कृश्नचंदर न समझ सका, इस्मत चुग़ताई न समझ सकी, राजिंदरसिंह बेदी न समझ सके। सुरिंदर प्रकाश बेचारा तो क्या ख़ाक समझेगा।

मंटो ने बंबई को समझा और चलता-फिरता बंबई बन गया जो पाकिस्तान के समाजी इंसानों की समझ में न आ सका।

'दस्तावेज़' का यह पाँचवाँ और आख़िरी खंड मंटो के क़लमी ख़ाकों[18] पर मुश्तमिल[19] है।

क़लमी ख़ाकों की सिर्फ़ दो किताबें हैं : 'गंजे फ़रिश्ते' और 'लाउडस्पीकर'।

पहली किताब मंटो की ज़िंदगी ही में छप गई थी, और दूसरी किताब उसकी मौत के कुछ महीनों बाद। हाँ, दूसरी किताब में शामिल ख़ाके उसकी ज़िंदगी ही में छपे थे। एक ग़ैरमतबूआ[20] ख़ाका 'तपिश काश्मीरी' उसकी मौत के बाद अफ़सानवी मजमूए 'बग़ैर इजाज़त' में शामिल किया गया।

तक़सीम से पहले मंटो ने सिर्फ़ एक ख़ाका 'इस्मत चुग़ताई' लिखा था। बाक़ी सब ख़ाके तक़सीम के बाद लिखे गए।

हर ख़ाके में शख़्सियत के तानेबाने ख़ुद मंटो बुनता है और ख़ुद ही बयान करता है। बस एक ख़ाका, सिर्फ़ एक ख़ाका 'मेरा साहब' ऐसा है जहाँ मुहम्मद अली जिनाह की शख़्सियत ('ग़ैर' के हवाले से) शोफ़र आज़ाद की ज़बानी बयान की गई है। इस ख़याल से कि कहीं 'मेरा साहब' की मौजूदगी—मंटो, गंजे फ़रिश्तों, लाउडस्पीकरों और पढ़नेवालों के बीच—तकल्लुफ़ की बनावट न ले आए, हमने 'मेरा साहब' को मुतफ़रक[21] तहरीरों के चौथे खंड में शामिल किया है।

मंटो ने जितने भी ख़ाके लिखे हैं, इस आख़िरी खंड में शामिल हैं, सिवाय तीन के। उनके नाम हैं : चराग़ हसन हसरत, अनवर कमाल पाशा और तपिश काश्मीरी। इसीलिए आपको क़लमी ख़ाकों की बिब्लियोग्राफ़ी नज़र न आएगी।

'गंजे फ़रिश्ते' का इंतसाब[22] यूँ है :

गंजे-मुआनी[23] हज़रते-ग़ालिब
के नाम
हविसे-गुल का तसव्वुर में भी खटका न रहा
अजब आराम दिया बे-परो-बाली ने मुझे

11 जनवरी 1952 को 'गंजे फ़रिश्ते' के सिलसिले में मंटो कहता है :

"मैं ऐसी दुनिया पर, ऐसे मुहज़्ज़ब[24] मुल्क पर, ऐसे मुहज़्ज़ब समाज पर हज़ार लानत भेजता हूँ जहाँ यह उसूल मुरव्वज[25] हो कि मरने के बाद हर शख़्स का किरदार[26] और तशख़्ख़ुस[27] लांडरी में भेज दिया जाए जहाँ से वह धुल-धुलाकर आए और रहमतुल्लाह अलैह की खूँटी पर लटका दिया जाए। मेरे इसलाहख़ाने[28] में कोई शाना[29] नहीं, कोई शैंपू नहीं, कोई घूँघर पैदा करनेवाली मशीन नहीं। मैं बनाव-सिंगार करना नहीं जानता। आग़ा हश्र की भैंगी आँख मुझसे सीधी नहीं हो सकी। उसके मुँह से गालियों के बजाय मैं फूल नहीं झड़ा सका। मीराजी की ग़लालत पर मुझसे इस्तरी नहीं हो सकी, और न मैं अपने दोस्त श्याम को मजबूर कर सका हूँ कि वह बरख़ुद[30] ग़लत औरतों को सालियाँ न कहे। इस किताब में जो फ़रिश्ता भी आया है, उसका मुंडन हुआ है, और यह रस्म मैंने बड़े सलीक़े से अदा की है।"

'लाउडस्पीकर' मंटो की मौत के आठ महीने बाद, सितंबर 1955 में छपी थी और इसे 'गंजे फ़रिश्ते' की 'दूसरी क़िस्म' कहा गया था। इसका इंतसाब 'चराग़ हसन हसरत' के नाम है।

इस खंड में उन्नीस गंजे फ़रिश्ते विषयसूची में नज़र आते हैं जिनके 'कारनामों' की दास्तान अंदर के पन्नों में दर्ज है। यह सूची फ़रेबे-नज़र है।

उन्नीस गंजे फ़रिश्तों की मौजूदगी बीसवें गंजे फ़रिश्ते की दास्तान भी कह डालती है। क्या हमें उसका नाम भी लिखना होगा!

When I am dead, my dearest,
Sing no sad songs for me.

Christina G. Rossetti

1. जीवित; 2. पत्रकारिता; 3. संबद्ध; 4. मकलित या संपादित; 5. स्थानांतरित; 6 संपादकीय, कर्त्तव्य; 7. संबद्ध; 8. अध्याय; 9. तटस्थ जीवनी, 10. दौर का बहुवचन; 11. बेपरदा; 12. पात्र; 13 वासनामय; 14. परस्पर विरोधी; 15. चारदीवारी; 16. दारोमदार; 17. रूपक; 18. रेखाचित्र; 19. आधारित; 20. अप्रकाशित; 21. विविध, फुटकर; 22. समर्पण; 23. अर्थ के भंडार; 24. सभ्य; 25 प्रचलित; 26. चरित्र; 27. व्यक्तित्व; 28. सुधार गृह; 29. कथा; 30. अपने-आपमें

आग़ा हश्र से दो मुलाक़ातें

तारीख़ें और सन मुझे कभी याद नहीं रहे। यही वजह है कि यह मज़्मून लिखते वक़्त मुझे काफ़ी उलझन हो रही है। ख़ुदा मालूम कौन-सा सन था और मेरी उम्र क्या थी, लेकिन सिर्फ़ इतना यार्द है कि बसद मुश्किल इन्ट्रेंस पास करके और दो दफ़ा एफ़ ए में फ़ैल होने के बाद मेरी तबीयत पढ़ाई से बिलकुल उचाट हो चुकी थी और जुए से मेरी दिलचस्पी दिन-ब-दिन बढ़ रही थी। कटरा जैमल सिह में दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की दुकान के ऊपर एक बैठक थी, जहाँ दिन-रात जुआ होता था। फ़्लश खेली जाती थी। शुरू-शुरू में तो यह खेल मेरी समझ में न आया लेकिन जब आ गया तो फिर मैं उसी का हो रहा—रात को जो थोड़ी-बहुत सोने की फ़ुर्सत मिलती थी, उसमें भी ख़्वाब राउंडों और तिरेलों ही के आते थे।

एक बरस के बाद जुए से मुझे कुछ उकताहट होने लगी। तबीयत अब कोई और शग़ल चाहती थी—क्या ? यह मुझे मालूम नहीं था—दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की बैठक में एक रोज़ इब्राहीम ने जो कि अमृतसर म्युनिस्पिलटी में ताँगों का दारोग़ा था, आग़ा हश्र का ज़िक्र किया और बताया कि वह अमृतसर आए हुए हैं। मैंने यह सुना तो मुझे स्कूल के वह दिन याद आ गए जब तीन चार पेशेवर लफ़ंगों के साथ मिलकर हमने एक ड्रामेटिक क्लब खोली थी और आग़ा हश्र का एक ड्रामा स्टेज करने का इरादा किया था। यह क्लब सिर्फ़ पंद्रह-बीस रोज़ क़ाइम रह सकी थी, इसलिए कि वालिद साहब ने एक रोज़ धावा बोलकर हारमोनियम और तबले सब तोड़-फोड़ दिए थे और वाज़े अल्फ़ाज़ में हमको बता दिया था कि ऐसे वाहियात शग़ल उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं।

इस क्लब के वाक़ियात आग़ा हश्र के उस ड्रामे के चंद अल्फ़ाज़ हैं जो मेरे ज़हन के साथ अभी तक चिपके हुए हैं : "अर्थात इसके कर्म हैं।" मेरा ख़याल है, जब दारोग़ा इब्राहीम ने आग़ा हश्र का ज़िक्र किया तो मुझे उस वक़्त ड्रामे का पूरा एक पैरा याद था। चुनांचे मुझे इस ख़बर से एक गुना दिलचस्पी पैदा हो गई कि आग़ा हश्र अमृतसर में हैं। आग़ा साहब का कोई ड्रामा देखने का मुझे इत्तिफ़ाक़ नहीं हुआ था, इसलिए कि रात को घर से बाहर रहने की मुझे क़त्अन इजाजत नहीं थी। उनके ड्रामे भी मैंने नहीं पढ़े थे, इसलिए कि मुझे "मिस्ट्रीज आफ़ कोर्ट आफ़ लन्डन" और तीर्थराम फ़िरोज़पुरी के तर्जुमे-कर्दा अंग्रेजी जासूसी नाविल जैसी किताबें पढ़ने का शौक़ था। लेकिन इसके बावजूद अमृतसर में आग़ा साहब की आमद की ख़बर ने मुझे काफ़ी मुतास्सिर किया।

आग़ा साहब के मुताल्लिक़ बेशुमार बातें मशहूर थीं। एक तो यह कि वह कूचा वकीलाँ में रहा करते थे जो हमारी गली थी, जिसमें हमारा मकान था। आग़ा साहब बहुत बड़े आदमी थे—कश्मीरी थे, यानि मेरे हम क़ौम—और फिर मेरी गली में वह कभी अपने बचपन के अय्याम गुज़ार चुके थे। इन तमाम बातों का नफ़्सियाती असर जो मुझ पर हुआ, आप उसे बख़ूबी समझ सकते हैं।

दारोग़ा इब्राहीम से जब मैंने आग़ा साहब के मुताल्लिक़ कुछ और पूछा तो उसने वही बातें बताईं जो मैं औरों से हज़ार मर्तबा सुन चुका था कि वह पहले दर्जे के अय्याश हैं। दिन-रात शराब के नशे में धुत रहते हैं। बेहद गंदा दहन हैं—ऐसी-ऐसी गालियाँ ईजाद करते हैं कि मुग़ल्लज़ात में जिनकी कोई मिसाल नही मिलती। बड़े से बड़े आदमी को भी ख़ातिर में नहीं लाते—कंपनी के फ़लाँ-फ़लां सेठ ने जब उनसे एक बार ड्रामे का तकाजा किया तो उन्होंने उसको इतनी मोटी ग़ाली दी जो हमेशा के लिए उसके दिल में आगा साहब के ख़िला[illegible] [illegible]तफ़त पैदा करने के लिए काफ़ी थी, लेकिन हैरत है कि सेठ ने उफ़ तक न की और हाथ जो[illegible] कहने लगा: "आग़ा साहब, हम आपके नौकर हैं"—बदीह गो थे—एक मर्तबा रिहर्स[illegible] [illegible] रही थी। गर्मी के बाइस एक एक्ट्रेस बार-बार माथे पर से उँगली के साथ पसीना पोंछ [illegible]थी। आग़ा साहब झुंझलाए और एक शेर मौज़ूँ हो गया:

अब्रू [illegible] सँवारा करो कट जाएगी उँगली।
[illegible] हो तलवार से खेला नहीं करते।

रिहर्[illegible] [illegible] रही थी। लफ़्ज़ "फ़ंड" एक एक्ट्रेस की ज़बान पर नहीं चढ़ता था। आग़ा सा[illegible] कर "फ़ंड" का एक हम-क़ाफ़िया लफ़्ज़ लुढ़का दिया—एक्ट्रेस की ज़बान पर [illegible] "फ़ंड" चढ़ गया।

आग़ा साहब के कान तक यह बात पहुँची कि हासिद यह प्रोपेगंडा कर रहे हैं कि हिंदी के ड्रामे उनके अपने लिखे हुए नहीं, क्योंकि वह हिंदी ज़बान से बिल्कुल नावाक़िफ़ है। आग़ा साहब स्टेज पर ड्रामा शुरू होने से पहले आए और हाज़िरीन से कहा: मेरे मुताल्लिक़ चंद मुफ़्सिदा-पर्दाज़ वह बात फैला रहे हैं कि मैंने अपने हिंदी के ड्रामे किराए के पंडितों से लिखवाए हैं—मैं अब आपके सामने शुद्ध हिंदी में तक़रीर करूँगा। चुनांचे आग़ा साहब दो घंटे तक हिंदी में तक़रीर करते रहे, जिसमें एक लफ़्ज़ भी उर्दू या फ़ारसी का नहीं था।

आग़ा साहब जिस एक्ट्रेस की तरफ़ निगाह उठाते थे, वह फ़ौरन ही उनके साथ ख़लवत में चली जाती थी।

आग़ा साहब, मुंशियों को हुक्म देते थे: "तैयार हो जाओ।" और शराब पीकर टहलते-टहलते बयक-वक़्त कौमेडी और ट्रेजिडी लिखवाना शुरू कर देते थे।

आग़ा साहब ने कभी किसी औरत से इश्क़ नहीं किया—लेकिन मुझे दारोग़ा इब्राहीम की ज़बानी मालूम हुआ कि यह बात झूट है, क्योंकि वह अमृतसर की मशहूर तवाइफ़ मुख़्तार पर आशिक़ हैं। वही मुख़्तार जिसने "औरत का प्यार" फ़िल्म में हीरोइन का पार्ट अदा किया है।

मुख़्तार को मैंने देखा हुआ था। हाल बाज़ार में अनवर पेन्टर की दुकान पर बैठकर हम

क़रीब-क़रीब हर जुमेरात की शाम को मुख़्तार उर्फ़ दारी को नए से नए फ़ैशन के कपड़ों में मलबूस दूसरी तवाइफ़ों के हमराह ज़ाहिरा पीर की दरगाह की तरफ़ जाते देखा करते थे।

आग़ा साहब शक्लों-सूरत के कैसे थे, यह मुझे मालूम नहीं था। कुछ छपी हुई तस्वीरें देखने में आई थीं, मगर उनकी छपाई इस क़द्र वाहियात थीं कि सूरत पहचानी ही नहीं जाती थी। उम्र के मुताल्लिक़ सिर्फ़ इतना मालूम था कि वह अब ज़ईफ़ हो चुके हैं—उस ज़माने में यानि उम्र के आख़िरी वक़्त में उनको मुख़्तार से कैसे इश्क़ हुआ, इस पर हम सबको, जो दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की बैठक में जुआ खेल रहे थे, सख़्त ताज्जुब हुआ था—मुझे याद है, नाल के पैसे निकालते हुए दीनू या फ़ज़लू कुम्हार ने गर्दन हिलाकर बड़े फ़लसफ़ियाना अंदाज़ में कहा था : "बुढ़ापे का इश्क़ बड़ा क़ातिल होता है।"

एक बार आग़ा साहब का जिक्र बैठक पर हुआ तो फिर क़रीब-क़रीब हर रोज़ उन की बातें होने लगीं। हम में से सिर्फ़ दारोग़ा इब्राहीम, आग़ा साहब को ज़ाती तौर पर जानता था। एक रोज़ उसने कहा : "कल रात हम मुख़्तार के कोठे पर थे··· आग़ा साहब गाव तकिए का सहारा लिए बैठे थे। हम में से बारी-बारी हर एक ने उनसे पुरज़ोर दर्ख़्वास्त की कि वह अपने नए फ़िल्मी ड्रामे 'रुस्तमो-सोहराब' का कोई क़िस्सा सुनाएँ, मगर उन्होंने इन्कार कर दिया। हम मब मायूस हो गए। एक ने मुख़्तार की तरफ़ इशारा किया। वह आग़ा साहब की बग़ल में बैठ गई और उनसे कहने लगी : "आग़ा साहब, हमारा हुक्म है कि आप रुस्तमो-सोहराब सुनाएँ"··· आग़ा साहब मुस्कराए और बैठकर रुस्तम का पुर-ज़ोर मुकालमा अदा करना शुरू कर दिया। अल्लाह-अल्लाह, क्या गर्जदार आवाज़ थी। मालूम होता था कि पानी का तेज़ धारा पहाड़ के पत्थरों को बहाए लिए चला जा रहा है।"

एक दिन इब्राहीम ने बताया कि आग़ा साहब ने पीना यकक़लम तर्क कर दिया है। जो आग़ा साहब के मुताल्लिक़ ज़्यादा जानते थे, उनको बहुत ताज्जुब हुआ। इब्राहीम ने कहा कि यह फ़ैसला उन्होंने हाल ही में मुख़्तार से इश्क़ होने की वजह से किया है—यह इश्क़ भी क्या बला थी, हम समझ न सके। लेकिन दीनू या फ़ज़लू ने नाल के कुल पैसे अपने तहमद के डब में बाँधते हुए एकबार फिर कहा : "बुढ़ापे के इश्क़ से ख़ुदा बचाए··· बड़ी ज़ालिम चीज़ होती है।"

जुए से मेरी तबीयत उकता ही चुकी थी। मैंने बैठक जाना आहिस्ता-आहिस्ता छोड़ दिया। इस दौरान में मेरी मुलाक़ात बारी साहब और हाजी लक़लक़ से हुई जो रोज़नामा "मसावात" के एडिटर मुक़र्रर होकर अमृतसर आए हुए थे। जीजे के होटल "शीराज़" में दोनों चाय पीने आते थे और अदब और सियासत पर बातें करते थे। उनसे मेरी मुलाक़ात हुई। बारी साहब को मैंने बहुत पसंद किया। इसी दौरान में जीजे ने अख़्तर शीरानी मर्हूम को मदऊ किया। दिन-रात ठर्रे के दौर चलने लगे। शेरो-अदब से मेरी दिलचस्पी बढ़ने लगी। जो वक़्त पहले फ़्लश खेलने में कटता था, अब "मसावात" के दफ़्तर में कटने लगा। कभी-कभी बारी साहब एक-आध ख़बर तर्जुमे के लिए मुझे दे देते, जो मैं टूटी-फूटी उर्दू में कर दिया करता था। आहिस्ता-आहिस्ता मैंने फ़िल्मी ख़बरों का एक कालम संभाल लिया। बाज़ दोस्तों ने कहा कि महज़ ख़ुराफ़ात होती है, लेकिन बारी साहब ने

कहा : "बकवास करते हैं। तुम अब तबाज़ाद मज़्मून लिखने शुरू करो।"

तबाज़ाद मज़्मून तो मुझसे लिखे न गए, लेकिन फ़्रांसीसी नाविल-निगार विक्टर ह्यूगो की एक किताब "लास्ट डेज़ आफ़ द कंडेम्ड" मेरी अलमारी में पड़ी थी जो बारी साहब उठाकर ले गए। दूसरे रोज़ दोपहर के क़रीब मैं "मसावात" के दफ़्तर में गया तो कातिबों से मालूम हुआ कि बारी साहब को सरसाम हो गया है, एक किताब सुबह से बुलंद आवाज़ में पढ़ रहे हैं, थोड़े-थोड़े वक़्फ़े के बाद यहाँ आते हैं और एक लोटा ठंडे पानी का सर पर उलवाकर अपने कमरे में चले जाते हैं—मैं उधर गया तो दरवाज़े बंद थे और वह ख़तीबाना अंदाज़ में अंग्रेज़ी की कोई किताब निहायत ही ज़ोरदार इबारत पढ़ रहे थे। मैंने दस्तक दी। दरवाज़ा खुला। बारी साहब कुर्ते पाजामे बग़ैर बाहर आए। हाथ में विक्टर ह्यूगो की किताब थी। उसे मेरी तरफ़ बढ़ाकर अंग्रेजी में कहा : "इट इज़ ए वेरी होट बुक।" और जब किताब पढ़ने की गर्मी दूर हुई तो मुझे मश्वरा दिया कि मैं उसका तर्जुमा करूँ।

मैंने किताब पढ़ी। लिखने का अंदाज़ बहुत ही मुअस्सिर और ख़तीबाना था। शराब पीकर तर्जुमा करने की कोशिश की, मगर नज़रों के सामने सतरें गडमड हो गईं। सहन में पलँग बिछवाकर हुक़्क़े की नै मुँह में लेकर अपनी बहन को तर्जुमा लिखवाने की कोशिश की, मगर उसमें भी नाकाम रहा। आख़िर में अकेले बैठकर दस पंद्रह दिनों के अंदर-अंदर डिक्शनरी सामने रखकर सारी किताब का तर्जुमा कर डाला। बारी साहब ने बहुत पसंद किया। उसकी इस्लाह की और याक़ूब हसन, मालिक "उर्दू बुक स्टाल" के पास तीस रुपए में बिकवा दिया। याक़ूब हसन ने उसे बहुत ही कलील अर्से में छाप कर शाया कर दिया—अब मैं साहिबे-किताब था।

"मसावात" बंद हो गया। बारी साहब लाहौर किसी अख़बार में चले गए। जीजे का होटल सूना हो गया। मेरे लिए कोई शग़ल न रहा। लिखने की चाट पड़ गई थी, लेकिन चूँकि दोस्तों से दाद न मिलती थी, इसलिए उधर कोई तवज्जे न दी। अब फिर दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की बैठक थी। जुआ खेलता था, मगर उसमें अब वह पहला-सा लुत्फ़ और पहली-सी हरारत नहीं थी।

एक दिन दारोग़ा इब्राहीम ने फ़्लश खेलने के दौरान में बताया कि आग़ा हश्र आए हुए हैं और मुख़्तार के यहाँ ठहरे हुए हैं। मैंने उससे कहा : "किसी रोज़ मुझे वहाँ ले चलो।" इब्राहीम ने वादा तो कर लिया मगर पूरा न किया। जब मैंने तक़ाज़ा किया तो उसने यह कहकर टरखा दिया : "आग़ा साहब लाहौर चले गए हैं।"

मेरा एक दोस्त था हरि सिंह। अल्लाह बख़्शे, ख़ूब आदमी था। पाँच मकान बेचकर दो मर्तबा सारे यूरोप की सैर कर चुका था और उन दिनों छटे और आख़िरी मकान को आहिस्ता-आहिस्ता बड़े सलीक़े के साथ खा रहा था। फ़्रांस में सिर्फ़ छः महीने रहा था, लेकिन फ़्रांसिसी-ज़बान बड़ी बेतकल्लुफ़ी से बोल लेता था। बहुत ही दुबला-पतला मरियल-सा इन्सान था, मगर बला का फुर्तीला। चर्ब ज़बान और घाँसू, यानि बर्मे की तरह अंदर धँस जाने वाला। एक रोज़ मैंने उससे आग़ा हश्र का ज़िक्र किया। उसने फ़ौरन ही पूछा : "क्या तुम उससे मिलना चाहते हो?"

मैंने कहा : "बहुत देर से मेरी ख्वाहिश है कि उनको एक नज़र देखूँ।"

हरि सिंह ने फ़ौरन ही कहा : "इसमें क्या मुश्किल है। जब से वह यहाँ अमृतसर में पंडित मोहसिन के हाँ ठहरा हुआ है, क़रीब क़रीब हर रोज़ मेरी उससे मुलाक़ात होती है।"

मैं उछल पड़ा : "तो हरि, कल शाम को तुम मुझे उनके पास ले चलो।"

हरि ने अपना व्हिस्की का गिलास अपने पतले होंटों से लगाया और बड़ी नज़ाक़त से एक छोटा-सा घूँट भरके फ्रांसिसी ज़बान में कुछ कहा जिसका मतलब था : यक़ीनन मेरे दोस्त।

और हरिसिंह दूसरे रोज़ शाम को मुझे आगा हश्र काश्मीरी के पास ले गया।

पंडित मोहसिन जैसा कि नाम से जाहिर है, कश्मीरी पंडित थे। नाम उनका जाने क्या था, पर "मोहसिन" उनका तख़ल्लुस था। मुशायरों में पुरानी दकियानूसी शाइरी के नमूने के तौर पर पेश होते थे। आपका कारोबारी ताल्लुक़ कटड़ा घनैयाँ के अमृत सिनेमा से था।

आग़ा साहब से पंडित जी की दोस्ती, मालूम नहीं, शाइरी की वजह से थी, या सिनेमा की वजह से, या कटड़ा घनैयाँ इसका बाइस था, जिसमें अमृत सिनेमा और मुख़्तार का बालाख़ाना बिल्कुल आमने-सामने थे। सबब कुछ भी हो, आगा साहब पंडित मोहसिन के हाँ ठहरे हुए थे और जैसा कि मुझे उनकी बाहम गुफ्तुगू से पता चला, दोनों एक दूसरे से बेतकल्लुफ़ थे।

पंडित मोहसिन की बैठक या दफ्तर कटड़ा घनैयाँ के पास पश्म वाले बाज़ार से निकलकर आगे जहाँ सब्ज़ी की दुकानें शुरू होती हैं, एक बड़ी-सी डयोढ़ी के ऊपर वाक़े था। हरिसिंह आगे था, मैं उसके पीछे। सीढ़ियाँ चढ़ने वक़्त मेरा दिल धक-धक करने लगा। मैं आग़ा हश्र को देखने वाला था।

बाहर सहन में कुर्सियों पर कुछ आदमी बैठे थे। एक कोने में तख़्त पर पंडित मोहसिन बैठे गुड़गुड़ी पी रहे थे। सबसे पहले एक अजीबो-गरीब आदमी मेरी निगाहों से टकराया। चीख़ते हुए लाल रंग की चमकदार साटन का लाचा, दो घोड़े की बोसकी की कालर वाली सफ़ेद कमीस, कमर पर गेहरे नीले रंग का फुन्दनों वाला आज़ार बंद, बड़ी-बड़ी बेहंगम आँखें—मैंने सोचा, कटड़ा घनैयाँ का कोई पी होगा, लेकिन फ़ौरन ही किसी ने उसको "आग़ा साहब" कहकर मुख़ातिब किया—मुझे धक्का-सा लगा।

हरिसिंह ने बढ़कर उस अजीबो-ग़रीब आदमी से मुसाफ़ह किया और मेरी तरफ़ इशारा करके उससे कहा : "मेरे दोस्त सआदत हसन मंटो... आपसे मिलने के बहुत मुश्ताक़ थे।"

आग़ा साहब ने अपनी बड़ी-बड़ी बेहंगम आँखें मेरी तरफ़ घुमाईं और मुस्कराकर कहा : "लार्ड मिंटो से क्या रिश्ता है तुम्हारा?"

मैं तो जवाब न दे सका, लेकिन हरिसिंह ने कहा : "आप मिंटो नहीं, मंटो हैं... कश्मीरी।"

आग़ा साहब ने एक लंबी "ओह" की और पंडित मोहसिन से कश्मीरियों की "अल" के मुताल्लिक़ तवील गुफ़्तुगू शुरू कर दी। मैं पास ही बैंच पर बैठ गया। पंडित जी को क़त्अन

आग़ा साहब की उस गुफ़्तगू से दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि वह बार-बार उनसे कहते थे : "आग़ा साहब, इसको छोड़िए। यह बताइए कि आप कब मेरे लिए दो रील का मज़ाहिया ड्रामा लिखेंगे।"

आग़ा साहब को उस मज़ाहिया ड्रामे से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह गुफ़्तगू तो कश्मीरियों की "अल" के बारे में कर रहे थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि उनका दिमाग कुछ और ही सोच रहा है। एक दो बार उन्होंने दौराने-गुफ़्तगू में अपने नौकर को मोटी-मोटी गालियाँ देकर याद किया कि वह अभी तक आया क्यों नहीं।

आग़ा साहब जब ख़ामोश हुए तो पंडित मोहसिन ने उनसे कहा : "आग़ा साहब, इस वक़्त आपकी तबीयत मोज़ूँ है। मैं कागज़ क़लम लाता हूँ, आप वह कमेडी लिखवाना शुरू कर दीजिए।"

आग़ा साहब की एक आँख भेंगी थी। आपने उसे घुमाकर कुछ अजीब अंदाज़ से पंडित जी की तरफ़ देखा : अबे चुप कर। आग़ा हश्र की तबीयत हर वक़्त मोज़ूँ होती है।"

पंडित जी ख़ामोश हो गए। और अपनी गुड़गुड़ी गुड़गुड़ाने लगे। दफ़अतन मुझे महसूस हुआ कि मेरा सर चक्रा रहा है। तेज़ ख़ुशबू के भबके आ रहे थे। मैंने देखा आग़ा साहब के दोनों कानों में इत्र के फोए ठुँसे हुए थे और ग़ालिबन सर भी इत्तर ही से चिपड़ा हुआ था। मैं कुछ तो उस तेज़ ख़ुशबू और कुछ आग़ा साहब के लाचे और आज़ारबंद के शोख़ रंगों में क़रीब-क़रीब ग़र्क़ हो चुका था।

बाजार में दफ़अतन शोरो-गुल बर्पा हुआ। एक साहब ने उठकर बाहर झाँका और आग़ा साहब से कहा : "आग़ा साहब, तशरीफ़ लाइए, मेहंदी का जुलूस आ रहा है।"

आग़ा साहब ने कहा : "बकवास है।" और हादिसाए-करबला पर निहायत ही मुहक़्क़िक़ाना लेक्चर देना शुरू कर दिया। ऐसे-ऐसे नुक़्ते निकाले कि सब दंग रह गए। आख़िर में बड़े ड्रामाई अंदाज़ में कहा : "दजले का मुँह बंद था। फ़रात ख़ुश्क पड़ी थी। पीने को पानी की एक बूंद नहीं थी। मेहंदी गूँधी किससे गई.." आग़ा हश्र इससे आगे कहते-कहते रुक गए। एक साहब, जो ग़ालिबन शिया थे, महफ़िल से उठकर चले गए। आग़ा साहब ने मोज़ू बदल दिया।

पंडित मोहसिन को मौक़ा मिला। चुनाँचे उन्होंने फिर दर्ख़्वास्त की : आग़ा साहब, दो रील की कामेडी आपको लिखनी होगी।"

आग़ा साहब ने यह मोटी गाली दी : "कामेडी की.. यहाँ ट्रेजिडी की बातें हो रही थीं और तुम अपनी कामेडी ले आए हो।" यह कहकर आग़ा साहब ने हादिसाए-करबला के बारे में फिर आलिमाना अंदाज़ में बहस शुरू कर दी, क्योंकि वह जी भर के उस मौज़ू पर अपनी मालूमात और ख़यालात का इज़हार नहीं कर सके थे। मगर फ़ौरन जाने क्या जी में आई कि एकदम अपने नौकर को गालियाँ देनी शुरू कर दीं कि वह अभी तक आया क्यों नहीं। चुनाँचे वह सिलसिला मुन्क़ते हो गया।

थोड़ी देर के बाद इधर-उधर की बातें शुरू हुईं। किसी ने आग़ा साहब से मौलाना अबुलकलाम के तर्जे-इल्म के बारे में पूछा तो आप ने उसका जवाब कुछ यूँ दिया :

"महिउद्दीन के मुताल्लिक़ पूछते हो⋯ हम दोनों इकट्ठे अमरीकी और ईसाई मुबल्लिगों से मुनाज़रे लड़ते रहे हैं। घंटो अपना गला फाड़ते थे। अजीब दिन थे वह भी।"

यह कहकर आग़ा साहब लाचे और आज़ारबंद के भड़कीले रंगों और कानों में उड़से हुए फोए और सर में चुपड़े हुए इत्र की तेज़ ख़ुशबू समेत बीते हुए दिनों की याद में कुछ अर्से के लिए खो गए। आपने मोटी-मोटी आँखें बंद कर लीं। जो हैयत आपने बना रखी थी, उससे गो आप रंडियों के पीर दिखाई देते थे, लेकिन उनका चेहरा बहुत ही बारौब था। आँखें बंद थीं। झुके हुए पपोटों की झुर्रियों वाली पतली जिल्द के नीचे मोटी-मोटी काँच की गोलियां-सी होले-होले हरकत कर रही थीं। उन्होंने जब आँखें खोलीं तो मैंने सोचा: कितने बरसों का नशा इनमें मुन्जमिद है, किस क़द्र सुर्ख़ी इनके डोरों में जज़्ब हो चुकी है।

आग़ा साहब ने फिर कहा: "अजीब दिन थे वह⋯ आज़ाद ढील के पेच लड़ाने का आदी था। मुझे आता था मज़ा खींच के पेच लड़ाने में। एक हाथ मारा। और पटिया काट लिया। हरीफ़ मुँह देखते रह गए⋯ एक दफ़ा आज़ाद बहुत बुरी तरह घिर गया। मुक़ाबला चार निहायत ही हट धर्म ईसाई मिशनरियों से था। मैं पहुँचा तो आज़ाद की जान में जान आई। उसने उन मिशनरियों को मेरे हवाले किया। मैंने दो तीन ऐसे अड़ंगे दिए कि वह बौखला गए। मैदान हमारे हाथ रहा। लेकिन मेरा हलक़ सूख गया। क़यामत की गर्मी थी। मस्जिद दोज़ख़ बनी हुई थी। मैंने आज़ाद से कहा: वह बोतल कहाँ है? उसने जवाब दिया: मेरी जेब में। मैंने कहा: ख़ुदा के लिए चलो। मेरा हलक़ सूख के लकडी हो गया है। दूर जाने की ताब नहीं थी। वहीं मस्जिद में एक ग़ुस्लख़ाने के अंदर झक मारनी पड़ी।

इतने में आग़ा साहब का नौकर आ गया। आग़ा साहब ने अपने मख़सूस अंदाज़ में उसे गालियाँ दीं और वजह पूछी कि उसने इतनी देर क्यों की। नौकर ने, जो गालियों का आदी मालूम होता था, कागज़ का एक बंडल निकाला और खोलकर आगे बढ़ाया: "ऐसी चीज़ लाया हूँ कि आपकी तबीयत ख़ुश हो जाए।"

आग़ा साहब ने खुला हुआ बंडल हाथ में लिया। शोख़ रंग के चार अज़ारबंद थे। आग़ा साहब ने एक नज़र उनको देखा और आँखों को बहुत ही ख़ौफ़नाक अंदाज़ में ऊपर उठाकर अपने नौकर पर गर्जे: "यह चीज़ लाया है तू⋯ ऐसे वाहियात अज़ारबंद तो इस शहर के कुँजड़े भी नहीं पहनते।" यह कहकर उन्होंने बंडल फर्श पर दे मारा—कुछ देर नौकर पर बरसे, फिर जेब में से ग़ालिबन दो तीन हज़ार रुपए के नोट निकाले और उसे हुक्म दिया: "जाओ, पान लाओ।"

पंडित मोहसिन ने गुड़गुड़ी एक तरफ़ रखी और कहा: नहीं नहीं आग़ा साहब, मैं मँगवाता हूँ।"

आग़ा साहब ने सब नोट तमाश बीनों के अंदाज़ में अपनी जेब में रखे और कहा: "जाओ, तुम्हारे पास कुछ बाक़ी बचा हुआ है।"

नौकर जाने लगा तो उन्होंने उसे रोका: "ठहरो⋯ वहाँ से पता भी लेते आओ कि वह अभी तक क्यों नहीं आई।"

नौकर चला गया। थोड़ी देर के बाद सीढ़ियों की जानिब से हल्की-सी महक आई।

फिर रेशमी सरसराहटें सुनाई दीं—आग़ा साहब का चेहरा बश्शाश हो गया। मुख़्तार, जो हरगिज़-हरगिज़ हसीन नहीं थी, ख़ुशवज़ा कपड़ों में मलबूस सहन में दाख़िल हुई। आग़ा साहब और हाज़िरीन को तस्लीमात अर्ज़ की और अंदर कमरे में चली गई। आग़ा साहब की आँखें उसको वहाँ तक छोड़ने गईं।

इतने में पान आ गए, जो अख़बार के काग़ज़ में लिपटे हुए थे। नौकर अंदर चला तो आग़ा साहब ने कहा: "कागज फेंकना नहीं, संभाल के रखना।"

मैंने एकदम हैरत से पूछा: "आप इस काग़ज़ को क्या करेंगे आग़ा साहब?"

आगा साहब ने जवाब दिया: "पढ़ूँगा। छपे हुए काग़ज का कोई भी टुकड़ा जो मुझे मिला है, मैंने ज़रूर पढ़ा है।" यह कहकर वह उठे: "माफ़ी चाहता हूँ। अंदर एक माशूक़ मेरा इंतिज़ार कर रहा है।"

पंडित मोहमिन ने गुड़गुड़ी उठाई और उसे गुड़गुड़ाने लगे—मैं और हरिसिंह थोड़ी देर के बाद वहाँ से चल दिए।

मैं कई दिनों तक उस मुलाक़ात पर ग़ौर करता रहा। आग़ा साहब अजीबो-ग़रीब हज़ार पहलू शख़्सीयत के मालिक थे। मैंने उनके चंद ड्रामे पढ़े, जो अग़लात से पुर थे और निहायत ही अदना काग़ज़ पर छपे हुए थे। जहाँ-जहाँ कामेडी आती थी, वहाँ फक्कड़पन मिलता था। ड्रामाई मक़ामों पर मुकालमा बहुत ही ज़ोरदार था। बाज़ अशार सूफ़ियाना थे, बाज़ निहायत ही लतीफ़। सबसे पुरलुत्फ़ बात यह है कि उन ड्रामों का मौज़ू तवाइफ़ था, जिनमें आग़ा साहब ने उसके वुजूद को सोसाइटी के हक़ में ज़हर साबित किया था—और आग़ा साहब उम्र के उस आख़िरी हिस्से में शराब छोड़कर एक तवाइफ़ से बहुत पुरजोश क़िस्म का इश्क़ फ़र्मा रहे थे।

पंडित मोहमिन से एक दफ़ा मुलाक़ात हुई तो उन्होंने कहा: "इश्क़ के मुताल्लिक़ तो मैं नहीं जानता, लेकिन तर्के-शराब नोशी बहुत जल्द उनको ले मरेगी।"

आगा माहब तो कुछ देर ज़िंदा रहे, लेकिन पंडित मोहसिन यह फ़र्माने के तक़रीबन एक माह बाद इस दुनिया से चल बसे।

मैंने अब मुख़्तलिफ़ अख़बारों में लिखना शुरू कर दिया था। चंद महीने गुज़र गए। लोगों से मालूम हुआ कि आगा हश्र लाहौर में "रुस्तमो-सोहराब" नाम का एक फ़िल्म बना रहे हैं, जिसकी तैयारी पर रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है। उस फ़िल्म की हीरोइन, जैमा कि ज़ाहिर है, मुख़्तार थी।

अमृतसर से लाहौर सिर्फ़ एक घंटे का सफ़र है। आग़ा माहब से फिर मिलने को जी तो बहुत चाहता था, मगर ख़ुदा मालूम ऐसी कौन-सी रुकावट थी कि लाहौर जाना ही न हो सका।

बहुत दिनों के बाद बारी साहब ने बुलाया तो मैं लाहौर गया। वहाँ पहुँचकर कुछ ऐसा मश्ग़ूल हुआ कि आगा साहब को भूल ही गया। शाम के क़रीब हमने सोचा कि चलो उर्दू बुक स्टाल चलें। चुनांचे मैं और बारी माहब दोनों अरब होटल से चाय पीकर उधर रवाना हुए। उर्दू बुक स्टाल पहुँचे तो मैंने देखा कि आग़ा साहब याक़ूब के मेज़ के पास कुर्सी पर बैठे

हैं। मैंने बारी साहब को बताया कि आग़ा हश्र हैं। उन्होंने ग़ौर से उनकी तरफ़ देखा : "यह हैं आग़ा हश्र।?"

आग़ा साहब का लिबास उसी क़िस्म का था। सफ़ेद बोस्की की क़मीस, गहरे नीले रंग का रेशमीं लाचा। सर से नंगे बैठे एक किताब की वर्क़ गर्दानी कर रहे थे। पास पहुँचा तो एकदम मेरा दिल धड़कने लगा, क्योंकि आग़ा साहब के हाथ में मेरी तर्जुमा की हुई किताब "सरगुज़श्ते-असीर" थी।

याक़ूब ने उठकर मेरा और बारी साहब का आग़ा हश्र से तारुफ़ कराया और कहा : "यह किताब जो आप देख रहे हैं, मिस्टर मंटो की तर्जुमा की हुई है।" आग़ा साहब ने अपनी मोटी-मोटी आँखों से मुझे देखा। मेरा ख़याल था कि वह मुझे पहचान लेंगे, लेकिन उन्होंने मुझे देखने के बाद किताब के चंद औराक़ पलटे और कहा : "कैसा लिखने वाला है विक्टर ह्यूगो?"

बारी साहब ने जवाब दिया · "फ्रांसीसी अदब में विक्टर ह्यूगो का रुत्बा बहुत बुलंद है।"

आग़ा साहब वर्क़ पलटते रहे : "ड्रामाटिस्ट था?"

अब की फिर बारी साहब ने जवाब दिया : "ड्रामाटिस्ट भी था।"

आग़ा साहब ने पूछा : "क्या मतलब?"

बारी साहब ने उन्हें बताया कि ह्यूगो असल में शाइर था। फ्रांस की रूमानी तहरीक का इमाम। उसने ड्रामे और नाविल भी लिखे। एक नाविल "मुसीबतज़दा" इतना मशहूर हुआ कि उसकी शाइरी को लोग भूल गए और उसे नाविलिस्ट की हैसियत से जानने लगे।

आग़ा साहब यह मालूमात बड़ी दिलचस्पी से सुनते रहे। आख़िर में उन्होंने याक़ूब से कहा कि "सरगुज़श्ते-असीर" भी उन किताबों में शामिल कर ली जाए, जो वह ख़रीद रहे थे—मैं बहुत ख़ुश हुआ।

इसके बाद वह बारी साहब से बातें करते-करते उठे और अंदर शोरूम में चले गए। बारी साहब की गुफ़्तगू से आग़ा साहब मुतास्सिर हुए थे। चुनांचे उन्होंने बारी साहब की सिफ़ारिश पर कई किताबें ख़रीदीं। इस दौरान में बारी साहब ने उनसे कहा : "आग़ा साहब, आप हिंदुस्तानी ड्रामे की तारीख़ क्यों नहीं लिखते? ऐसी किताब की अशद ज़रूरत हैं।"

आग़ा साहब ने जवाब दिया : "ऐसी किताब सिर्फ़ आग़ा हश्र ही लिख सकता है। उसका इरादा भी था, मगर वह कमबख़्त आजकल क़ब्र में पाँव लटकाए बैठा है···उसके दरवाज़े पर मौत दस्तक दे रही है।"

मैंने उनसे पूछा : "आग़ा साहब, आपके ड्रामे जो बाज़ार में बिकते हैं···"

मैंने अभी जुमला पूरा भी न किया था कि आग़ा साहब ने बुलंद आवाज़ में कहा : "लाहोलवला··· आग़ा हश्र के ड्रामे और चीथड़ों पर छपें··· बग़ैर इजाज़त के इधर-उधर से सुन-सुनाकर छाप देते हैं।" इसके बाद उन्होंने बहुत ही मोटी गाली उन पब्लिशरों को दी, जिन्होंने उनके ड्रामे छापे थे।

मैंने उनसे कहा : "आप उन पर दावा दाइर क्यों नहीं करते ?"

आग़ा साहब हँसे : "क्या वुसूल कर लूँगा इन टटपूँजियों से ।"

बात दुरुस्त थी । मैं ख़ामोश हो गया ।

आग़ा साहब ने बाहर आकर याकूब से बिल तलब किया और जेब से तमाशबीनों के अंदाज़ में तीन चार हज़ार रुपए के बिलकुल नए नोट निकाले। उन दिनों दस-दस और पाँच-पाँच के नए नोट निकले थे, जो पहले नोटों की बनिस्बत छोटे थे—आग़ा साहब ने बताया कि चैक कैश कराने के लिए जब वह बैंक गए तो वक़्त हो चुका था । आपने क्लर्क से कहा : "आग़ा हश्र का वक़्त अभी पूरा नहीं हुआ । जल्दी चैक कैश करो ।"

क्लर्क को जब मालूम हुआ कि आग़ा हश्र हैं तो वह भागता हुआ मैनेजर के पास गया । फ़ौरन ही मैनेजर दौड़ा-दौड़ा उनके पास आया और अपने कमरे में ले गया । नए नोट मँगवा कर उसने बड़े अदब से आग़ा साहब को पेश किए और कहा : "मैं आपकी और कोई सेवा तो नहीं कर सकता । यह नए नोट आए हैं । सबसे पहले आपकी ख़िदमत में पेश करता हूँ ।"

बारी साहब ने एक नोट आग़ा साहब से लिया और उसको उँगलियों में पकड़कर कहा : "आग़ा साहब, गिरफ़्त कुछ कम हो गई है, ठीक उसी तरह, जिस तरह हुकूमत की ।"

आग़ा साहब ने उस फ़िक़्रे की बहुत दाद दी : "ख़ूब, बहुत ख़ूब गिरफ़्त कुछ कम हो गई है, ठीक उसी तरह, जिस तरह हुकूमत की मैं किसी न किसी ड्रामे में इसे ज़रूर इस्तेमाल करूँगा ।"

बारी साहब बहुत ख़ुश हुए । इतने में वह नौकर आया, वही जो पंडित मोहसिन के दफ़्तर में अज़ार बंद लाया था । उसके हाथों में चार कंधारी अनार थे । आग़ा साहब ने एक अनार लिया और नाक-भों चढ़ाकर गाली दी : "निहायत ही वाहियात अनार हैं ।"

नौकर ने पूछा : "वापस कर आऊँ ?"

आग़ा साहब बोले : "नहीं बे। तू खाले।" उसके बाद उन्होंने एक वज़नदार गाली लुढ़का दी ।

आग़ा साहब जाने लगे तो मैंने आटोग्राफ़ बुक निकालकर उनके दस्तख़त लिए ।

आग़ा साहब जब काँपते हुए हाथ से अपना नाम लिख चुके तो कहा : "एक ज़माने के बाद मैंने यह चंद हर्फ़ लिखे हैं ।"

मैं अमृतसर चला आया । कुछ अर्से के बाद यह ख़बर आई कि लाहौर में मुख़्तसर अलालत के बाद आग़ा हश्र काश्मीरी का इंतिक़ाल हो गया है । जनाज़े के साथ गिनती के चंद आदमी थे ।

दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की बैठक पर जब आग़ा साहब की मौत का ज़िक्र हुआ तो उसने नाल के पैसे निकालकर अपनी जालीदार टोपी में रखते हुए बड़े ही फ़लसफ़ियाना अंदाज़ में कहा : "बुढ़ापे का इश्क़ बहुत ज़ालिम होता है ।"

अख़्तर शीरानी से चंद मलाक़ातें

ख़ुदा मालूम कितने बरस गुजर चुके हैं। हाफ़िज़ा इस क़द्र कमज़ोर है कि नाम, सन और तारीख़ कभी याद ही नहीं रहते—अमृतसर में ग़ाज़ी अब्दुर्रहमान साहब ने एक रोज़ाना पर्चा "मसावात" जारी किया। उसकी इदारत के लिए बारी अलीग मर्हूम और अबुलआला चिश्तीउसहाफ़ी हाजी लक़लक़ बुलाए गए—उन दिनों मेरी आवारागर्दी मैराज पर थी। बेमकसद सारा दिन घूमता रहता था। दिमाग़ बेहद मुंतशिर था। उस वक़्त तो मैंने महसूस नहीं किया था लेकिन बाद में मालूम हुआ कि यह दिमाग़ी इंतिशार मेरे लिए कोई रास्ता तलाश करने के लिए बेताब था।

जीजे के होटल "शीराज़" में क़रीब-क़रीब हर रोज़ गपबाज़ी की महफ़िल जमती थी। बाला, अनवर पेंटर, आशिक़ फ़ोटोग्राफ़र, फक़ीर हुसैन सलीस और एक साहब, जिनका नाम मैं भूल गया हूँ, बाक़ाइदगी के साथ इस महफ़िल में शरीक होते थे। हर क़िस्म के मौज़ू ज़ेरे-बहस लाए जाते थे। बाला बड़ा ख़ुश-गो और बज़्लासंज नौजवान था। अगर वह ग़ैरहाज़िर होता तो महफ़िल सूनी रहती। शेर भी कहता था। उसका एक शेर अभी तक मुझे याद है:

> अश्क मिज्गाँ पे है अटक-सा गया।
> नोक-सी चुभ गई है छाले में

जीजे से लेकर अनवर पेंटर तक सब मौसीक़ी और शाइरी से शग़फ़ रखते थे। वह साहब, जिनका नाम मैं भूल गया था, कैप्टिन वहीद थे। नीली-नीली आँखों वाले, लंबे-तडंगे, मज़बूत जिस्म। आपका महबूब मशग़ला गोरों से लड़ना था। चुनांचे कई गोरे उनके हाथों पिट चुके थे। अंग्रेज़ी बहुत अच्छी बोलते थे और तबला माहिर तबलचियों की तरह बजाते थे।

उन दिनों जीजे के होटल में एक शाइर अख़्तर शीरानी का बहुत चर्चा था। करीब-क़रीब हर महफ़िल में उसके अशआर पढ़े या गाए जाते थे। जीजा[1] आमतौर पर "मैं अपने इश्क़ में सबकुछ तबाह कर लूँगा[2]" गाया करता था। यह नए क़िस्म का जज़्बा

1 असली नाम—अजीज। 2 बहुत मुम्किन है कि यह मिसरा गलत हो।

सबके ज़ेह्न पर मुसल्लत हो गया था। माशूक़ को जो धमकी दी गई थी, सबको बहुत पसंद आई थी।

जीजा तो अख़्तर शीरानी का दीवाना था। काउंटर के पास खड़ा गाहक से बिल वुसूल कर रहा है और गुनगुना रहा है : "ऐ इश्क़ कहीं ले चल।" मुसाफ़िरों को कमरे दिखा रहा है और ज़ेरे-लब गा रहा है : "क्या बिगड़ जाएगा, रह जाओ यहीं रात की रात।"

आशिक़ फ़ोटोग्राफ़र की आवाज़ गो बहुत पतली थी, लेकिन वह "ऐ इश्क़ कहीं ले चल" बड़े सोज़ से गाया करता था। मैंने जब भी उसके मुँह से यह नज़्म सुनी, मुझ पर बहुत असर हुआ। उस ज़माने में चूँकि तबीयत में इंतिशार था, इसलिए यह नज़्म मुझे अपने कंधों पर उठाकर दूर, बहुत दूर अनदेखे जज़ीरों में ले जाती थी।

इतना ज़माना बीत चुका है मगर वह कैफ़ियत, जो उस वक़्त मुझ पर तारी होती थी, मैं अब भी महसूस कर सकता हूँ—अजीबो-ग़रीब कैफ़ियत थी। जीजे के होटल के बहुत अंदर अँधेरी मगर ठंडी कोठरी में बैठा मैं यूँ महसूस करता : कश्ती में बैठा हूँ। परियाँ उसे खे रही हैं। नाज़ुक-नाज़ुक परोंवाली परियाँ। रात का वक़्त है, इसलिए मुझे उन परियों का सिर्फ़ साया-सा नज़र आता है। समंदर पुर-सुकून है। कश्ती हिलकोरे खाए बग़ैर चल रही है, किसी नामालूम मंज़िल की तरफ़। पापों की बस्ती बहुत पीछे रह गई है। हम दीनवी शोरो-ग़ुल से हज़ारों मील आगे बढ़ गए हैं।

जीजे के होटल में कुछ अर्से के बाद बारी साहब और चिश्ती साहब का आना-जाना भी शुरू हो गया। दोनों खाना खाते या चाय पीते और चले जाते। मगर जब जीजे को मालूम हुआ कि वह अख़बारी आदमी हैं तो फ़ौरन उनसे बेतकल्लुफ़ मरासिम पैदा कर लिए। बारी साहब अख़्तर शीरानी के कलाम से वाक़िफ़ थे लेकिन ज़ाती तौर पर शाइर को न जानते थे। चिश्ती साहब एक मुद्दत के बाद बग़दाद और मिस्र वग़ैरा की सैयाहत के बाद ताज़ा-ताज़ा वापस आए थे, इसलिए वह यहाँ के शोरा के मुताल्लिक़ कुछ नहीं जानते थे। फिर भी जब उन्होंने जीजे से अख़्तर शीरानी का कलाम सुना तो बहुत मुतास्सिर हुए।

इस दौरान में बारी साहब के साथ मैं घुलमिल गया। उनकी संजीदगी और मतानत भरी ज़राफ़त मुझे बहुत पसंद आई। मेरे ज़ेह्नी इंतिशार को भाँपकर उन्होंने मुझे महाफ़त की तरफ़ माइल किया और आहिस्ता-आहिस्ता अदब से रूशनास कराया—पहले मैं तीर्थराम फ़िरोज़पुरी के नाविल पढ़ा करता था, अब बारी साहब की वजह से आस्कर वाइल्ड और विक्टर ह्यूगो मेरे ज़ेरे-मुताला रहने लगे। ह्यूगो मुझे बहुत पसंद आया। बाद में मैंने महसूस किया कि फ़्रांसीसी मुसन्निफ़ का ख़तीबाना अंदाज़ बारी साहब की तह्रीरों में मौजूद है। आजकल मैं जो कुछ भी हूँ, उसको बनाने में सबसे पहला हाथ बारी साहब का है। अगर अमृतसर में उनसे मुलाक़ात न होती और मुतवातिर तीन महीने मैंने उनकी सुह्बत में न गुज़ारे होते तो यक़ीनन मैं किसी और ही रास्ते पर गामज़न होता।

चूँकि अब मैं किसी हद तक अदब से रूशनास हो चुका था, इसलिए मैंने अख़्तर शीरानी के कलाम को एक नए ज़ाविए से देखना शुरू किया। उसकी शाइरी हलकी-फुलकी और रूमानी थी। मैं अब ग़ौर करता हूँ तो अख़्तर शीरानी मुझे कालिज के

लड़कों का शाइर मालूम होता है। एक खास उम्र के नौजवानों का शाइर, जिनके दिलो-दिमाग़ पर हर वक़्त रूमान की मकडी महीन-महीन जाले तनती रहती है। मुझे इस वादी में क़दम रखे ज़्यादा देर न हुई थी कि एक दोस्त से मालूम हुआ, अख़्तर शीरानी आए हुए हैं और "शीराज़ होटल" में ठहरे हैं। उसी वक़्त वहाँ पहुँचा मगर मालूम हुआ कि वह जीजे के साथ कहीं बाहर गए हैं। देर तक होटल में बैठा इंतिज़ार करता रहा मगर वह लोग वापस न आए।

शाम को पहुँचा तो होटल के सिंधी बावर्ची ने कहा कि सब ऊपर कोठे पर बैठे हैं—धड़कते हुए दिल के साथ मैं ऊपर गया। छिड़काव करके चारपाइयाँ बिछाई गई थीं। कुछ कुर्सियाँ भी थीं। देसी शराब का दौर चल रहा था। दस-बारह आदमी बैठे थे, जो मेरे-जाने पहचाने थे। सिर्फ़ एक सूरत अजनबी थी और वह अख़्तर शीरानी की थी। चपटा चेहरा, सपाट पेशानी, मोटी नाक, मोटे होंठ, गहरा साँवला रँग, छिदरे बाल, आँखें बड़ी-बड़ी और पुर-कशिश। उनमें थोड़ी-सी उदासी भी थी—बड़ी शुस्ता व रफ़्ता उर्दू में हाज़िरीन से गुफ़्तगू कर रहे थे।

मैं पास पहुँचा तो बाले ने उनसे मेरा तआरुफ़ कराया। बडी ख़ंदा-पेशानी से पेश आए और मुझसे बैठने के लिए कहा। मैं चारपाई के पास कुर्सी पर बैठ गया। इसके बाद अख़्तर साहब जीजे से मुख़ातिब हुए: "अज़ीज़, इनके लिए गिलास मँगवाओ।"

गिलास आया तो अख़्तर साहब ने मुझे एक पैग बनाकर दिया जो मैंने शुक्रिए के साथ क़ुबूल किया। दो-तीन दौर हुए तो किसी ने अख़्तर साहब से अपना कलाम सुनाने की फ़र्माइश की। इस पर उन्होंने कहा: "नहीं भाई, मैं कुछ नहीं सुनाऊँगा मैं सुनूँगा।" फिर जीजे से मुख़ातिब हुए: "अज़ीज़, सुनाओ 'रसीली अँखड़ियों से नींद बरसाते हुए आना।" यह कहा और एक ठंडी सांस ली, जैसे बीते हुए लम्हात याद आ गए हों। जीजे को मजाले-इन्कार नहीं थी। गला साफ़ किया और अख़्तर साहब की एक मशहूर ग़ज़ल गाना शुरू कर दी। सुर-ताल सब ठीक, मगर आवाज़ फटी-फटी-सी थी। फिर भी रँग जम गया। अख़्तर साहब पीते रहे और झूमते रहे।

दूसरे रोज़ दोपहर के वक़्त मैं शीराज़ होटल में बैठा अख़्तर साहब का इंतिजार कर रहा था—वह किसी दावत पर गए थे—कि एक बुर्क़ापोश ख़ातून ताँगे में आईं। आपने एक मुलज़िम से अख़्तर साहब के बारे में पूछा। उसने कहा: "कहीं बाहर तशरीफ़ ले गए हैं। आप अपना नाम बता दीजिए।" बुर्क़ापोश ख़ातून ने अपना नाम न बताया और चली गईं।

अख़्तर साहब आए तो मैंने उस ख़ातून की आमद का ज़िक्र किया। आपने बडी शाइराना दिलचस्पी से सारी बात सुनी और मुस्करा दिए। यूँ वह ख़ातून एक इसरार-सा बन गईं। खाना खाने से पहले शाम को जब ठर्रे का दौर शुरू हुआ तो जीजे ने उस बुर्क़ा-पोश ख़ातून के मुताल्लिक़ अख़्तर साहब से पूछा: "हज़रत, वह कौन थीं जो आज दोपहर को तशरीफ़ लाई थीं।"

अख़्तर साहब मुस्कराए और जवाब गोल कर गए—बाले ने उनसे कहा : "कहीं सलमा साहिबा तो नहीं थीं?"

अख़्तर साहब ने हौले से बाले के गाल पर तमाँचा मारा और सिर्फ़ इतना कहा : "शरीर।"

बात और भी ज़्यादा पुरइसार हो गई जो आज तक सीग़ए-राज़ में है। मालूम नहीं, वह बुर्क़ापोश ख़ातून कौन थीं। उस ज़माने में सिर्फ़ इतना मालूम हुआ था कि अख़्तर साहब के जाने के बाद वह एक बार फिर शीराज़ होटल आई थी और अख़्तर साहब के बारे में उसने पूछा था कि कहाँ हैं।

सब बारी-बारी अख़्तर साहब की दावत कर चुके थे, वहीं शीराज़ होटल में। दावत देने का यह तरीक़ा था कि दिन और रात में ठर्रे की जितनी बोतलें ख़त्म हों, उनके दाम अदा कर दिए जाएँ। मैंने यह तरीक़ा भोंडा समझा और दो बोतलें स्कॉच व्हिस्की की लेकर एक शाम वहाँ पहुँचा। एक बोतल पर से काग़ज़ हटाया तो अख़्तर साहब ने कहा : "भाई, यह तुमने क्या किया। देसी शराब ठीक रहती। एक के बदले दो आ जातीं।"

मैंने अर्ज़ की : "अख़्तर साहब, यह ख़त्म हो जाए तो दूसरी मौजूद है।"

अख़्तर साहब मुस्कराए : "वह ख़त्म हो गई तो।"

मैंने कहा : "और आ जाएगी।"

आपने मेरे सर पर हाथ फेरा : "ज़िंदा रहो।"

दोनों बोतलें ख़त्म हो गईं। मैंने महसूस किया कि अख़्तर साहब स्कॉच से मुत्मइन नहीं थे। चुनांचे मुलाज़िम से अमृतसर डिस्टिलरी की कशीद कर्दा ठर्रे की एक बोतल मँगवाई। उसने अख़्तर साहब के नश्शे में जो ख़ाली जगहें थीं, पुर कर दीं।

चूँकि यह महफ़िलें ख़ालिस अदबी नहीं थीं और उनके पीछे वह अक़ीदत थी, जो उन लोगों को अख़्तर साहब से थी, इसलिए ज़्यादातर उन्हीं का कलाम पढ़ा, या गाया जाता। शेरो-सुख़न के मुताल्लिक़ कोई बसीरत अफ़्रोज़ बात न होती। लेकिन अख़्तर साहब की गुफ़्तगुओं से मैंने इतना अंदाज़ा लगा लिया था कि उर्दू शाइरी पर उनकी नज़र बहुत वसी है।

चंद रोज़ के बाद मैंने घर पर अख़्तर साहब की दावत की, मगर यह सिर्फ़ चाय की थी जिससे अख़्तर साहब जैसे रिंदे-बलानोश को कोई दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन उन्होंने क़ुबूल की और मेरी ख़ातिर एक प्याली चाय भी पी।

उन महफिलों में बारी साहब बहुत कम शरीक हुए। अलबत्ता चिश्ती साहब, जो पीने के मामले में अख़्तर साहब से चंद पैग आगे ही थे, अक्सर उन महफिलों में शरीक होते और अपना कलाम भी सुनाते, जो आमतौर पर बेरूह होता था।

अख़्तर साहब ग़ालिबन दस दिन अमृतसर में रहे। इस दौरान में जीजे के पैहम इसार पर आपने शीराज़ होटल पर एक नज़्म कही। जीजे ने उसे बारी साहब की वसातत से बड़े काग़ज पर ख़ुशख़त लिखवाया और फ्रेम में जड़वाकर अपने होटल की ज़ीनत बनाया। वह बहुत

ख़ुश था, क्योंकि नज़्म में उसका नाम मौजूद था।

अख़्तर साहब चले गए तो जीजे के होटल की रौनक़ ग़ाइब हो गई। बारी साहब ने अब मेरे घर आना शुरू कर दिया था। मेरा शराब पीना उनको अच्छा नहीं लगता था। ख़ुश्क वाइज़ नहीं थे। इशारों ही इशारों में कई दफ़ा मुझे इस इल्लत से बाज़ रहने के लिए कहा, मगर मैं बाज़ न आया।

बारी साहब तीन महीने अमृतसर में रहे। इस दौरान में उन्होंने मुझसे विक्टर ह्यूगो की एक किताब "सरगुज़श्ते-असीर" के नाम से तर्जुमा कराई। जब वह छपकर प्रेस से बाहर आई तो आप लाहौर में थे। मैंने नबाशुदा किताब देखी तो उकसाहट हुई कि और तर्जुमा करूँ। चुनांचे मैंने ऑस्कर वाइल्ड के इश्तिराकी ड्रामे "वीरा" का तर्जुमा शुरू कर दिया। जब ख़त्म हुआ तो बारी साहब को इस्लाह के लिए दिया, मगर मुसीबत यह थी कि वह मेरी तहरीरों में बहुत ही कम काँट-छाँट करते थे। जबान की कई ग़लतियाँ रह जाती थीं। जब कोई उनकी तरफ़ इशारा करता तो मुझे बहुत ही कोफ़्त होती। चुनांचे मैंने सोचा कि बारी साहब के बाद अख़्तर साहब को तर्जुमे का मसव्वदा दिखाऊँगा।

अरब होटल में आने-जाने से मुज़फ़्फ़र हुसैन शमीम साहब से अच्छे-ख़ासे ताल्लुकात पैदा हो गए थे। मैंने उनसे इस्लाह की बात की तो वह मुझे उसी वक़्त अख़्तर शीरानी साहब के पास लाहौर ले गए। छोटा-सा गलीज कमरा था। आप चारपाई पर, तकिया सीने के साथ दबाए बैठे थे। अलैक-सलैक हुई। अख़्तर साहब मुझे पहचान गए—याराने-शीराज़ होटल के बारे में पूछा। जो कुछ मुझे मालूम था, मैंने उनको बता दिया।

शमीम साहब और अख़्तर साहब की गुफ़्तगू बहुत पुरमअन्नी और पुरतकल्लुफ़ थी, हालाँकि मुझसे किसी शख़्स ने कहा था कि वह दोनों किसी ज़माने में यक जान व दो कालिब थे। बहरहाल शमीम साहब ने मेरे आने का मुद्दआ बयान किया। अख़्तर साहब ने कहा "मैं हाज़िर हूँ। आज रात ही सारा मुसव्वदा देख लूँगा।"

अख़्तर साहब ने सीने के साथ तकिया इसलिए दबाया हुआ था कि उनके जिगर में थोड़े-थोड़े वक़्फ़े के बाद टीस-सी उठती थी। उस ज़माने ही में उनका जिगर क़रीब-क़रीब माऊफ़ हो चुका था—मैंने उनसे रुख़सत ली और शाम को हाज़िर होने का कहकर शमीम साहब के साथ वापस अरब होटल चला आया। उन्होंने मुझसे इशारतन कहा कि अगर तुम अख़्तर से अपना काम जल्दी कराना चाहते हो तो साथ "वह चीज़" लेते जाना। मैं जब शाम को अख़्तर साहब के पास पहुँचा तो "वह चीज़" मेरे पास मौजूद थी, जो मैंने बड़े सलीक़े से पेश की। बोतल डरते-डरते बाहर निकाली और उनसे कहा "क्या यहाँ इसकी इजाज़त है माफ़ कीजिएगा, यह पूछना ही बड़ी बदतमीज़ी है।"

अख़्तर साहब की आँखें तमतमा उठीं। मेरा ख़याल है, वह सुबह के प्यासे थे। मुस्कराए और मेरे सर पर बड़ी शफ़क़त से हाथ फेरा "शराब पीना कोई बदतमीज़ी नहीं।" यह कहकर बोतल मेरे हाथ से ली और तकिया फ़र्श पर रखकर उस पर बोतल का निचला हिस्सा ठोंकना शुरू किया ताकि कार्क बाहर निकल आए।

मैं उन दिनों पीता था मगर यूँ कहिए ज्यादा पी नहीं सकता था। चार पैग काफ़ी थे।

मिक़दार इससे अगर बढ़ जाती तो तबीयत ख़राब हो जाती और लुत्फ़ ग़ारत हो जाता।

इधर-उधर की बातें करते और पीते काफ़ी देर हो गई। अख़्तर साहब का खाना आया और जिस तरीक़े से आया, उससे मैंने यह जाना कि उनके घरवालों के ताल्लुक़ात उनसे कशीदा हैं। बाद में इसकी तस्दीक भी हो गई। उनके वालिदे-मुकर्रम हाफिज़ महमूद शीरानी साहिब[1] उनकी शराबनोशी के बाइस बहुत नालाँ थे। थक-हारकर उन्होंने अख़्तर साहब को उनके अपने हाल पर छोड़ दिया था।

रात ज़्यादा गुज़र गई तो मैंने अख़्तर शाहब से दर्ख़्वास्त की कि वह मुसव्वदा देखना शुरू कर दें। आपने यह दर्ख़्वास्त क़ुबूल की और मुसव्वदे की इस्लाह शुरू कर दी। चंद सफ़्हात देखे तो आस्कर वाइल्ड की रंगीन ज़िंदगी की बातें शुरू कर दीं, जो ग़ालिबन उन्होंने किसी और से सुनी थी। आस्कर वाइल्ड और लार्ड अल्फ्रेड डगलस के मुआश्क़े का जिक्र आपने बड़े मज़े ले-लेकर बयान किया। वाइल्ड कैसे क़ैद हुआ, यह भी बताया। फिर उनका ज़ेहन एकदम लार्ड बाइरन की तरफ़ चला गया। उस शाइर की हर अदा उन्हें पसंद थी। उसके मुआश्क़े जो कि लातादाद थे, अख़्तर साहब की निगाहों में एक जुदागाना शान रखते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि लार्ड बाइरन के नाम से उन्होंने कई ग़ज़लें और नज़्में भी लिखी थीं।

लार्ड बाइरन एक संग-दिल, बेरहम और बेपर्वा इन्सान था। इसके अलावा वह एक बहुत बड़ा नवाब था जिसके पास दौलत थी। अख़्तर साहब क़ल्लाश थे, बड़े रहमदिल और इन्सानियत दोस्त। बाइरन को बढ़िया से बढ़िया शराब मयस्सर थी, अख़्तर को बमुश्किल ठर्रा मिलता था। बाइरन के मुल्क की फ़ज़ा और थी, अख़्तर के मुल्क की फ़ज़ा और। वह किसी सूरत में भी लार्ड बाइरन नहीं बन सकते थे, लेकिन फिर भी उन्होंने अपने दिल की तस्कीन के लिए दो माशूक़ इख़्तिराअ कर लिए थे : सलमा और अजरा।

सलमा के मुताल्लिक़ कई कहानियाँ मशहूर हैं। बाज़ कहते हैं कि सलमा हकीक़तन कोई सलमा थी। हो सकता है, ऐसा ही हो मगर जो सलमा हमें अख़्तर के कलाम में नज़र आती है, यक्सर तख़ैयुली है। उसका वुजूद इस क़द्र शफ़्फ़ाफ़ है कि साथ ईथरी मालूम होती है। एक और बात भी है। अगर सलमा कोई गोश्त-पोस्त की ज़िंदा औरत होती तो शाइर उससे इतनी वालिहाना मुहब्बत कभी न करता, मगर चूँकि वह उसकी अपनी तख़्लीक थी, इसलिए वह उससे बेपनाह मुहब्बत करता था।

लार्ड बाइरन की बातें सुनते-सुनते मुझे नींद आ गई और मैं वहीं सो गया। सुबह उठा तो देखा, अख़्तर साहब फ़र्श पर बैठे मुसव्वदा देखने में मसरूफ़ हैं। बोतल में थोड़ी-सी बची हुई थी। यह आपने पी और आख़िरी सफ़्हात देखकर मुसव्वदा मेरे हवाले किया और कहा : ''तर्जुमा बहुत अच्छा है। कहीं-कही ज़बान की अग़लात थीं, वह मैंने दुरुस्त कर दी हैं।''

मैंने मुनासिबो-मौज़ूँ अल्फ़ाज़ में उनका शुक्रिया अदा किया और अमृतसर रवाना हो गया। इसके बाद मैं जब कभी लाहौर जाता, अख़्तर साहब के नियाज़ ज़रूर हासिल

1 मरहूम-मग़फ़ूर।

करता—एक बार गया तो देखा आपके सर पर पट्टियाँ बँधी हैं। उनसे दरयाफ़्त किया तो उन्होंने जवाब दिया : "मुझे तो क़तअन याद नहीं लेकिन लोग कहते हैं, कल रात मैंने ताँगे में सवार होने की कोशिश की, मगर गिर पड़ा और यह चोटें इस वजह से आईं।"

अख़्तर साहब की अपनी ज़ात के बारे में यह साफ़गोई मुझे बहुत पसद आई। बाज़ औकात वह बिलकुल बच्चे बन जाते थे। उनकी गुफ़्तगू और हरकात बिलकुल बच्चों की-सी होतीं—जहाँ तक मैं समझता हूँ, बच्चा बनकर वह बचकाना क़िस्म ही की मसर्रत महसूस करते थे।

कुछ अर्से के बाद मैं बंबई चला गया। अख़्तर साहब से इतने मरासिम नहीं थे कि ख़तो-किताबत होती, लेकिन जब उन्होंने रिसाला "रोमान" जारी किया तो मैंने उन्हें मुबारकबाद का ख़त लिखा। अब मैं अफ़्साना निगारी के मैदान में क़दम रख चुका था। तर्जुमे का दौर वहीं लाहौर और अमृतसर में ख़त्म हो गया था। मैंने तबाज़ाद अफ़्साने लिखने शुरू कर दिए थे जो मकबूल हुए थे। "रोमान" में अहमद नदीम क़ासमी का अफ़्साना बहुत पसंद आया। बंबई के हफ़्तावार "मुसव्विर" में "रोमान" पर तब्सिरा करते हुए मैंने उसकी तारीफ की। अख़्तर साहब को अलहदा ख़त लिखा तो उसमें भी उस अफ़्साने को बहुत सराहा। चंद दिनों के बाद अहमद नदीम क़ासमी का मुहब्बत भरा ख़त मौसूल हुआ जो एक तवील सिलसिला-ए- ख़तो-किताबत का पेशख़ेमा था।

कुछ अर्से के बाद "रोमान" बंद हो गया और अख़्तर मेरी नज़रों से मुकम्मल तौर पर [illegible] हो गए। कई बरस गुजर गए। मुल्क की सियासियात ने कई रंग बदले, हत्ता कि बटवारा आन पहुँचा। इससे पहले जो हुल्लड़ मचा, उससे आप सब वाक़िफ़ हैं। इस दौरान में अख़बारों में ख़बर छपी कि अख़्तर साहब टोंक से पाकिस्तान आ रहे थे कि रास्ते में बलवाइयों ने उनको शहीद कर दिया। बहुत अफ़्सोस हुआ। मैं, इस्मत और शाहिद लतीफ़ देर तक उनकी बातें करते और अफ़्सोस करते रहे।

कई अख़बारों में उनकी मौत पर मज़ामीन शाए हुए। उनकी पुरानी नज़्में छपीं, लेकिन कुछ अर्से के बाद उनकी मौत की उस ख़बर की तरदीद हो गई। मालूम हुआ कि वह बख़ैरो-आफ़ियत लाहौर पहुँच गए हैं। इससे बबई के अदबी हलक़ों को बहुत ख़ुशी हुई।

तक़सीम के पाँच महीने बाद मैं बंबई छोड़कर लाहौर चला आया क्योंकि सब अजीज़ो-अक़ारिब यहीं जमा थे। इफ़्रातो-तफ़्रीत का आलम था। अख़्तर साहब से मिलने का ख़याल तक दिमाग में न आया। बड़ी मुद्दत के बाद यौमे-इक़बाल के जल्से में उनको देखा, मगर निहायत ही अब्तर हालत में।

रात के जल्से की सदारत अख़्तर साहब को करना थी। यूनिवर्सिटी हाल में हाज़िरीन की तादाद ख़ासी थी। जल्से में शिर्कत के लिए हिंदुस्तान से अली सरदार ज़ाफरी और कैफ़ी आज़मी आए हुए थे। वक़्त हो चुका था मगर साहिबे-सद्र मौजूद नहीं थे। मैंने साहिर लुधियानवी से पूछा तो उसने मुझे बताया : "अख़्तर शीरानी साहब हाल के बाहर पी रहे हैं। उनकी हालत बहुत ग़ैर है। इसलिए हम कोशिश कर रहे हैं कि वह सदारत न करें। मगर मुसीबत यह है कि वह मुसिर हैं।"

मैं बाहर गया तो देखा, वह दीवार के साथ लगकर खड़े हैं और पी रहे हैं—ज़हीर काश्मीरी के हाथ में बोतल है। आपने गिलास ख़त्म किया और ज़हीर से कहा : "चलो इज्लास का वक़्त हो गया है।" ज़हीर ने उनको रोका : "जी नहीं। अभी कहाँ हुआ है।" मगर अदंर हाल से नज़्म पढ़ने की आवाज आ रही थी। आपने लड़खड़ाते हुए अल्फ़ाज़ के अपने मुँह में कई-कई टुकड़े करते हुए कहा : "जल्सा शुरू हो चुका है। मुझे आवाज़ आ रही है।" यह कहकर उन्होंने ज़हीर को धक्का दिया। इस मौक़े पर मैं आगे बढ़ा। अख़्तर साहब ने थोड़ी देर के लिए मुझे बिलकुल न पहचाना। नशे से उनकी आँखें बंद हुई जा रही थीं। मैंने उनको झंझोड़ा और अपना नाम बताया। इस पर उन्होंने एक लंबी "आह" की और मुझे गले लगा लिया और सवालों की बौछार शुरू कर दी। अल्फ़ाज़ चूँकि उनके मुँह में तले-ऊपर होकर टूट-टूट जाते थे, इसलिए मैं कुछ न समझ सका। ज़हीर ने मेरे कान में कहा कि मैं उन्हें अंदर हाल में न जाने दूँ, मगर यह मेरे बस की बात नहीं थी। मैंने और तो कुछ न किया, अख़्तर साहब से यह कहा : "इतनी देर के बाद आपसे मुलाक़ात हुई है। क्या इसकी ख़ुशी में बोतल में से मुझे कुछ न मिलेगा।"

आपने ज़हीर काश्मीरी से कुछ कहा, जिसका ग़ालिबन यह मतलब था कि सआदत को एक गिलास बनाकर दो। ज़हीर गिलास में आतिशे-सैयाल उंडेलने लगा कि अख़्तर साहब तेज़ी से लड़खड़ाते हुए हाल के अंदर दाख़िल हो गए और हमें इसकी उस वक़्त ख़बर हुई, जब उनको रोका नहीं जा सकता था। फिर भी मैं दौड़कर अंदर गया और चबूतरे पर चढ़ने से पहले उनको रोक लिया, मगर वह मेरी गिरफ़्त से निकलकर कुर्सी-ए-सदारत पर जा बैठे। जल्से के मुंतज़िमीन बहुत परेशान हुए। क्या करें, क्या न करें। सब इसी मख़्मसे में गिरफ़्तार थे। उनकी हालत बहुत बुरी थी। कुछ देर तो वह ख़ामोश बैठे कुर्सी पर झूलते रहे, लेकिन जब उन्होंने उठकर तक़रीर करना चाही तो मामला बड़ा संगीन हो गया। माइक्रोफ़ोन के सामने आप बार-बार अपनी ढीली पतलून ठीक करते और साबित क़दम रहने की नाकाम कोशिश में बार-बार लड़खड़ाते थे। आपकी लुक्नत-ज़दा ज़बान से ख़ुदा मालूम क्या निकल रहा था।

हाज़िरीन में से किसी शख़्स ने बुलंद आवाज़ में कहा : "यह शराबी है। इसे बाहर निकालो।" बस तूफ़ान बर्पा हो गया। एक ने पंजों पर खड़े होकर बड़े ग़ुस्से में कहा : "पाकिस्तान में क्या यही कुछ होगा।" दूसरा चिल्लाया : "और जल्से में ख़्वातीन भी मौजूद हैं।"

अख़्तर साहब बराबर बोलते रहे। एक तो वैसे ही उनकी कोई बात समझ में न आती थी, फिर शोर में तो वह शोर का एक हिस्सा बन गई थी। जब मामला बढ़ गया तो दोस्त अहबाब अख़्तर साहब को ज़बरदस्ती हाल से बाहर ले गए। फ़ज़ा बहुत ख़राब हो गई थी लेकिन शोरिश काश्मीरी की बरवक़्त तक़रीर ने मदद की और हाल पुरसुकून हो गया।

इसके बाद अख़्तर साहब से आख़िरी मुलाक़ात मेयो हस्पताल में हुई।

मैं परवेज़ प्रोडक्शन्स लिमिटेड के लिए एक फ़िल्मी कहानी लिखने में मसरूफ़ था कि अहमद नदीम क़ासमी आए। आपने बताया : "मैंने किसी से सुना है कि अख़्तर साहब दो

तीन रोज से खतरनाक तौर पर अलील हैं और मेयो हस्पताल मे पड़े हैं, बडी कसमपुर्सी की हालत में। क्या हम उनकी कोई मदद कर सकते हैं?"

हम सबने आपस में मशवरा किया। मसूद परवेज़ ने एक राह निकाली, जो यह थी कि उनकी दो-तीन गजलें या नग्मे फिल्म के लिए ले ली जाएँ और परवेज़ प्रोडक्शन्स की तरफ से पाँच सौ रुपए बतौर मुआवज़े के उनको दे दिए जाएँ। बात माकूल थी। चुनांचे हम उसी वक़्त मोटर में बैठकर मेयो हस्पताल पहुँचे।

मरीज़ों से मिलने के लिए हस्पताल में ख़ास औक़ात मुकर्रर हैं, इसलिए हमें वार्ड में जाने की इजाज़त न मिली। ड्यूटी पर उस वक़्त जो डॉक्टर थे, हम उनसे मिले। जब आपको मालूम हुआ कि हम अख़्तर शीरानी से मिलना चाहते हैं, तो आपने बड़े अफ़्सोसनाक लहजे में कहा: "उनसे मुलाक़ात करने का कोई फ़ाइदा नहीं।"

मैंने पूछा: "क्यों?"

डॉक्टर साहब ने उदास लहजे में जवाब दिया: "वह बेहोश हैं। जब से यहाँ आए हैं, उन पर ग़शी तारी है, यानी अल्कोहलिक कोमा।"

यह सुनकर हमें अख़्तर साहब को देखने का और ज़्यादा इश्तियाक़ पैदा हुआ। हमने इसका इज़्हार कर दिया। डॉक्टर साहब उठे और हमें वहाँ ले गए, जहाँ हमारा रूमानी शाइर, सलमा और अज़रा का ख़ालिक़ बेहोश पड़ा था। बेड के इर्द-गिर्द कपड़ा तना था। हमने देखा, अख़्तर साहब आँखें बंद किए पड़े हैं। लंबे-लबे नाहमवार साँस ले रहे हैं। होंठ आवाज़ के साथ खुलते और बंद होते थे—हम तीनों उनको इस हालत में देखकर पज़मुर्दा हो गए।

मैंने डॉक्टर साहब से कहा: "क्या हम इनकी कोई मदद कर सकते हैं? डॉक्टर साहब ने जवाब दिया: "हम इम्कान भर कोशिश कर चुके हैं और इम्कान भर कोशिश कर रहे हैं। मरीज़ की हालत बहुत नाज़ुक है। गुर्दे और जिगर बिलकुल काम नही कर रहे। अतड़ियाँ भी जवाब दे चुकी हैं। एक सिर्फ़ दिल अच्छी हालत में है। घुप अँधेरे में उम्मीद की बस यही एक छोटी-सी किरण है।"

जब हमने ख़्वाहिश ज़ाहिर की कि हम अख़्तर साहब के इस वक़्त में किसी न किसी तरह काम आना चाहते हैं तो डॉक्टर साहब ने कहा: "अच्छा तो मैं आपको एक दवा का नाम बताता हूँ। आप इसे हासिल करने की कोशिश कीजिए। यहाँ पाकिस्तान में तो बिलकुल नायाब है। मुम्किन है, हिंदुस्तान में मिल जाए।"

डॉक्टर साहब से दवा का नाम लिखवाकर मैं फ़ैज़ साहब के पास पहुँचा और उनको सारी बात बताई। आपने उसी वक़्त अमृतसर टेलीफ़ोन कराया और अपने अख़बार के एजेंट से कहा कि वह दवा हासिल करके फ़ौरन लाहौर भिजवा दे। लेकिन अफ़्सोस, दवा न मिली। मसूद परवेज़ ने दिल्ली फ़ोन किया। वहाँ से अभी जवाब नही आया था कि अख़्तर साहब बेहोशी के आलम में अपनी सलमा और अज़रा को प्यारे हो गए।

बारी साहब

मुस्तबिद[1] और जाबिर हुक्मरानों का इब्रतनाक[2] अंजाम
रूस की गली-कूचों में सदाए इंतिकाम
ज़ारियत[3] के ताबूत में आख़िरी कील।

इन तीनों जली सुर्ख़ियों के क़दे-आदम इश्तिहार अमृतसर की मुतादि्दद दीवारों पर चस्पाँ थे—लोग ज़्यादातर सिर्फ़ यह सुर्ख़ियाँ ही पढ़ते थे और आपस में चःमै गोइयाँ[4] करते चले जाते थे।

मालूम नहीं, सन् कौन-सा था, मगर मौसम गिरफ़्तारियों का था। और ऐसे मौसम अमृतसर में आते ही रहते थे—ग़ालिबन उन दिनों बमों की वारदातें भी हुई थीं; ख़त डालनेवाले लाल-लाल भबकों में आग लगानेवाली चीज़ें डालने का शुग़्ल भी जारी था; फ़ज़ा ख़ासी सहमी हुई थी; इसलिए यह इश्तिहार, जो अमृतसर की दीवारों पर जा बजा चस्पाँ थे, पास से गुज़रनेवालों की तवज्जोह अपनी तरफ़ खींचते तो थे मगर वह जल्दी-जल्दी नज़रों से इश्तिहार की इबारत के चंद निवाले उठाकर अपना रस्ता पकड़ते थे कि कहीं इसी जुर्म में न धर लिए जाएँ।

यह इश्तिहार आस्कर वाइल्ड के एक घटिया से ड्रामे 'वीरा' के उर्दू तर्जुमे का था जो मैंने और मेरे लँगोटिए हसन अब्बास ने मिलकर किया था और इस्लाह अख़्तर शीरानी से ली थी—बारी साहब ने, जो मेरे और हसन अब्बास दोनों के गुरु थे, इस तर्जुमे में हमारी बड़ी मदद की थी।

किताब हमने ख़ुद मनाई बर्क़ी प्रेस में छपवाई थी और बारी साहब इसके तमाम फ़र्मे ख़ुद अपने कंधों पर लाद-लादकर घर लाए थे, ताकि महफ़ूज़ रहें। उनको ख़तरा था कि पुलिस छापा मारकर प्रेस में से सारी किताब उठा ले जाएगी।

मेरे और हसन अब्बास के लिए यह सब सिलसिला बड़ा दिलचस्प और हरारत बख़्श था—जेल में क्या-क्या सुऊबतें[5] उठाना पड़ती हैं और थानों में क्या दुर्गत होती है, इसके मुताल्लिक़ हमारे पुरजोश और खिलंदड़े दिमाग़ कुछ सोचना ही नहीं चाहते थे। कुछ ऐसा महसूस होता था कि अगर क़ैद हो गए तो यह वतन के लिए बड़ी क़ुर्बानी होगी। रिहा होकर आएँगे तो लोग हार पहनाएँगे और जुलूस निकालेंगे।

ड्रामा, रूस के दहशतपसंदों और नराजियों[6] की सरगर्मियों के मुताल्लिक़ था जिनके पास हर किस्म के हथियार मौजूद थे—अमृतसर में उन दिनों अगर कोई हवाई बंदूक़ से भी मुसल्लह होना चाहता तो यक़ीनन उसे तोप दम कर दिया जाता—कहाँ मास्को, कहाँ अमृतसर, मगर मैं और हसन अब्बास नए-नए बाग़ी नहीं थे। दसवीं जमात में दुनिया का नक़्शा निकालकर हम कई बार ख़ुश्की के रस्ते रूस पहुँचने की स्कीमें बना चुके थे, हालाँकि उन दिनों फ़ीराज़ुद्दीन मनसूर भी कामरेड एफ़. डी. मनसूर नहीं बने थे और कामरेड सज्जाद ज़हीर शायद बन्ने मियाँ ही थे। हमने अमृतसर ही को मास्को मुतसव्वुर कर लिया था और उसी के गली-कूचों में मुस्तबिद और जाबिर हुक्मरानों का इब्रतनाक अंजाम देखना चाहते थे। हम कटरा जयमल सिंह, करमो ड्योढ़ी या चौक फ़रीद में ज़ार्रियत का ताबूत घसीटकर उसमे आख़िरी कील ठोंकना चाहते थे। कील टेढ़ी हो जाती या हथौड़े की ज़रब कील के बजाय हमारी किसी उँगली को ज़ख़्मी कर देती, इसके मुताल्लिक़ सोचने की ज़रूरत ही क्या थी—बारी साहब, इश्तिराकी[8] अदीब बारी हमारे गुरु थे। सोचना उनका काम था। लेकिन मुझे बार-बार महसूस होता था कि यह आदमी, जिसको हमने अपना रहनुमा बनाया है, बड़े कमज़ोर दिल का आदमी है। पत्ता ज़रा-सा खड़कता था तो वह चौंक पड़ते थे, पर हमारी पुरख़ुलूस गर्मजोशी उनके मुतज़िलज़ल[9] कदमों को हमेशा मजबूत बना देती थी।

अब सोचा जाए तो उस ज़माने की यह सब हरकतें छोटे-छोटे खिलौने मालूम होती हैं, लेकिन उस वक़्त यह खिलौने ही अज़ीमुलजुस्सा[10] और क़वी हेकल[11] थे। उनसे पंजा लड़ाना गोया किसी देव से ज़ोर आज़माई करना था—हमारे ख़लीफ़ा साहब यानी बारी अगर बुजदिल न होते तो यक़ीनन हम चारों* उसी ज़माने में उन खिलौनों से अपना जी बहलाने के जुर्म मे फाँसी पा गए होते और अमृतसर की ख़ूनी तारीख़[12] में ऐसे शहीदों के नाम का इज़ाफ़ा हो गया होता, जो अब ख़ुलूसे-दिल से कह सकते हैं कि उनको उस वक़्त अपने उस जोश के रुख़ का भी सही इल्म नहीं था।

मैंने बारी साहब को बुज़दिल कहा है, उनकी शख़्सियत पर किसी हमले की ग़र्ज़ से नहीं। असल में उनकी शख़्सियत की तरतीबोतदवीन[13] मे इस बुज़दिली का बहुत नुमायाँ हिस्सा है। अगर किसी वजह से उनके दिमाग़ी और जिस्मानी निज़ाम से यह कमजोरी निकल जाती तो वह, वह बारी न होते जो वह थे, और उनका तशख़्ख़ुस बिलकुल जुदा क़िस्म का होता। हो सकता है, वह हॉकी के मशहूरे-आलम खिलाड़ी होते और दूसरे नामवर खिलाड़ियों की तरह उनकी उम्र किसी रियासत की नौकरी में गुज़रती। यह भी हो सकता है कि वह प्राइमरी स्कूल के उस्ताद से तरक्की करते-करते किसी यूनिवर्सिटी के रीडर हो जाते। और यह भी मुमकिन है कि वह भगतसिंह की तरह बमबाज़ होते—भगतसिंह उन्हीं के ज़िले, यानी लायलपुर का रहनेवाला था और बारी साहब उसको अच्छी तरह जानते थे—यह सिर्फ़ बुज़दिली ही का बायस है कि वह हमेशा इधर के रहे, न

---

* "कुछ अर्से के बाद अबू सईद क़ुरैशी भी हमारे तिगड्डे मे शामिल हो गया था।"—मंटो

उधर के। वह सारी उम्र जहाँ रहे, मुअल्लक़[14] रहे। और मैं तो समझता हूँ, इस दौरान में उनके बला के तेज़ दिमाग़ में जो ख़याल भी पैदा हुआ, बुज़दिली की खूँटी से लटका रहा।

बारी साहब बड़ी-बड़ी निराली बातें और स्कीमें सोचते थे, ऐसी जो किसी और के ज़ेहन में आसानी के साथ नहीं आ सकती, मगर वह इतनी सुरअत से ग़ायब हो जाती थीं कि उनके आसार तक भी बाक़ी न रहते—बाज़ औक़ात ऐसा भी होता कि उन्होंने ज़िंदगी के समंदर में, अचानक किसी दिलचस्प टापू की मौजूदगी का इन्किशाफ़ किया; उसको सर करने के लिए क्या-क्या तदाबीर अमल में लाई जानी चाहिए, सबकी-सब समझा दीं; वहाँ पहुँचकर जो नेमतें और गड़ी हुई दौलतें मयस्सर आएँगी उनकी तसवीरकशी भी कर दी; सुननेवाले कमर बाँधकर उस मुहिम के लिए तैयार हो गए; उनमें से कुछ रख़्ते-सफ़र बाँधकर रवाना भी हो गए; लेकिन जब मुड़कर देखा तो बारी साहब गायब—वापस आकर उनसे इस्तिफ़सार करना चाहा तो उन्होंने किसी और दिलचस्प जज़ीरे[15] का ज़िक्र छेड दिया, जो वह इस दौरान में दरयाफ़्त कर चुके थे।

मुतजक्किरा[16] सदर इश्तिहार चस्पाँ करने के बाद चुनांचे यही हुआ—मैं और अब्बास, दोनों, रात भर गिरफ़्तार हो जाने की सनसनी के साथ आधे सोए, आधे जागते रहे। दूसरे रोज़ नए नवेले दूल्हों की तरह हम तजुर्बेकार बारी को ढूँढ़ते रहे कि उनसे पूछें, आगे क्या होगा—मगर वह ग़ायब थे—दो-तीन जगहें थीं जहाँ वह जाते थे, मगर उनमें से किसी एक पर भी वह मौजूद नहीं थे।

पंद्रह रोज़ के बाद वह अचानक नमूदार हुए तो उन्होंने एक हफ़्तावार पर्चा जारी करने की स्कीम से हमें अपने मख़्सूस[17] अंदाज में मुत्तला किया : "मैं आपकी तरह बेकार नहीं था सारे इंतिज़ामात मुकम्मल कर लिए हैं। बस डिक्लेरेशन[18] दाखिल करना है मज़मून मैं आज ही से लिखना शुरू कर दूँगा।"

अमृतसर की दीवारों पर ज़ारियत के ताबूत में आख़िरी कील ठोंकनेवाले इश्तिहार कुछ तो उखड़ गए और कुछ क़ुव्वते-मर्दमी[19] की दवाओं के पोस्टरों तले दब गए, और हमारा जोश उधर से मुंतक़िल होकर हफ़्तावार पर्चे की इब्तिदाई कारवाइयों में दाखिल हो गया।

'वीरा' नाक़िस किताबत और वाहियात तबाअत के बाइस मेरे घर में मुक़फ़्फ़ल[20] पड़ी रही, लेकिन 'ख़लक़' के सूरी हुस्न के लिए हमने अपनी पहली फ़िरोगुज़ाश्तों[21] से फ़ाइदा उठाया—जब उस पर्चे का पहला शुमारा सनाई बर्क़ी प्रेस से मैं और बारी साहब कंधों पर उठाकर घर लाए तो उसकी गवारा किताबतो-तबाअत से हम बहुत मुतमइन थे।

बारी साहब के एक करमफ़रमा थे। मैं उनका नाम भूल गया हूँ, लेकिन इतना याद है कि वह सियाह दाढ़ीवाले एक साहब थे जो ग़ालिबन चमड़े के सौदागर थे—'ख़लक़' के अजरा में माली हाथ उसका था। वह और भी सरमाया लगाने के लिए तैयार थे, मगर बारी साहब मैदान छोड़ के भाग गए।

पहले शुमारे में सरे-वर्क़ पर उनका एक मज़मून था, 'हीगल से लेकर कार्ल मार्क्स तक।' एक मुख़्तसर-सा ख़ाका था, इश्तिराकी फ़लसफ़े के इरतिक़ा[22] के बारे में, जो मेरी और हसन अब्बास की फ़हम से बालातर था। असल में हम हीगल से वाक़िफ़ थे न कार्ल

मार्क्स से। आख़िरुलज़िक्र का नाम बारी साहब से कई मर्तबा सुना था, जिससे हमको इतना मालूम था कि कार्ल मार्क्स मज़दूरों का बहुत बड़ा हामी था। उसका फलसफ़ा क्या था और उसके डांडे हकीम हीगल से कहाँ और क्योंकर मिलते थे, ईमान की बात है, इसके मुताल्लिक़ हमारी मालूमात सिफ़र थीं।

अपने अफसानों के क़ारईन की दिलचस्पी के लिए यहाँ मैं एक बात बताना चाहता हूँ कि मेरा सबसे पहला तबेज़ाद[23] अफ़साना 'तमाशा' के उनवान से 'ख़लक़' के इसी शुमारे में शाया हुआ था। मैंने उस पर अपना नाम नहीं दिया था, इस डर से कि लोग मज़ाक उड़ाएँगे। उन दिनों मेरे जाननेवाले अज़ राहे-तमस्ख़ुर[24] मेरी सक़ीम तहरीरों पर ख़ूब हँसा करते थे—अजीब बात है कि बारी साहब ने, जिनको मेरी महदूद इल्मियत का पता था, मेरी हमेशा हौसला अफ़ज़ाई की, यहाँ तक कि मुझे मेरी इग़लात[25] से भी कभी रूशनास न किया। वह कहा करते थे : "सब ठीक है।"

बात में से बात निकल आती है—मुझे बारी साहब के मैदान छोड़कर भाग जाने के मुताल्लिक़ कुछ कहना था।

'ख़लक़' का पहला शुमारा शाया हुआ तो चंद रोज़ बड़े ख़ुशो-ख़रोश में गुज़रे। मैं और अब्बास यूँ महसूस करते थे, जैसे हमसे कोई कारनामा सरज़द हो गया है। कटरा जयमल सिंह और हॉल बाज़ार में हम एक नई शान से चलते थे, लेकिन आहिस्ता-आहिस्ता हमें महसूस हुआ कि अमृतसर की नज़रों में हम वैसे-के-वैसे आवारागर्द हैं—पान-सिगरेटवाले बदस्तूर अपने पैसों का तक़ाज़ा करते और ख़ानदान के बुज़ुर्ग बराबर अपना वही फ़ैसला सुनाते कि हमारे लच्छन अच्छे नहीं हैं—लच्छन वाक़ई कुछ अच्छे नहीं थे, इसलिए कि ख़ुफिया पुलिस ने पूछगछ शुरू कर दी थी और इसी सिलसिले में कूचा वकीलां तक पहुँच गई थी।

मेरे बहनोई ख़्वाजा अब्दुल हमीद साहब उन दिनों नए-नए रिटायर हुए थे। आप एक अर्से तक फिलौर के पुलिस स्कूल में उस्ताद रह चुके थे, इसलिए पंजाब पुलिस के करीब-क़रीब तमाम आदमियों को जानते थे—ख़ुफ़िया पुलिस के सिपाही जब बारी साहब का अता-पता मालूम करने के लिए कूचा वकीलां में पहुँचे तो उनकी ख़्वाजा साहब से मुठभेड़ हुई—वह बारी साहब का वह 'ख़तरनाक' मजमून 'हीगल से कार्ल मार्क्स' तक पढ़ चुके थे। इसके अलावा वह बारी साहब को भी अच्छी तरह जानते थे और तारीख़ से जो बारी साहब को दिलचस्पी थी, उसकी क़द्र करते थे। बारी साहब का अंदाज़े-बयान, जो ख़तीबाना हुआ करता था, उन्हें पसंद था। इसलिए उन्होंने ख़ुफ़िया पुलिस के सिपाहियों से कहा : "जाओ, कोई और काम करो हीगल और कार्ल मार्क्स तुम्हारी समझ में नहीं आएगा ग़रीब बारी भी अभी तक उनके फ़लसफ़े को अच्छी तरह नहीं समझा है।"

ख़्वाजा साहब ने जब उनको यक़ीन दिलाया कि मज़मून में कोई बग़ावतअंगेज़ चीज़ नहीं है जिससे सरकारे-बरतानिया का तख़्ता उलटने का अंदेशा हो तो वह चले गए—लेकिन जब बारी साहब को इसका पता चला कि हुकूमत की मशीनरी हरकत में आ गई है तो उन्होंने 'ख़लक़' का सिर्फ़ दूसरा पर्चा निकाला और उसे मेरे पास छोड़कर कहीं

ग़ायब हो गए और बहुत दिनों तक, मालूम नहीं, कहाँ-कहाँ घूमते रहे। मुझे याद है कि उनका एक कार्ड मुलतान से आया था जिसमें कुछ इस किस्म का मज़मून था : "मुलतान की रसदगाहों[26] में अपने सितारों का मुताला कर रहा हूँ।"

यह अजीब बात है कि गर्दिश के दौरान में जब कभी उनका ख़त किसी शहर से आता तो उसमें यह इत्तिला इन्हीं अल्फ़ाज़ में ज़रूर होती कि वह उस शहर की रसदगाहों में अपने सितारों का मुताला कर रहे हैं—यह मुताला, मेरा ख़याल है, वह हर उस गली, हर उस कूचे की रसदगाह में करते रहे जहाँ उन्होंने कुछ अर्से के लिए क़याम किया—कब्र की तारीक रसदगाह में भी वह यकीनन अपने सितारों के मुताले में मसरूफ़ होंगे, मगर अफ़सोस है कि वह वहाँ से मुझे कोई पोस्टकार्ड नहीं भेज सकते।

मरहूम को पोस्टकार्ड बहुत पसंद थे, इसलिए कि लिफ़ाफ़ों के मुक़ाबले में उन पर ख़र्च कम होता है—ख़तों का जवाब देने के मामले में बहुत सुस्त थे—मुझे याद है, एक बार मैंने उन्हें अमृतसर से पै-दर-पै कई ख़त लिखे। जब कोई जवाब न आया तो मैंने पाँच-पाँच पैसे के दो टिकट उनको रवाना किए और यह ताकीद की कि वह अब जवाब ज़रूर दें। उनका जवाब आया, मगर पोस्टकार्ड पर—लिखा था : "तुम्हारे भेजे हुए टिकट मैंने बेच डाले एक कार्ड ख़रीदकर तुम्हें लिख रहा हूँ कि तुम्हारे सब ख़त मुझे मिल चुके हैं "

मुझे बहुत गुस्सा आया। फौरन लाहौर पहुँचा। इरादा था कि उनकी तबीयत साफ़ कर दूँगा, मगर जब हम अरब होटल में बैठे और मैंने उनकी ज़लील हरकत के मुताल्लिक बात करनी चाही तो उन्होंने लाहौर की रसदगाहों में मेरे सितारों का मुताला शुरू कर दिया और आख़िर में फैसला यह किया : "तुम घर के मुआमलात ठीकठाक करके फ़ौरन लाहौर चले आओ और किसी अख़बार में मुलाज़मत कर लो।"

ऐसे कई मौके आए कि मैंने बड़ी संजीदगी से बारी साहब पर अपनी ख़फ़गी व नाराज़ी का इज़हार करना चाहा और वह भी इस इरादे के साथ कि उनकी मेरी कुट्टी हो जाए, मगर उनकी बातें कुछ ऐसी थीं कि मुझे ग़ैर मुसल्लह[27] कर देती थीं—मोटा-मोटा गोल चेहरा, सियाही माइल गंदमी रंग, बहुत बड़ा सिर, क़द मुतवस्सित, काले-काले होंठ, मसूढ़े भी काले। मगर जब उनके चेहरे पर मुसकराहट नमूदार होती थी तो आसपास के तमाम ख़द्दोख़ाल अपनी सियाह क़बा[28] उतार फेंकते जो अदालतों की-सी ख़ुश्क संजीदगी और मतानत[29] का बायस होती थी। सिर्फ़ उन मुसकराते हुए लम्हात की रसदगाहों में वह अपने सितारों का मुताला नहीं करते थे, और मैं समझता हूँ कि सिर्फ़ उन्हीं लम्हात में उनके मुसलसल मुताले से उकताए हुए सितारे भी थोड़ी देर के लिए मुसकरा लेते थे।

बारी साहब बुज़दिल थे। ख़ुदा की क़सम, बहुत बुज़दिल थे—ज़्यादा खा लेते तो डरते रहते थे कि उनकी तोंद निकल आएगी, हालाँकि फ़ाक़ों के ज़माने में भी उनके जिस्म का यह हिस्सा बढ़ता रहा। ज़्यादा तेज़ भागते नहीं थे कि उनके दिल पर इसका असर पड़ेगा, हालाँकि उनके जिस्म के इसी रईस उज़्व ने उनका साथ छोड़ा। बड़ी-बड़ी सुर्ख़ बग़ावतों के नीले नक़्शे तैयार करते थे और पटाखे की आवाज़ सुनकर ज़र्द हो जाते थे।

उनको एक लड़की से मुहब्बत थी, लेकिन माँ-बाप किसी और से उनका रिश्ता पक्का

कर चुके थे। जब माँ-बाप को मालूम हुआ कि वह इश्क़ फ़रमा रहे हैं तो उन्होंने शादी की तारीख़ पक्की कर दी—बारी साहब उन दिनों मेरे साथ रहते थे। जब तारीख़ नज़दीक आई तो वह ग़ायब हो गए, लेकिन बकरे की माँ ज़्यादा देर तक ख़ैर न मना सकी—उनकी होनेवाली दुल्हन ने एक बड़ा मार्के का ख़त लिखा जिसमें यह धमकी दर्ज थी कि अगर उन्होंने उससे शादी न की तो वह उनके पेट में छुरी भोंक देगी—बारी साहब डर गए और शादी कर ली।

बर्मा की रसदगाहों में अपने सितारों का मुताला करने के लिए पहुँचे तो वहाँ एक बर्मी लड़की का सितारा उनके सितारों से टकराकर उनमें उलझ गया। आपने अपनी बीवी को वहाँ बुला लिया, लेकिन सितारों का उलझाव बदस्तूर क़ायम रहा। आख़िर जंग छिड जाने पर उनको एक मौक़ा मिला और वह वहाँ से भाग आए।

बड़े रनछोड़ क़िस्म के आदमी थे—इक़बाल की ख़ुदी का फ़लसफ़ा उनको इस क़दर पसंद आया था कि उसको अपना ओढ़ना-बिछौना बना लिया, मगर सर्दियों में मालूम हुआ कि वह काम नहीं दे सकता। इक़बाल के इरशाद[10] के मुताबिक़ उन्होंने अपनी ख़ुदी को मक़दूर[11] भर ऊँचा करने की कोशिश की, मगर बारी तआला ने उनसे कभी यह पूछने की तकलीफ़ गवारा न की कि ऐ बारी, बता तेरी रजा क्या है? आख़िर एक दिन वह ख़ुद ही इक़बाल से पूछने गए कि यह गडबड़ क्या है।*

उन दिनों बारी साहब की अपने अख़बार के दफ़्तर में रात की पाली होती थी। आख़िरी कॉपी प्रेस भेजकर जब वह फ़ारिग होते तो अल्लामा इकबाल मरहूम की क़ब्र पर चले जाते और देर तक उनकी रूह से फ़लसफ़ा-ए-ख़ुदी[12] पर बातचीत करते रहते—बहुत तंगहाल थे। तनख़्वाह कभी-कभी मिलती थी और वह भी क़िस्तों की सूरत में। अख़बारों के मालिक यह समझते थे कि उनके अमले के आदमी बारबरदार हैवान हैं; जिसको जो कुछ दे दिया जाए, वही बहुत है—बारी साहब हस्सास[13] आदमी थे। कर्ज़ लेते थे, मगर बोझ महसूस करते थे। ख़ुदी को काफी बुलन्दी पर ले गए थे, मगर अब उसमें और ज़्यादा बुलंदी तक पहुँचने की गुंजाइश बाकी नही रही थी—चुनांचे भिन्नाकर अल्लामा की क़ब्र पर गए और उनकी रूह से बड़े बाग़ियाना[14] सवाल करने शुरू कर दिए- मेरा ख़याल है, अगर अल्लामा जिंदा होते तो उन्हें उन सवालों का जवाब देते वक्त बड़ी मुश्किल का सामना करना पडता।

बगावत का यह जोश भी उनके दिलो-दिमाग़ में ठंडा हो गया—अगर वह बुज़दिल न होते तो मेरा ख़याल है कि आम इंसानी ज़िंदगी पर इकबाल के फ़लसफ़ा-ए-ख़ुदी के ततबीक़ो-इतलाक़[15] के मसले पर यक़ीनन बसीरत अफ़रोज़[16] रोशनी डाल सकते, मगर वह तमाम कोंपलें, जो उनके हस्सास दिलो-दिमाग की शाख़ों से जोश के बायस फूटी थीं, उस बुज़दिली के बायस मुरझा गईं—मालूम नही, उनके दूसरे दोस्त मुझसे इत्तिफ़ाक़ करते

---

* ख़ुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले,
ख़ुदा बंदे से ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है। —इकबाल

हैं या नहीं करते, लेकिन मैं समझता हूँ, अगर वह साबितकदम[17] होते और गर्दो-पेश की मुख़ालिफ़ क़ुव्वतों का मुक़ाबला डटकर करते तो उनके क़लम से 'इन्क़िलाबे-फ़्रांस' के बजाय 'इन्क़िलाबे-हिंदुस्तान' निकलती, और यह भी मुमकिन है कि अट्ठारह सौ सत्तावन का तात्या टोपे उनके क़ालिब[18] में दूसरा जन्म लेता।

इक़बाल की तरह वह भी ख़ुदा से यह कहते रहे: "कारे जहाँ दराज़ है, अब मेरा इंतज़ार कर", मगर उस वक़्त जबकि उनको ख़ुदा की तरफ़ से कोई बुलावा नहीं आता था—लेकिन जब बुलावा आया तो वह "कारे जहाँ दराज़ है, अब मेरा इंतज़ार कर" न कह सके और इकबाल के मानिंद चल दिए—वह कनजश्के-फ़रोमाया[19] को शाहीन से लड़ाने के लिए तैयार करते रहते, मगर जब उसे पाली में उतारने का मरहला आता तो पिंजरा वहीं छोड़ के भाग जाते और उस ग़रीब को दो-दो चोंचें लेने और शिकस्त खाने का भी मौक़ा न मिलता।

बारी साहब ख़याली पुलाव पकाने के मामले में अव्वल दर्जे के बकावल थे। ऐसे-ऐसे लज़ीज़ पुलाव और बिरयानियाँ तैयार करते थे कि उनका ज़ाइक़ा देर तक दूसरों के दिलो-दिमाग से महव नहीं होता था—मुझे याद है, जब 'ख़लक़' दो इशाअतों के बाद उन्होंने बंद कर दिया और चंद अख़बारों में काम करने के बाद उन्हें कुछ हासिल वुसूल न हुआ तो उन्होंने एक हफ़्तावार अख़बार 'मोचना' निकालने का इरादा किया। उसकी सुर्ख़ियाँ कैसी होंगी, मजामीन किस नौइयत[40] के होंगे, इसके मुताल्लिक़ उन्होंने लफ़्ज़ों के जरिए ऐसी तसवीरकशी की कि उस मुजव्विज़ा पर्चे के कई शुमारे आँखों के सामने से गुज़र गए और देर तक फ़ज़ा-ए-आसमानी से हम पर, जो सुन रहे थे, मोचनों की बारिश होती रही।

एक बार सहाफ़त के पेशे से तंग आए तो जंग का यह रास्ता निकाला कि वह सहाफ़त को छोड-छाड के चारा काटने की मशीन लगा लेंगे और मज़े की ज़िंदगी बसर करेंगे—उस मज़े की ज़िंदगी को उन्होंने तसव्वुर की आँखों से देखा और अपने मख़्सूस अंदाज़ में बयान करना शुरू कर दिया जो मेरे ज़ेहन पर मुर्तसम[41] हो गया। चुनांचे बहुत बाद में, जबकि मैं आल इंडिया रेडियो, देहली में मुलाज़िम था, मैंने एक रेडियाई ड्रामा 'जर्नलिस्ट' के उनवान से लिखा। इस ड्रामे के मर्कज़ी किरदार का नाम बारी ही था—जब यह नश्र हुआ तो एक हंगामा बरपा हो गया। हिंदुस्तान के क़रीब-क़रीब हर उर्दू अख़बार ने इसके ख़िलाफ़ नोट लिखे, इसलिए कि उससे अख़बार के मालिकों की तौहीन होती थी—ट्रेजिडी यह थी कि उन सहाफ़ियों से उस ड्रामे के ख़िलाफ़ लिखवाया गया जिनकी नागुफ़्ताबेह[42] हालत की अक्कासी उसमें की गई थी।

यहां पर उस ड्रामे के चंद इक्तिबास[43] नक़्ल करने शायद बेमहल नहीं होंगे—जर्नलिस्ट बारी सहाफ़त छोड़कर चारा काटने की मशीन लगा लेता है और बहुत ख़ुश है। उसकी ख़ुदकलामी मुलाहिज़ा हो:

अब्दुल बारी (*हँसता है।*) रोज़ की कोई डेढ़-दो रुपए की आमदनी हो जाती है सारा दिन यहाँ दूकान पर गुजारता हूँ और शाम को ठेके पर चला जाता हूँ गप्पे हाँककर फिर टहलता-टहलता यहाँ आ जाता हूँ

[*ज़ोर से हँसता है।*]

ख़बरें तर्जुमा करना पड़ती हैं न कापियाँ जोड़ना पड़ती हैं टेलीफ़ोन की बक-बक न मुरासलों[44] की बकवास कातिब न राइटर की सर्विस (*हँसता है।*)

वल्लाह क्या गुर बताया है मेरे दोस्त ने गर्मियों में दूकान के बाहर छिडकाव करके सो जाता हूँ सर्दियाँ आएँगी तो अंदर घास के पास चारपाई बिछा लिया करूँगा कितनी अच्छी ज़िंदगी है मेरा तो यह जी चाहता है कि सब एडिटरों को, जो अखबारों में अपनी ज़िंदगी तबाह कर रहे हैं, यह गुर बता दूँ उनसे कहूँ कि अपने-अपने शहर में ऐसी मशीन लगवा लें और मुझे दुआ दें

[*ज़िंदगी बड़ी हमवार गुजर रही थी कि अचानक दूसरी जंगे-अज़ीम[45] छिड़ गई। इसकी इत्तिला बारी को शराब-ख़ाने में मिलती है और उसके दिलो-दिमाग में सोया हुआ सहाफ़ी जाग पड़ता है। उसको बहुत कोफ़्त होती है, जब वह आसपास बैठे हुए शराबियों की गुफ्तगू सुनता है जो बटेरों से मुताल्लिक़ है—तंग आकर वह चिल्ला उठता है।*]

ख़ामोश यह तुमने क्या बकवास शुरू कर दी है तुम लोग वाक़ई बिलकुल जाहिल हो योरोप में एक ऐसी जंग शुरू हो गई है जो कई मुल्कों को दुनिया के नक़्शे से हमेशा के लिए मिटा देगी लाखों-करोड़ों आदमी हलाक हो जाएँगे दुनिया मे एक तूफ़ान मच जाएगा और तुम लोग हो कि बटेरो की लड़ाई का हाल बयान कर रहे हो आख़िर तुम्हे क्या हो गया है?

पहला शराबी : क्या बक रहे हो?

दूसरा शराबी : (*क़हक़हा लगाकर*) मैं तो कुछ नहीं समझा

[*वक्फ़ा।*]

बारी, यह आज तू कैसी बातें ले बैठा है?

पहला शराबी : ज़्यादा पी गया है इसके दिमाग़ को चढ़ गई है।

दूसरा शराबी : है भी तो बड़ी नामुराद चीज़!

अब्दुल बारी : तुम बकवास कर रहे हो मैं बिलकुल होश में हूँ तुम बेहोश हो रहे हो मैं जो कुछ इस वक़्त सोच रहा हूँ, तुम्हारा फ़लक भी नहीं सोच सकता तुम सबके-सब अनपढ़, बेवक़ूफ़ जाहिल हो।

पहला शराबी : अरे वाह रे मेरे मौलवी!

अब्दुल बारी : तुम मेरी बातों का मज़हका न उड़ाओ

[*हँसता है।*]

मगर यह तुम्हारा क़ुसूर नहीं क़ुसूर मेरा अपना है मैंने अब तक अपनी असलियत तुमसे छुपाकर रखी है तुम नहीं जानते, मैं कौन हूँ और सियासी दुनिया में मेरी किस क़दर अहमियत है।

पहला शराबी : मियाँ, तुम रुस्तम हो लो बस अब जाने दो और कोई बात करो।

अब्दुल बारी : तुम्हें जब तक मेरी असल शख़्सियत मालूम नहीं होगी, तुम मेरा मज़हका उड़ाते रहोगे जानते हो, मैं कौन हूँ ? मेरा नाम अब्दुल बारी है मौलाना अब्दुल बारी, एडिटर रोज़नामा 'खलक़'।

इस आख़िरी जुमले में जो अलमिया पोशीदा है, वह किसी तब्सिरे का मोहताज नहीं।

बारी मरहूम ने बिलआख़िर सहाफ़त छोड़ दी थी और चारा काटने की मशीन लगा ली थी, गो यह मशीन उनकी नहीं, सरकारे-बरतानिया की मिल्कियत* थी—लोग अक्सर उनका मज़हका उड़ाते थे, इसलिए कि सारी उम्र अंग्रेज़ को गालियाँ देने के बाद उन्होंने उसी की नौकरी क़ुबूल कर ली थी। लेकिन वह यक़ीनन दिल-ही-दिल में यह ज़रूर पुकारते रहे होंगे : 'तुम्हे जब तक मेरी असल शख़्सियत मालूम नही होगी, तो मेरा मज़हका उड़ाते रहोगे मगर यह तुम्हारा क़ुसूर नहीं क़ुसूर मेरा अपना है मैंने अब तक अपनी असलियत तुमसे छुपाए रखी।'

यह मेरी अपनी तावीलो-तावीर[46] है कि बारी साहब ने अपनी ज़िंदगी में हमेशा फ़रार के रास्ते इख़्तियार किए और उन रास्तों पर भी उन्होंने हमेशा फूँक-फूँककर क़दम रखा। यही वजह है कि उनकी रूह लोगों की निगाहों से पोशीदा रही और इसमें क़ुसूर सरासर उनका अपना था। वह बड़ी-बड़ी चट्टानों से टक्कर लेने के लिए आगे बढ़ते थे, लेकिन उनका रुख़ किसी और तरफ़ हो जाता था और यह सबकुछ उनके अपने ज़ोम[47] मे होता था।

उस ड्रामे में अब्दुल बारी एक जगह अपनी रौ में कहता है : "पहली जंग से लेकर इस जंग के आग़ाज़ तक के वाक़िआत को अगर हम पेशे-नज़र रखें तो यह मालूम करके बड़ा दुख होता है कि मुहज़्ज़ब दुनिया ज़िल्लत की दलदल में धँसती चली गई है साइंस की तरक़्क़ी जारी है लेकिन अख़्लाक़ी ज़िम्मेदारी का एहसास कम होता चला गया है। नौ-ए-इंसानी जहाँ थी, वहीं-की-वहीं खड़ी है। नस्ली इम्तियाज़ और मज़हबी अदावत बढ़ती गई है नतीजा हमारे सामने है। पहले जंगनुमा सुलह, फिर सुलहनुमा जंग मैं पूछता हूँ, आख़िर यह हमारी मुहज़्ज़ब दुनिया किधर जा रही है ? क्या हम फिर जहालत के ज़माने में वापस जा रहे हैं ? क्या एक बार फिर इंसान का ख़ून पानी से अर्ज़ां बिकेगा क्या

* "वह आख़िरी दिनों में ब्रिटिश इन्फ़ार्मेशन डिपार्टमेंट में मुलाज़िम हो गए थे।"

फिर हमारा गोश्त-पोस्त दूसरी अजनास की तरह बाजारों में बेचा जाएगा क्या होनेवाला है, कोई मुझे बताए, क्या होनेवाला है बेउसूली ने सैकड़ों उसूल पैदा कर दिए हैं और तफरका परदाजी ने हजारों जमातें पैदा कर दी है—इसान, इसान के खिलाफ, मिल्लत, मिल्लत से नबर्दआज्मा[48], मुल्क, मुल्क से सितेजाकार[49] यह है बीसवी सदी की इब्रतनाक दास्तान ''

यह खयालात बरट्रैंड रसल के हैं जो मैंने बारी साहब के मख्सूस खतीबाना अदाज में मुकालमे की शक्ल मे तब्दील कर दिए थे—बारी साहब का दिमाग बरट्रैंड रसल के दिमाग से कम नही था, लेकिन वह एक ऐसे मुल्क में पैदा हुए थे जिसके अखबारों के मालिकों से तग आकर इन्हे कई बार यह कहना पडा था ''आप कौम की खिद्मत कर रहे है मैं कौम की, अखबार की और आपकी खिद्मत कर रहा हूँ, लेकिन इस खिद्मत का मुआवजा मुझे कभी वक्त पर नही मिलता, बल्कि यूँ कहिए कि मिलता ही नही पिछले तीन महीनो में आपने मुझे सिर्फ सोलह रुपए दिए है खुदा का खौफ कीजिए, मै इसान हूँ, पत्थर नही हूँ मुझे भूक भी लगती है। कभी-कभी मिठाई खाने को भी मेरा जी चाहता है मुझे आपने इस अखबार का एडिटर बनाया था, कोई साधु या सन्यासी नही बनाया था जो मैंने दुनिया त्याग दी हो।''

तीन माह के अर्से में सिर्फ सोलह रुपए—मुमकिन है, यह मुबालगा आराई[50] हो, मगर यह वाका है कि जब बारी साहब रोजनामा 'अहसान' मे काम करते थे तो उन्हे दफ्तर से रद्दी चुराकर अपने इखराजात पूरे करने पडते थे— उन दिनो राजा मेहँदी अली खाँ* भी वही मुलाजिम थे। बारी साहब आदमी बडे मुख्लिस थे। जब उन्होंने देखा कि रद्दी बेचकर कुछ-न-कुछ वसूल हो जाता है तो उन्होंने राजा को भी इस वसीले[51] से आगाह कर दिया—बारी साहब तबअन एतिदाल पसद[52] और मोहतात[53] थे, लेकिन राजा धडल्ले का आदमी था। उसने एक-दो बार तो सिर्फ चद बडल चुराए, इसके बाद उसने बारी साहब से कहा ''यह खुर्दाफरोशी[54] गलत है मौलाना मै कल दो बोरियाँ लाऊँगा। उन्हे भरकर ले जाएँगे।''

बारी साहब डर गए, लेकिन राजा साहब ने उनको उस बडी डकैती पर आमादा कर लिया—बारी साहब पहरा देते रहे और राजा बोरियो मे रद्दी भरता रहा। फिर मजदूर बुलाए गए और वह बोरियाँ उठवाकर अपने साथ ले गए—राजा का बयान है कि उस दिन दोनो ने सनीमा देखा था।

राजा मेहँदी अली खाँ से रिवायत है कि उन दोनो को एक दफा बाजारों में भीख भी माँगनी पडी थी—स्कीम बारी साहब ने बनाई थी। लोगो के आगे दस्ते-सवाल क्योकर दराज किया जाएगा, मिस्कीन[55] और काबिले-रहम शक्लो-सूरत कैसी बनाई जाएगी, अपना दुखड़ा किस अदाज से और किन अल्फाज मे सुनाया जाएगा, यह सब बारी साहब ने

* राजा मेहँदी अली खाँ—एक जमाने के बाद जिन्होंने खूबसूरत फिल्मी गीत लिखे और जिनकी मधुर धुन मदन मोहन ने बनाई—राजा मेहँदी अली खाँ और मदन मोहन रुख्सत हो चुके हैं। —संपादक

ख़ुद सोचा और मुरत्तब किया था। लेकिन जब झोली फैलाने का मौक़ा आया तो बारी साहब झेंप गए और बमुश्किल दो-ढाई आने जमा कर सके। इसके बरअक्स राजा ने पौने तीन रुपए इकट्ठे किए।

यहाँ राजा के बयान किए हुए एक लतीफे का ज़िक्र ख़ाली अज़ दिलचस्पी न होगा : ग़ालिबन अनारकली में राजा भीख माँग रहा था। सामने से एक गूजर सर पर दूध का बहुत बड़ा वलटोहा उठाए चला आ रहा था। राजा ने, जो बारी साहब से इंसानी नफ़सियात पर कुछ लैक्चर सुन चका था, अंदाज़ा लगाया कि असामी मालदार है। अगर वह गूजर से अपनी हालते-ज़ार बयान करेगा तो गूजर का दिल ज़रूर पसीज जाएगा। राजा का ख़याल था कि उससे कम-अज़-कम एक रुपया तो ज़रूर मिल जाएगा। चुनांचे वह आगे बढ़ा—बारी साहब ने जो कुछ उसे बताया था, उसने बड़े ख़ुलूस के साथ गूजर को सुनाया—गूजर ने राजा से कहा : "ज़रा हाथ देना मेरे वलटोहे को " राजा ने काफ़ी ज़ोर सर्फ़ करके गूजर के सर का बोझ उतारने में मदद दी। जब वलटोहा उतर गया तो गूजर ने अपने तहमद का डब खोला। उसमें कई नोट और बहुत-सा किरयाना था, लेकिन गूजर ने उनमें से सिर्फ़ एक पैसा निकाला और राजा की हथेली पर रख दिया। और सितम बालाए-सितम राजा से कहा : "लो जवान, अब वलटोहा रखवा दो मेरे सिर पर।"

और यह तो मैं भी जानता हूँ कि बारी साहब और हसन अब्बास, मुफ़िलसी के ज़माने में पेट में कुछ डालने के लिए फलों की उस दूकान से रात के वक़्त अक्सर केले और सेब चुराया करते थे, जिसके ऊपर उन्होंने एक कमरा किराए पर ले रखा था—उस कमरे में बिजली का कनैक्शन नहीं था, मगर बारी साहब ने हसन अब्बास को अपना 'बिजलीघर' बनाने की तरकीब समझा दी थी। चुनांचे वह एक ज़माने तक म्युनिसिपैलिटी के तार से अपना तार जोड़कर वह कमरा रोशन करते रहे।

मुझे एक और लतीफ़ा याद आ गया जो पुरानी अनारकली के उसी कमरे से मुताल्लिक़ है, जहाँ बारी साहब और हसन अब्बास इकट्ठे रहते थे : यह उस ज़माने की बात है, जब मैं ग़ालिबन सात बरस के बाद बंबई से आया था। इस दौरान में मामूली ख़तो-किताबत रही थी—हसन अब्बास मुझे स्टेशन पर ही मिल गया था। उन दिनों शराब पर कोई पाबंदी नहीं थी। स्पैंसरवाले रबड़ टायर गाड़ियों पर शराब आम बेचते फिरते थे—अब्बास से बड़ी देर के बाद मुलाक़ात हुई थी, चुनांचे इस ख़ुशी में हम दोनों ने फ़ैसला किया कि सुबह ही से शुरू कर देनी चाहिए ताकि जज़्बात घुटे-घुटे न रहें और जो बात की जाए, खुल के की जाए। यह फ़ैसला होते ही हमने अपने दिल की चाबियाँ जॉनीवाकर के हवाले कर दीं।

ख़याल था कि बारी साहब स्टेशन पर मौजूद होंगे, मगर बक़ौल हसन अब्बास, वह हस्बे-मामूल ज़लीलुल्दहर निकले। ताँगा लेकर हमने इधर-उधर तलाश किया और आख़िर ढूँढ़ निकाला। वह इसलिए छुप गए थे कि उन्होंने मेरी आमद के साथ ही शराब का सैलाब देख लिया था और बंद बाँधने में मसरूफ़ थे। मैंने और अब्बास ने उन्हें बहुत लान-तान की और पुरानी सोहबतों का हवाला देकर उनके आरिज़ी ज़ुह्द[56] की ख़ूब मिट्टी पलीद की। नतीजा यह हुआ कि वह एकदम ख़ुम-के-ख़ुम उँडेलने पर आमादा हो गए।

मालूम नही, उन दिनो अबू सईद कुरैशी बी ए का किला सर करने के लिए अपने आखिरी हमले की तैयारी कर रहा था, या उस किले को फतह करने के बाद हाथ-पर-हाथ धरे बैठा था। बहरहाल वह हमें किसी-न-किसी तरह मिल गया—उसमे और पुराने सईद कुरैशी के बाप मे कोई फर्क नहीं था। वह उसी तरह अब भी उम्र खैयाम की रुबाइयाँ खरीदता था और नहर के किनारे, चाँदनी रात और गुल अजार माशूक के ख्वाब देखता था—बारी साहब ने तज्वीज पेश की कि उस जुर्म की सजा उसको यह दी जाए कि वह एक अदद जॉनीवाकर खरीदे। मुजरिम ने सजा कुबूल की और फौरन भुगत ली।

पुरानी अनारकली के उस तारीखी कमरे मे हम सब जमा थे। मैं, बारी साहब, अबू सईद कुरैशी, हसन अब्बास और अब्दुल्लाह मलिक*—थोडे अर्से के लिए राजेंद्र सिंह बेदी भी आया।

बारी साहब हस्बे-तौफीक सफाईपसद थे। अपनी मेज की झाड-पोंछ और उसके बनाव-सिंगार में काफी वक्त सर्फ करते थे। इस मामले मे वह बिलकुल बच्चो की मानिंद थे—नाखून काटने की छोटी-सी कैंची है, वह भी अपने कलमदान के साथ सजावट के तौर पर वहाँ रख दी है, साथ ही शेव करने का उस्तरा पडा है, कही से गोल बटटा मिल गया है तो उसे आपने पेपरवेट बना लिया है, किताबो के ऊपर कागज के गर्दपोश चढे हुए हैं; उनके ऊपर सुई-धागा रखा है, एक फाइल है और उसमे मुख्तलिफ रिसालो से काटी हुई तसवीरें जमा हैं—बारी साहब को कैंची इस्तेमाल करने का बहुत शौक था। मालूम नही, क्यो हो सकता है, इसलिए कि वह अखबार की कापी खुद ही जोडा करते थे। यह काम न्यूज एडीटरो के फराइज मे अब भी दाखिल है, लेकिन यह समझ मे नहीं आता कि अखबार की कापी जोडने से पहले उनको इस औजार से क्यों इतनी रगबत थी—मुझे अच्छी तरह याद है कि अमृतसर में रोजनामा 'मसावात' के दफ्तर मे वह उंगलियों मे कैंची फँसाकर जब कापी जोडने बैठते थे तो ऐसा लगता था कि वह कोई बहुत दिलपसद काम शुरू करनेवाले है।

उनका मेज आमतौर पर दीवार के साथ लगा होता था, इस तरह कि जब वह लिखने बैठेगे तो दीवार उनके सामने हो—लिखते वक्त कोई रोक उनकी आँखो के सामने होनी जरूरी थी—मुझे याद है, एक बार मैंने घर मे अपने मेज का रुख बदल दिया था। बारी साहब को कुछ लिखना था। कुर्सी पर बैठे तो बेचैनी महसूस करने लगे। मैंने वजह दरयाफ्त की तो कहा "जब तक मेरी आँखो के सामने कोई रोक न हो मैं नही लिख सकता" और यह कहकर उन्होने वर्ल्ड एटलस उठाई और अपने सामने रख ली।

बात कहाँ-से-कहाँ पहुँच रही है, लेकिन मैं मजबूर हूँ। पुरानी अनारकली के कमरे से निकलकर खुदा मालूम कहाँ जा रहा हूँ, लेकिन आप मुझे माफ कर दीजिए। जो बात जेहन मे उभरती है, मै उसी वक्त कलमबद कर देता हूँ कि भूल न जाऊँ—अभी-अभी जब मैंने तसव्वुर मे उन्हे लिखते देखा तो वह अपने दाँत रगड रहे थे। यह बारी साहब की आदत

जो आजकल ज्यादा खूबसूरत है।'—मंटो

थी। लिखने के दौरान में वह अपने दाँत ज़रूर कटकटाते थे, जैसे ग़ुस्से में हों। छोटे-छोटे गोल हरुफ़ लिखते थे, इतने गोल के बाज औकात मेरे लिए उनकी इबारत के अक्सर लफ़्ज एक-दूसरे के तवाम होते थे।

पुरानी अनारकली के उस तारीख़ी कमरे में उनके मेज़ के साथवाली दीवार पर वह तारीख़ी ग्रुप भी आवेज़ा[58] था जो हमने अमृतसर में उतरवाया था। उसमें अब्बास है, मैं हूँ, बारी साहब हैं और अबू सईद क़ुरैशी भी मौजूद है। बारी साहब ने उस फ़ोटो के नीचे शायद 'अमृतसर स्कूल ऑफ़ थॉट' लिखा हुआ था। यह बारी मरहूम को बहुत अजीज था—'मिलाप' या 'प्रताप' के दफ़्तर में काम करते हुए, अपना कोट खूँटी से लटकाकर जब आप सिगरेट लेने के लिए बाहर निकले थे और सीधे बर्मा जा पहुँचे थे तो अपने साथ यह ग्रुप फ़ोटो लेते गए थे।

मैं जब उस कमरे में, जो अब्बास और बारी साहब का घर था, दाख़िल हुआ तो सबसे पहले बारी साहब ने मुझे वह ग्रुप दिखाया और अपने मख़्सूस अंदाज़ में, जिसमें बच्चो की तालियाँ पीटनेवाली ख़ुशी घुली होती थी, कहा : "ख़्वाजा साहब, यह देखिए " इससे आगे वह और कुछ न कह सके, लेकिन उनके चेहरे के तमाम ख़द्दोख़ाल अपनी सियाह कन्चा उतार चुके थे और मुसकरा रहे थे।

मरहूम को मुझसे बहुत मुहब्बत थी। उनको मुझ पर नाज़ भी था, मगर इसका इज़हार उन्होंने मेरे सामने कभी नहीं किया। और मुझे यह भी मालूम नहीं कि उन्होंने कभी किसी से इस अंदाज़ से कहा हो कि मंटो उनका बनाया हुआ है, हालाँकि यह हक़ीक़त है कि मुझे तहरीरो-तस्नीफ़[59] के रास्ते पर डालनेवाले वही थे। अगर अमृतसर में उनसे मेरी मुलाक़ात न होती तो हो सकता है कि मैं एक ग़ैर मारूफ़ आदमी की हैसियत से मर-खप गया होता, या चोरी-डकैती के जुर्म में लंबी क़ैद काट रहा होता।

मैं और अब्बास, बक़ौल बारी साहब काफ़ी 'गुट' थे। एक शराब का, दूसरा इतनी तवील मुद्दत के बाद मिलने का नशा। हम सब झूम रहे थे। अबू सईद क़ुरैशी की बोतल खोली गई और दौर शुरू हो गए—बारी साहब पीकर बहुत दिलचस्प हो जाते थे। वह, जो कपड़ों के बजाय जुज़दान[60] में लिपटे और कुर्सी के बजाय रहल[61] पर बैठे होने की तसवीर पेश किया करते थे, शराब के चंद घूँटों के बाद एक मुख़्तलिफ़ शक्ल इख़्तियार कर लिया करते थे। उनकी तबीयत में वह मज़ाहिया[62] और फ़रहिया[63] अनसर[64], जो अक्सर शरई पाजामा पहने रहता था, बेरीशो-बरूत[65] होकर सामने आ जाता था। उस वक़्त जी चाहता था कि वह बोलते रहें और हम सुनते रहें। और यह वाक़ा है कि ऐसे वक़्तों में किसी और को बोलने का मौक़ा भी वह शाज़ो-नादिर[66] ही देते थे।

राजेंद्र सिंह बेदी, रूसी नाविलनवीस शोलोख़ोफ़ के 'एंड क्वाइट फ़लोज़ दी डान' के मुताल्लिक़ बातचीत कर रहा था। यह नाविल हममें से किसी ने भी नहीं पढ़ा था। बेदी कुछ इस अंदाज़ में गुफ़्तगू कर रहा था कि मुझे ख़्वाहमख़्वाह उसमें शरीक होना पड़ा और यह ज़ाहिर करना पड़ा कि नाविल मेरा पढ़ा हुआ है। जब मैंने इसका इज़हार किया तो बेदी बौखला-सा गया—बारी साहब ताड़ गए कि मामला क्या है। उन्होंने शोलोख़ोफ़ की

नाविलनवीसी पर एक लैक्चर शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि बेदी को थोडी देर बाद बडे बैडपन मे इस बात का इकरार करना पडा कि उसने शोलोखोफ का जेरे-तब्सिरा नाविल नही पढ़ा है। मैंने भी हकीकत का इजहार कर दिया। बारी साहब खूब हँसे और आखिर मे उन्होने अपने मख्सूस अदाज मे हाजरीन को बताया कि शोलोखोफ का नाम उन्होने पहली मर्तबा बेदी के मुँह मे सुना है और उसकी नाविलनवीसी पर जो लैक्चर उन्होने पिलाया है, उनकी दिमागी इख्तिराग है— राजेद्र सिंह बेदी को दूर जाना था, इसलिए वह इजाजत लेकर चला गया।

गालिबन दिसबर के दिन थे। सख्त सर्दी थी। मै चूँकि एक मुद्दत तक बाहर रहा था इसलिए यह सर्दी खासतौर पर मझे बहुत ज्यादा महसूस हो रही थी लोहे की अँगीठी मौजूद थी। बारी साहब ने फौरन आग का इतिजाम कर दिया। दरवाजा खोलकर बाहर गए और थोडी-सी लकडियाँ ले आए। उनको अँगीठी में करीने से रखकर उन्होंने जानीवाकर की बोतल खोली और कुछ छीटे लकडियो पर मारे फिर जरतुश्त जरतुश्त कहते हुए उनको माचिस दिखाई। जब आग सुलग उठी तो सजदे मे चले गए।

सजदे का जिक्र आया तो मुझे याद आ गया है कि वह बडे सजदागुजार थे—एक जमाना था कि वह अमृतसर मे पाँच के बजाय कभी आठ, कभी दस वक्त नमाज पढ़ा करते थे। वह जिस कमरे मे बैठा करते थे, उसका नाम उन्होने दारुलअहमर रखा हुआ था। वहाँ जब भी उन्हे नमाज अदा करने की हाजत महसूस होती बीबीजान* को आवाज देते और पानी का लोटा और जानमाज मँगवा लेते। यह तो उनके मन की मौज का किस्सा है, लेकिन जब कभी उनसे कोई गलती सरजद हो जाती और मैं या अब्बास उस गलती को पकड लेते तो वह फौरन अपने कान ऐंठना शुरू कर देते और सहव के लिए एक-दो सजदे बडे खुलूस के साथ अदा करते।

मुझे अपना एक सजदा याद आ गया है जो अभी तक मेरे माथे मे रडक रहा है—यह भी अमृतसर ही की बात है। बारी साहब को मेरी शराबनोशी पसद नही थी। मैं समझता था कि वह बनते हैं—एक शाम को वह मेरे साथ थे। हम सैर करते-करते रेलवे स्टेशन के रिफरेशमेट रूम मे पहुँच गए। मैंने बैरे को समझा दिया कि वह मेरे लिए व्हिस्की लाए और बारी साहब के लिए जिंजर, जिसमे एक पैग जिन का शामिल हो।

बारी साहब को कोई-न-कोई और खासतौर पर पेट का आर्जा लाहक रहता था—मैंने उनसे कुछ पीने के लिए पूछा तो कहने लगे "नही मैं कुछ नही पियूँगा मेरा मेदा खराब है।"

बारी साहब जिद्दी नही थे। थोडी-सी लैक्चरबाजी के बाद उन्हे किसी बात पर भी आमादा किया जा सकता था। चुनाचे मैंने अदरक के फाइदे बताए और कहा कि जिंजर का पानी उनके मेदे की तमाम खराबियाँ दूर कर देगा। आप राजी हो गए।

मैंने व्हिस्की पीना शुरू कर दी और उन्होने जिंजर, जिसमे जिन शामिल थी—यह

* मेरी वालिदा मरहूमा। —मटो।

महलूल[70] जब उनके हलक़ से उतरा तो उनको फरहत हासिल हुई।

मैंने अपनी व्हिस्की ख़त्म करके जब दूसरा पैग तलब किया तो उन्होंने भी ख्वाहिश ज़ाहिर की कि वह एक जिंजर और पिएँगे—बैरा उसी क़िस्म का एक और मश्रूब[71] तैयार करके ले आया।

बारी साहब को बहुत लुत्फ आया—उन्होंने मुझसे कहा : "अदरक के फ़ाइदे मैंने तिब की किसी किताब मे पढे थे वाकई बड़े मार्के की चीज है वह बोझ-सा, वह ऐंठन-सी जो मैं सुबह से महसूस कर रहा था बिलकुल गायब है।"

मैं हँस पड़ा—इसके बाद मुझे उनको बताना पडा कि मार्के की चीज़ कौन-सी थी।

वह बहुत खफा हुए, बल्कि यूँ कहिए कि उनको बहुत दुख हुआ—मेरी तिफ्लाना हरकत उन्होंने माफ तो कर दी, मगर मैं महसूस कर रहा था कि उन्हें सख़्त रूहानी कोफ्त हुई है। चुनाचे मैंने उनसे सदक दिल से वादा किया कि मै आइंदा कभी शराब नहीं पियूँगा।

बैरा बिल लाया तो बारी साहब ने पैंसिल से उस पर इकबाल का यह मिस्रा लिख दिया ' यारब दरोने सीना दिल बा खबरीदा।"[72]

मुझ पर इस वाक़े का बहुत असर हुआ, इतना असर कि जब मैं रात को घर लौटा तो गली के ठंडे फर्श पर मैंने सजदा किया और खुदा से दुआ माँगी कि वह मुझे अपने इरादो में साबितकदम रहने की तौफीक अता फरमाए, और उस गुनाह को जो मुझसे सरज़द हुआ है, माफ कर दे—उस सजदे से तबीयत का बोझ तो हल्का हो गया, मगर एक और बोझ उस पर लद गया कि अब मैं पी नही सकता था—कई दिन गुजर गए। हर वक्त उदासी छाई रहती थी, लेकिन दिल के परचाने के लिए एक बात मौजूद थी कि मैं अपने वादे पर क़ायम हूँ और एक लानत से बचने की कामयाब कोशिश कर रहा हूँ।

एक दिन शाम को बारी साहब आए। मैं खिडकी मे बैठा था। उन्होंने बाहर गली में खडे-खडे मेरा मिज़ाज पूछा—मैंने मुसकराकर कहा "क्या पूछते हैं बस ठीक है!"

बारी साहब ने एक लम्हे के लिए सोचा और कहा "मैं अभी आता हूँ।"

जब वह आए तो उनके पाजामे मे शराब का अद्धा उडसा हुआ था—मुझे सख़्त हैरत हुई। मैंने उनसे कुछ कहना चाहा मगर उन्होंने सुनने से इनकार कर दिया और बोतल खोलना शुरू कर दी।

इतने मे अब्बास आ गया—बारी साहब के कहने पर सब दरवाजे बंद कर दिए गए। अंदर से रोटी मँगवाई गई जो किसी ने भी न खाई। सालन वगैरह अलग रख लिए गए और गिलास छोडकर बाकी बर्तन वापिस भेज दिए गए। अब्बास कुएँ से लोटे मे पानी लाया और हम सबने पी—वह सजदा, जो मैंने गली के ठंडे फर्श पर उस रात खुदा के हुजूर अदा किया था, मेरी पेशानी में तडपता रहा।

हम पी रहे थे तो हसन अब्बास ने छेडने की ख़ातिर बारी साहब से कहा : "आपकी यहाँ सब इज़्ज़त करते हैं। बीबीजान आपको नमाजी और परहेजगार की हैसियत से जानती हैं।

[72] मंटो के इसी तास्सुर से मंटो ने बरसों बाद एक अफसाना 'सजदा' लिखा था जो उसके तीसरे अफसानवी मजमुए 'धुआँ' में मौजूद है।

उनके दिल में आपका एहतिराम[73] है अगर वह यहाँ आ जाएँ तो क्या हो ?"

बारी साहब ने कहा ' मैं खिड़की खोलकर बाहर कूद जाऊँगा और फिर कभी उनको अपनी शक्ल नही दिखाऊँगा।"

बारी साहब हमेशा अपनी जिंदगी की कोई-न-कोई खिडकी खोलकर बाहर कूद जाते रहे—वह खिड़की खुली रहती, मगर वह फिर कभी उसको अपनी शक्ल न दिखाते।

खिडकी खोलकर बाहर कूद जाने मे मैं किसी तजहीक[74] का नाता नही जोड रहा। असल मे वह निजाम जो अंग्रेजों से मुतास्लिक था, और जिसमे बारी मरहूम ने अँगूठा चूसने से लेकर कलम चूमने तक, और कलम चूमने से लेकर अपना खून चमाने तक के तमाम मराहिल उफ्ताँ व खीजाँ[75] तय किए, और उसके बाद वह निजाम जिसमें उन्होने इकबाल मरहूम की उन तेगो के साए मे जो रेडियो पाकिस्तान ने अपने प्रोग्रामो मे बेनयाम की थी, अपनी जिंदगी की शाम के आखिरी धुँधलको को सँवारने की कोशिश की, ऐसी बेशुमार खिडकियो से पर था जिनके खटके बाहर कूद जाने की हल्की-सी ख्वाहिश पर भी खुद-ब-खुद खुल जाते थे।

फिर देखिए, मैं कहाँ-का-कहाँ पहुँच गया—बात पराने [illegible] की के उस कमरे की हो रही थी जहाँ दिसम्बर की खून मुंजमिद[76] कर देनेवाली सर्दी [illegible] रहे थे। बारी साहब थोड-थोडे वक्फो के बाद बाहर जाते और अँगीठी की आग बरकरार रखने के लिए ईधन ले आते। बहुत देर के बाद मिलना हुआ था, इसलिए वक्त गुजरने का कतअन एहसास नही था। बारी साहब जरतुश्त की अगयारी[77] के लिए कितनी मर्तबा ईधन लाए, यह भी याद नही, लेकिन अभी तक यह जरूर याद है कि जब मैं सुबह कमरे से बाहर निकला तो बाजार की तरफ लकडी का जो शकिस्ता-सा[78] जगला था, बिलकुल गायब था। उसकी राख अलबत्ता कमरे मे अँगीठी के अदर मौजूद थी।

अब्बास ने बारी साहब को धडकाया कि अगर मालिक मकान को इल्म हो गया कि वह जगला जला-जलाकर आग तापते रहे है तो वह कबाब हो जाएगा और बयक बिनी व दागोश[79] उनको निकाल बाहर कर देगा—बारी साहब, जैसा कि मै बयान कर चुका हूँ, बहुत डरपोक थे। अब्बास ने जब उनको उस गैर वाजिब हरकत से आगाह किया तो वह खिसियाने-से हो गए। उन्होने बात को हँसी मे उडाने की भौडी-सी कोशिश की मगर नाकाम रहे—आखिर मे अब्बास ने कहा हम उसको खबर होने से पहले निकल जाएँगे।"

लेकिन मुसीबत यह है कि निकल जाने से पहले उनके अलावा हर एक को खबर हो जाती थी—वह जब 'मिलाप' या 'प्रताप' के दफ्तर में खूँटी से अपना कोट लटकाकर सिगरेट लेने के लिए बाहर निकले और बर्मा पहुँच गए तो उनका यही खयाल था कि किसी को खबर तक न होगी, मगर जाननेवाले जानते थे कि यह किधर का रुख किया है।

बारी साहब ने मुख्तलिफ छोटे-बडे शहरो की रसदगाहो मे अपनी किस्मत के सितारो का मुताला किया, लेकिन घूम-फिरकर आखिर उन्हे लाहौर ही की रसदगाह मे आना पडा जो किसी जमाने में अरब होटल मे थी और बाद मे नगीना बकरी मे अपने जमला

साज़ो-सामान के साथ उठ आई थी। यहाँ और वहाँ बड़े-बड़े मुहंदिस[80] और सिताराशनास[81] जमा होते थे। इनमें से कुछ उनकी ज़िंदगी में अपने सितारों से आगे दूसरे जहानों में चले गए और कुछ अपने बेनूर सितारों के लिए बुलंद नशीनों की चमक-दमक भीख के तौर पर माँगते रहे।

बारी साहब को जब कभी मैंने उन महफ़िलों में देखा, मुझे यूँ महसूस हुआ कि वह गरम-गरम काली कॉफ़ी का प्याला हैं जिसमें से भाप का धुआँ उठ रहा है जो सिर्फ चंद लम्हों के लिए फ़ज़ा में लहराता, बल खाता है और फिर उसकी नमी की आग़ोश में सो जाता है—उन महफ़िलों में, उन गुनगुनी, गरम व सर्द मोहबतों में उनके वज़नी सर की हंडिया से तरह-तरह के ज़ेहनी माकूलात[82] की ख़ुशबदार भाप उठती, मगर उन होटलों और बेकरियों की कसीफ़ फ़ज़ा में थोड़ी देर अपनी नज़ाकत और नुदरत[83] पर इतरा-इतराकर वहीं सो जाती।

बारी साहब बातों के बादशाह थे—कूचा वकीलां के 'दारुल अहमर' में जब वह वली अल्लाह* का सहारा लेकर बैठते तो दिलचस्प बातों के दरिया बहने शुरू हो जाते—उन दिनों मंसूर साहब+ भी कभी-कभी तशरीफ़ लाते थे। आप मेरी हरकातो-सकनात[84] में गहरी दिलचस्पी का इज़हार फरमाया करते थे। बारी साहब की तरह वह भी मेरी हौसला अफ़ज़ाई किया करते और बातों-बातों में मुझे यक़ीन दिलाते कि मैं बहुत जल्द तहरीरो-तस्नीफ़ के क़ाबिल हो जाऊँगा।

अमृतसर का जिक्र आया तो मुझे एक दिलचस्प लतीफा याद आ गया। मैं, बारी साहब, हसन अब्बास और अबू सईद क़ुरैशी अपनी महफ़िल में किसी और की शर्मूलियत[85] पसंद नहीं करते थे—कामरेड फ़ीरोज़ुद्दीन मनसूर से हम सबकी साहब-सलामत थी। कभी-कभी वह भी 'दारुलअहमर' तशरीफ़ ले आते थे, मगर उनकी तशरीफ़ आवरी हम सबको नागवार मालूम होती थी। बारी साहब अज़राहे-मज़ाक़ कहा करते थे कि कामरेड साहब पोटाशियम परमैगनेट से बम बनाते हैं। अब्बास उनको फ़राडद्दीन मनसूर कहता था। कुछ देर हम उनका आना-जाना बर्दाश्त करते रहे। आख़िर बारी साहब को एक तरकीब सूझी—कामरेड एफ़.डी. मनसूर कमरे में दाखिल हुए तो बारी साहब ने बड़े भौंडे तरीके से आँख मारकर अब्बास से कहा, "ख़्वाजा साहब, चलिए, कहीं देर न हो जाए..." और उठकर खिड़कियाँ बंद करना शुरू कर दीं। मनसूर साहब जो बैठने का इरादा ही कर रहे थे, हमारे साथ चल पड़े। बाज़ार में निकलकर बारी साहब ने उनसे माज़रत तलब की और हम एक चक्कर काटकर फिर 'दारुल अहमर' वापस आ गए—बारी साहब बहुत ख़ुश थे, इतने ख़ुश कि वह देर तक हँस-हँसकर दोहरे होते रहे।

बारी साहब बहुत मामूली-मामूली बातों पर ख़ुश हो जाया करते थे। उनकी ख़ुशी, जैसा कि मैं इससे पहले कह चुका हूँ, बिलकुल बच्चों की-सी ख़ुशी होती थी। उसमें

* "गावतकिए को वह वलीउल्लाह कहा करते थे।"—मंटो

\+ "आफाक" के मुदीर।"—मंटो

तालियाँ पीटने का शोर होता था—उनकी तोद बढ़ी[+] हुई थी। जब वह हँसते थे तो वह भी हँसा करती थी।

मरहूम को पजाबी जबान से बहुत मुहब्बत थी—एक जमाना था कि वह पजाबी को पजाब की कौमी जबान बनाने पर तुले हुए थे। उन दिनो ग़ालिबन वह सिखो के अखबार 'अजीत'[+] के एडिटर थे। जहाँ बैठते, अपनी नित नई स्कीमो का जिक्र छेड देते जिनके जरिए मे वह उर्द के बजाय पजाबी राइज[91] करना चाहते। हर मिलनेवाले को तलकीन करते कि वह उर्दू के बजाय अपनी मादरी जबान पजाबी मे लिखा करे। उनका कहना था कि सिर्फ वही जबान जानदार होती है जिसमे दी हुई गाली वजनदार हो और इन्फिरादियतो-नुदरत[92] रखती हो। उनका ईमान था कि दुनिया की कोई जबान गालियो के मामले मे पजाबी का मुकाबला नही कर सकती—और पुरलुत्फ बात यह है कि खुद बारी साहब ने अपनी जिंदगी मे एक सतर भी पजाबी जबान मे न लिखी।[*]

तकसीम से पहले अनारकली मे एक कैलाश होटल हुआ करता था। इसमे बार भी थी—मुकदमात के सिलसिले मे जब मैं लाहौर आता तो चौधरी नजीर के साथ इस होटल मे दो-तीन महफिले जरूर जमती, जिनमे बारी साहब को शरीक होने पर मजबूर किया जाता। हम बालाई मजिल पर चले जाते और व्हिस्की के दौर शुरू हो जाते—एक सिख बैरा था। बारी साहब जब दो पैग पी लेते तो उसमे ठेट पजाबी मे गुफ्तगू शुरू कर देते। उस वक्त उनके दिलो-दिमाग मे सिर्फ पजाबी जबान की तरवीज[93] का खयाल होता—लेकिन चार पैग के बाद वह काँटा बदलकर उर्दू की तरफ आ जाते और उसकी आलमगीरी[94] के मुताल्लिक तकरीर शुरू कर देते और कहते कि पजाबी गुडो और लफगो की जबान है, बहुत गैरमुहज्जब[95] है जो समाअत[96] पर गराँ गुजरती है—पाँचवे और छटे पैग के दौरान मे उर्दू से उनकी वालहाना मुहब्बत सुकडती रहती। जब पाँचवाँ और छटा पैग अपना काम कर जाता तो वह फारसी की मिठास के गरवीदा[97] नजर आते। ठेट ईरानी लहजे मे फारसी बोलने की कोशिश करते। फिर साँतवाँ पैग उन्हे पश्तो के पत्थरो मे लुढ़काना शुरू कर देता। आठवे और नवे पेग मे पजाबी, उर्दू, फारसी, पश्तो और अरबी उनके दिमाग मे काकटेल बनकर झलकने लगती।

मरहूम बोलने और अपनी आवाज आप सुनने के बहुत शाइक[98] थे। इतनी हिम्मत नही थी कि किसी जलसे मे तकरीर करते, लेकिन यार-दोस्तो की महफिल मे अपना शौक पूरा कर लिया करते थे—देहली मुस्लिम होटल मे से एक दफा आप एक चमचा उडा लाए। आधी रात का वक्त था। जब हम अनारकली के वस्त मे पहुँचे तो आपने यह चमचा निकालकर बेलचे के मानिंद अपने कांधे पर रख लिया और 'चप रास्त, चप रास्त' करते

\+ जिसके मुताल्लिक वह हमेशा फिक्रमद रहते थे। —मटो।

++ ा ादना अजीत उर्दू मे निकलता था। —सपादक

* ाजदगी क आखिरी सात बरसो मे मटो ने हमेशा पजाबी मे बात की शायद लाहौर के जेर-असर—मटो कहता था अब मै उर्द मे बोलता हूँ तो लगता है, झूठ बोल रहा हूँ और जब मैं उर्दू बोलता हूँ तो मेरा जबडा दुखने लगता है। —सपादक

एक दूकान के थड़े पर चढ़ गए और खाकसारों की तहरीक पर एक अदद तक़रीर उगल के रख दी। बेशुमार आदमी जमा हो गए, लेकिन बारी साहब जोशो-ख़रोश के साथ बोलते रहे। इसके बाद हम सबने चौक में खड़े होकर 'अल्लामा मशरिक़ी : ज़िंदाबाद' के नारे लगाए। फिर मोतिए के हार ख़रीदे और अपने-अपने गले में डाल लिए।

बारी साहब ने एक हार अपनी कलाई के गिर्द लपेट लिया और मुझसे कहा : "ख़्वाजा साहब, चलो हीरामंडी चलें मोतिए के इन फूलों की ख़ुशबू का रुख़ उसी तरफ है।"

हम सब हीरामंडी पहुँचे—बारी साहब के सर-बर ख़ूब घुटे हुए थे। बहुत देर तक हम उस मंडी की तंग व तारीक गलियों में घूमते रहे। इस दौरान में बारी साहब ने कई पठान टखियाइयों से पश्तो में बातचीत की। एक ऐसी ही टखियाई से मसरूफ़े-गुफ़्तगू थे कि उनकी जान-पहचान का एक आदमी उधर से गुज़रा। बारी साहब ने आगे बढ़कर उससे मुसाफ़ह किया।

उस आदमी ने पूछा : "मौलाना, यहाँ क्या हो रहा है?"

बारी साहब ने पठान कस्बी की तरफ़ देखा और जवाब दिया : "इस लड़की से सियासियाते-हाज़िरा[99] पर तबादला ख़यालात कर रहा था।"

सुबह अब्बास ने बारी साहब को रात के तमाम वाक़िआत सुनाए, ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर, इस अंदाज़ में कि वह नदामत[100] महसूस करें—बारी साहब ने मुझसे तस्दीक़ चाही तो मैंने मस्नूई संजीदगी से कहा : "बारी साहब, यह वाक़ा है कि आपने कल रात बड़ी ज़लील हरकतें कीं जो आपकी शायाने-शान नहीं थीं।"

बारी साहब बहुत नादिम हुए, इस क़दर नादिम कि आपने फ़ौरन वज़ू करके नमाज पढ़ना शुरू कर दी।

बारी साहब को मुसलह बनने का शौक़ था। उनकी दिली आरज़ू थी कि वह एक बहुत बड़े रहनुमा बन जाएँ। हर चौक में उनका बुत नस्ब हो। वह कोई ऐसा कारनामा सरअंजाम दें कि आनेवाली तमाम नस्लें उन्हें याद रखें, मगर इसके लिए जुर्रत और बेबाकी की ज़रूरत थी, उसी क़िस्म की जुर्रत और बेबाकी जिसका मुज़ाहिरा वह कभी-कभी पीकर, हीरामंडी की गलियों में पठान टखियाइयों से सियासिते-हाजिरा पर तबादला ख़यालात के दौरान में किया करते थे—लेकिन जब कभी उनमें ऐसी जुर्रत और बेबाकी सरज़द हो जाती तो वह वज़ू करके नमाज़ पढ़ना शुरू कर देते और उसकी अलाइशों से ख़ुद को पाक-साफ़ कर लेते।

वह कैंची को उँगलियों में फँसाकर अपने ख़यालातो-अफ़कार के ज़र्द-ज़र्द किताबत शुदा काग़ज़ों को काट-काटकर सारी उम्र अपनी ज़िंदगी की कापी जोड़ते रहे, मगर उसे पत्थरों पर कभी मुंतक़िल न कर सके, शायद इसी ख़याल से कि वह उनके बोझ तले पिस जाएँगे—उनको हमेशा किसी-न-किसी चीज़ के पिस जाने का ख़दशा लाहक़ रहता था, हालाँकि वह तमाम चीज़ों को पीसकर सफ़ूफ़ बना देना चाहते थे और उस सफ़ूफ़ को नुस्वार के तौर पर इस्तेमाल करने के ख़्वाहिशमंद थे।

वह अंग्रेज़ों के सख़्त दुश्मन थे, लेकिन यह तुरफ़ा[101] तमाशा है कि जब अंग्रेज़ चला

गया तो वह उसी के नौकर हो गए—उन्होंने 'कंपनी* की हुकूमत' जैसी बागियाना किताब लिखी, लेकिन उसी कंपनी के साबिक ठेकेदारों की मुलाज़्मत में उन्होंने अपनी ज़िंदगी के चंद आखिरी और बड़े कीमती बरस गुज़ारे

बहुत मुस्लिम आदमी थे, इतने मुस्लिम कि उन्होंने अपनी आनेवाली मौत से भी कोई लड़ाई-झगड़ा न किया। असल में वह लड़ाई-भिड़ाई से हमेशा घबराते थे। उनकी तबीयत सुलहकुन थी—दिल का आर्ज़ा उनको बहुत देर से था, मगर उसका इलाज उन्होंने जब भी किया मुसालहत आमेज़[86] तरीके से किया। उसकी मुदाफ़अत[87] में उनसे कभी जारहाना कदम न उठा।

मुझे याद है, मरने से दो रोज़ पहले मेरी-उनकी मुठभेड़ मेव रोड पर हुई। बोहरवाले चौक में दाएँ हाथ को उनका ताँगा जा रहा था। मुझे देखा तो उसे रुकवा लिया।

मैं उनसे नाराज़ था, सख़्त नाराज़, इसलिए कि वह दूर-दूर रहते थे। अंग्रेज़ों के हाई कमिश्नर के दफ़्तर में मुलाज़्मत इख़्तियार करने के बाद वह कुछ ऐसे बुझ गए थे कि अपने बेतकल्लुफ़ दोस्तों से अगर उनकी मुलाकात इत्तिफ़ाकिया तौर पर हो जाती तो वह अजीबो-गरीब-सा हिजाब महसूस करते।

मैं उनके पास पहुँचा तो वह ताँगे से उतरे। मुझसे मुसाफ़ह[88] किया और मेरी ख़ैरियत दरयाफ़्त की। यह रस्म मुझे बहुत बुरी मालूम हुई—मैंने उनसे कहा "बारी साहब, आप बहुत ज़लील हो गए हैं, इतने ज़लील कि आपने मुझसे मिलना-जुलना ही छोड़ दिया है आपने अंग्रेज़ की नौकरी क्या की है, अपना सारा कैरेक्टर तबाह कर लिया है "

मेरी लअन-तअन के जवाब में घुटी-घुटी, बीमार-बीमार-सी मुसकराहटें उनके ऊदे होंठों पर बिखरती रहीं। उनके चेहरे का रंग किसी कदर ज़र्द था और आवाज़ नहीफ़ थी—मैंने उनसे पूछा "ख़ैर छोड़िए इस किस्से को यह बताइए, आपका मिज़ाज कैसा है?"

मेरे इस सवाल के जवाब में उन्होंने बड़ी संजीदगी से यह बताने की कोशिश की कि वह एक अर्से से दिल के आर्ज़े में मुब्तला हैं और सैकड़ों इलाज कर चुके हैं, मगर कोई इफ़ाका नहीं हुआ। इसके बाद उन्होंने मुझे बताया कि मेव रोड पर कोई होम्योपैथ है और अब वह उससे रुजू कर रहे हैं।

मैंने उनसे अज़राहे-मज़ाक कहा "यह रसदगाह बाकी रह गई थी जहाँ आप अपने सितारों का मुताला फ़रमाने जा रहे हैं छोड़िए बारी साहब, आपको कोई आर्ज़ा-वार्ज़ा नहीं। आपको सिर्फ़ वहम की बीमारी है जिसका इलाज, सुना है, लुकमान हकीम के पास भी नहीं था आप ज़्यादा खाते हैं, इसलिए आपका मेदा ख़राब रहता है। तब्ख़ीर[89] के बायस जो बुख़ारात उठते हैं, आपके दिल पर भी असरअंदाज़ होते हैं बस इतनी-सी बात है जिसे आपने बतंगड़ बना रखा है।"

मेरी बात उनके दिल को लगी*—कहने लगे: "मेरा ख़याल है, आप ठीक कहते

* ईस्ट इंडिया कंपनी

* "उनके दिल को हर बात लग जाती थी।" —मंटो

हैं तब्ख़ीर की शिकायत तो मुझे है और बाज़ डाक्टरों की तश्ख़ीस[101] भी यही कहती है।"

बहुत देर तक मेरी-उनकी बातें हुईं। मुझे उन्होंने बताया कि वह तारीख़े-आलम† दोबारा फैलाकर लिख रहे हैं और तुर्की ज़बान में पंजाबी अल्फ़ाज़ तलाश कर रहे हैं।

बारी मरहूम से मैं अपनी आख़िरी मुलाक़ात का ज़िक्र कर रहा था, जब वह किसी होम्योपैथ से अपने दिल के आर्ज़े का इलाज पूछने जा रहे थे, उस दिल का जो ख़ुलूस से मामूर था, जो इस क़दर शरीफ़ था कि उसने बारी साहब की बुज़दिली का साथ दिया और धड़कना बंद कर दिया।

मैंने उन्हीं दिनों में आग़ा हश्र के मुताल्लिक़ एक मज़मून लिखा था*। उसमें जीजे के होटल में बारी साहब से पहली बार मुलाकात करने का ज़िक्र भी था। बारी साहब ने यह मज़मून पढ़कर मुझे एक ख़त लिखा था जिसमें अमृतसर के उन ऐयाम[102] की याद ताजा की थी, जब मैं, अबू सईद क़ुरैशी, अब्बास, आशिक़ फ़ोटोग्राफ़र और बारी साहब मिलकर बिलकुल ख़ब्तियों की तरह बाज़ारों में घूमा करते थे, बेमतलब, बेमक़सद। जब हमने 'फ्री थिंकर्ज़' जैसी ऊटपटाँग जमाअत की बिना डाली थी। उसके कवाइदो-ज़वाबित[103] मे नंबर एक पर यह चीज़ थी कि फ़्री थिंकर जो भी चाहे, करे, किसी को उसका इस्तेहक़ाक़[104] हासिल नहीं होगा कि वह उससे उसके किसी फ़अल के मुताल्लिक इस्तिफ़सार करे—चुनाँचे अक्सर ऐसा हुआ कि हम सब जा रहे हैं कि अचानक बारी साहब मोड मुड़े और हमसे जुदा हो गए। बड़ी गर्मागरम बातें हो रही हैं कि अचानक अब्बास ख़ामोश हो गया और वापिस चला गया।

उस ख़त के बारे में बारी साहब से मुख़्तसर-सी गुफ़्तगू हुई—मैंने बारी साहब से कहा कि यूँ तो उन्होंने दावा किया है कि उनका हाफ़िज़ा बहुत तेज़ है, लेकिन वह उन ऐयाम की बहुत-सी बातों का तज़्किरा भूल गए हैं। बारी साहब ने नहीफ़ आवाज़ में माज़रत चाही और कहा कि उन्होंने वह ख़त बड़ी रवादारी में लिखा है—हिकायत बहुत दराज़ थी, लेकिन उन्हें सुकूने-क़ल्ब[105] मयस्सर नहीं था।

उन्होंने सुकूने-क़ल्ब का ज़िक्र किया तो मैं फिर उनके पीछे पड गया कि वह क्यों अपने क़ल्ब के पीछे पड़े हुए हैं जो अच्छा-भला है।

लेकिन तीसरे रोज़ सुबह छः बजे चाय की पहली प्याली पीकर मैंने सिगरेट सुलगाया और ताज़ा 'इमरोज़'¹ खोला तो पहले सफ़हे पर यह सुर्ख़ी नज़र आई कि इश्तिराकी अदीब बारी का इंतिक़ाल हो गया है—कुछ अर्से के लिए मैं बिलकुल गुमसुम हो गया। मैंने फिर ख़बर की तरफ़ देखा-तीन कालमी सुर्ख़ी थी। ऐसा मालूम होता था कि कापी जोड़ते वक़्त यह सुर्ख़ी बारी साहब ने कैंची से काटकर ख़ुद अपने हाथों से बड़े क़रीने के साथ जमाई है।

इश्तराकी अदीब बारी, मेरा दोस्त, मेरा रहनुमा, तमाम उम्र अपनी ज़िंदगी की जली और ख़फ़ी सुर्ख़ियाँ जमाता रहा, लेकिन अफ़सोस कि वह उन के नीचे वह मज़मून न लिख

† "कई जिल्दों मे एक मबसूत (विस्तृत) किताब जो मरहूम मुकम्मल न कर सके।"—मंटो

* जो इस किताब मे शामिल है।

1 उस ज़माने में लाहौर का एक तरक्क़ी पसंद रोज़नामा—आजकल सरकारी भोंपू।

सके जो उसके वज़नी सर में परवरिश पाते थे और भाप बनकर लाहौर की बकरियों और होटलों की कमीफ फिजा में जज़्ब हो जाते थे।

बारी साहब कब्र में हैं—मालूम नहीं, उसमें भी कोई ऐसी खिड़की है जिससे वह कूदकर बाहर निकल सकें।

1 अत्याचारी 2 नसीहत देनेवाला 3 रूसी बादशाह 4 वाद विवाद 5 यातनाएं 6 विरोधियों 7 कल्पना में मान लेना 8 साम्यवादी 9 कंपायमान 10 विशालकाय 11 बालिष्ठ आकृति 12 रक्तरंजित इतिहास 13 व्यवस्था एवं कार्य छोड़ 14 बीच में लटक रहना 15 शाप 16 ऊपर वर्णित 17 विशिष्ट 18 वैधानिक प्रतिज्ञापत्र 19 स्तंभन शक्ति 20 ताले में बंद 21 त्रुटियां 22 विकास 23 कल्पित रचना 24 मज़ाक के रूप में 25 त्रुटियां 26 वधशालाओं 27 निरंतर 28 चारों 29 गंभीरता 30 आदेश 31 सामर्थ्य 32 आत्मा से संबंधित दर्शनशास्त्र, 33 स्वाभिमानी 34 विद्रोह भरे 35 समर्थन व व्यवहार 36 ज्ञानवर्धक 37 दृढ़प्रतिज्ञा 38 शरीर 39 छोटी सी चिड़िया 40 सार 41 अग्नि 42 जिसको न कहना ही अच्छा हो 43 उद्धरण 44 पत्रों, 45 विश्वयुद्ध 46 कल्पना से उत्पन्न परिणाम 47 नेतृत्व 48 युद्ध-कुशल 49 आक्रमणकर्ता 50 अतिशयोक्तिपूर्ण कथन 51 साधन 52 संतुलित जीवन व्यतीत करनेवाला 53 सनक 54 थोड़ी-थोड़ी चीज़ों की बिक्री (पड़चून) 55 दयनीय 56 क्षणिक संयम, 57 प्रेम, 58 स्थित, 59 लेखन कार्य 60 बसना 61 लकड़ी का स्टैंड जिस पर पुस्तक रखकर पढ़ते हैं, 62 हास्यास्पद 63 उपहासास्पद, 64 अंग 65 दाढ़ी मूंछ विहीन 66 यदा-कदा 67 जिसकी समीक्षा की जा रही हो, 68 ईरान के एक अग्निपूजक धर्मप्रवर्तक का नाम 69 खानी घर, 70 मिश्रण 71 शर्बत, 72 अल्लाह सीने के भीतर की बात की जानकारी दिल ही है 73 सम्मान 74 तिरस्कार, 75 जैसे-तैसे, 76 जमा देना 77 धनी 78 पुराना-सा 79 एकदम दोनों कान पकड़कर, 80 गणितज्ञ, 81 ज्योतिषी, 82 खाद्य पदार्थ 83 नवीनता, 84 कार्य व्यवहार, 85 शामिल होना, 86 थोड़ा ठीक होने लायक, 89 निवारण, 90 जांच 91 प्रचलित, 92 बेमिसाल, अनोखापन, 93 प्रचार, 94 सर्वज्ञता, 95 अशिष्ट 96 सुननेवालो, 97 प्रशंसक, 98 इच्छुक, 99 वर्तमान राजनैतिक घटनाओं, 100 शर्म, 101 अनोखा 102 दिना 103 परंपराओं की नियमावलि, 104 स्वामित्व, अधिकार, 105 मन की शांति।

इस्मत चुग़ताई

आज से तकरीबन डेढ़ बरस[1] पहले जब मैं बंबई में था, हैदराबाद से एक साहब[2] का पोस्ट कार्ड मौसूल हुआ। मज़मून कुछ इस किस्म का था :

"यह क्या बात है कि इस्मत चुग़ताई ने आपसे शादी न की? मंटो और इस्मत, अगर यह दो हस्तियाँ मिल जाती तो कितना अच्छा होता। मगर अफ़सोस कि इस्मत ने शाहिद से शादी कर ली और मंटो "

उन्ही दिनो हैदराबाद मे तरक्की पसंद मुसन्निफों की एक कान्फ्रेंस हुई। मै उसमें शरीक नही था—मैंने हैदराबाद के एक पर्चे मे उसकी रूदाद देखी, जिसमें यह लिखा था कि वहाँ बहुत-सी लड़कियो ने इस्मत को घेरकर यह सवाल किया "आपने मंटो से शादी क्यो न की?"

मुझे मालूम नही कि यह बात दुरुस्त है या गलत, लेकिन जब इस्मत बंबई वापस आई तो उसने मेरी बीवी से कहा कि हैदराबाद मे जब एक लड़की ने उससे सवाल किया, क्या मंटो कुँवारा है, तो उसने ज़रा तन्ज़ के साथ जवाब दिया, जी नही, इस पर वह मोहतरिमा इस्मत के बयान के मुताबिक कुछ खिसयानी-सी होकर खामोश हो गई।

वाकिआत कुछ भी हो, लेकिन यह बात गैर-मामूली तौर पर दिलचस्प है कि सारे हिंदुस्तान मे एक सिर्फ़ हैदराबाद ही ऐसी जगह है, जहाँ मर्द और औरतें मेरी और इस्मत की शादी के मुतअल्लिक फिक्रमंद रहे हैं।

उस वक्त तो मैंने गौर नही किया था, लेकिन अब सोचता हूँ। अगर मैं और इस्मत वाकई मियाँ-बीवी बन जाते तो क्या होता? यह "अगर" भी कुछ उसी किस्म की अगर है, यानि अगर कहा जाए कि अगर क्लोपित्रा की नाक एक इंच का अठारहवाँ हिस्सा बड़ी होती तो उसका असर वादी-ए-नील की तारीख पर क्या पड़ता—लेकिन यहाँ न इस्मत क्लोपित्रा है और न मंटो, एनतनी। इतना ज़रूर है कि अगर मंटो और इस्मत की शादी हो जाती तो इस हादिसे का असर अहदे-हाज़िर के अफ़सानवी अदब की तारीख पर एटमी हैसियत रखता। अफ़साने, अफ़साने बन जाते, कहानियाँ मुड़-तुड़ कर पहेलियाँ हो जाती।

---

1 इस्मत के दिनों में लिखा गया यह दोस्त नवाज़ मज़मून 1947 के आसपास की तहरीर है।

2 यह "एक साहब" मोहम्मद असद उल्लाह हैं, जो इन दिनो बर्लिन में मुलाज़िम हैं। असद उल्लाह ने, 1955 में, मंटो के आखिरी दिनों के बारे में एक किताब लिखी थी।

इशा की छातियों मे सारा दूध खुश्क होकर या तो एक नादिर सफूफ की शक्ल इख्तियार कर लेता या भस्म होकर राख बन जाता और यह भी मुमकिन है कि निकाह-नामे पर उनके दस्तखत उनके कलम की आखिरी तहरीर होते। लेकिन सीने पर हाथ रखकर यह भी कौन कह सकता है कि निकाह-नामा होता। ज्यादा करीने-कियास तो यही मालूम होता है कि निकाह-नामे पर दोनो अफ्साने लिखते और काजी साहब की पेशानी पर दस्तखत कर देते ताकि सनद रहे—निकाह के दौरान मे कुछ ऐसी बाते भी हो सकती थी

"इस्मत, काजी साहब की पेशानी, ऐसा लगता है, तख्ती है।"

"क्या कहा ?"

"तुम्हारे कानो को क्या हो गया है।

"मेरे कानो को तो कुछ नही हुआ तुम्हारी अपनी आवाज हलक से बाहर नही निकलती।"

"हद हो गई लो अब सुनो। मै यह कह रहा था, काजी साहब की पेशानी बिलकुल तख्ती से मिलती-जुलती है।"

"तख्ती तो बिलकुल सपाट होती है।"

"यह पेशानी सपाट नही ?"

"तुम सपाट का मतलब भी समझते हो ?"

"जी नही।"

"सपाट माथा तुम्हारा है काजी जी का माथा तो "

"बड़ा खूबसूरत है।"

"खूबसूरत तो है।"

"तुम महज चिढ़ा रही हो मुझे।"

"चिढ़ा तुम रहे हो मुझे।"

"मै कहता हूँ, तुम चिढ़ा रही हो मुझे।"

"मै कहती हूँ, तुम चिढ़ा रहे हो मुझे।"

"तुम्हे मानना पड़ेगा कि तुम चिढ़ा रही हो मुझे।

"अजी वाह, तुम तो अभी से शौहर बन बैठे।"

"काजी साहब, मैं इस औरत से शादी नही करूँगा अगर आपकी बेटी का माथा आपके माथे की तरह है तो मेरा निकाह उससे पढ़वा दीजिए।"

"काजी साहब मै इस मर्द से शादी नही करूँगी अगर आपकी चार बीवियां नही है तो मुझे से शादी कर लीजिए। मुझे आपका माथा बहुत पसद है।"

कृष्ण चदर 'चोटें'[1] के दीबाचे मे लिखता है

"सस्पेस को छुपाने मे, पढ़नेवाले को हैरता इज्तिराब मे गुम कर देने मे, और फिर यकायक आखिर मे उस इज्तिराबो-हैरत को मसर्रत मे मुबद्दल कर देने की सिफत मे

1 इस्मत की एक किताब।

इस्मत और मंटो एक दूसरे के बहुत क़रीब हैं और इस फ़न में उर्दू के बहुत कम अफ्साना निगार उनके हरीफ़ हैं।"

अगर हम दोनों को शादी का ख़याल आता तो दूसरों को हैरतो-इज़्तिराब मे गुम करने के बजाय हम ख़ुद उसमें ग़र्क़ हो जाते, और जब एकदम चौंकते तो यह हैरत और इज़्तिराब, जहाँ तक मैं समझता हूँ, मसर्रत के बजाय एक बहुत ही बड़े फकाहिए में तब्दील हो जाता—इस्मत और मंटो, निकाह और शादी। कितनी मज़्हका-ख़ेज चीज़ है।

इस्मत लिखती है : एक ज़रा-सी मुहब्बत की दुनिया में कितने शौकत, कितने महमूद, अब्बास, असकरी, यूनुस और न जाने कौन-कौन ताश की गड्डी की तरह फेंट कर बिखेर दिए गए हैं। कोई बताओ, उनमें से चोर पत्ता कौन-सा है? शौकत की भूखी-भूखी कहानियों से लबरेज़ आँखें, महमूद के साँपों की तरह रेंगते हुए आज़ा, असकरी के बेरहम हाथ, यूनुस के निचले होंठ का स्याह तिल, अब्बास की खोई-खोई मुस्कराहटें और हजारों चौड़े-चकले सीने, फुशादा पेशानियाँ, घने-घने बाल, सुडोल पिंडलियाँ, मज़बूत बाज़ू, सब एक साथ मिलकर पक्के सूत के डोरों की तरह उलझ कर रह गए हैं। परेशान हो होकर उस ढेर को देखती हूँ, मगर समझ में नहीं आता कि कौन-सा सिरा पकडकर खींचू कि खिंचता ही चला आए और मैं उसके सहारे दूर उफ़ुक़ से भी ऊपर एक पतंग की तरह तन जाऊँ।

मंटो लिखता है : मैं सिर्फ़ इतना समझता हूँ कि औरत से इश्क करना और ज़मीने ख़रीदना तुम्हारे लिए एक ही बात है। सो तुम मुहब्बत करने के बजाय एक दो बीघे जमीन ख़रीद लो और उस पर सारी उम्र काबिज़ रहो ज़िंदगी में सिर्फ़ एक औरत और यह दुनिया इस क़द्र भरी हुई क्यों है? क्यों इसमें इतने तमाशे जमा हैं? सिर्फ गंदुम पैदा करके ही अल्लाह मियाँ ने अपना हाथ क्यों न रोक लिया? मेरी सुनो और इस ज़िंदगी को जो कि तुम्हें दी गई है, अच्छी तरह इस्तेमाल करो तुम ऐसे गाहक हो जो, औरत हासिल करने के लिए सारी उम्र सरमाया जमा करते रहोगे, मगर उसे नाकाफी समझोगे। मैं ऐसा खरीदार हूँ, जो ज़िंदगी मे कई औरतों से सौदे करेगा तुम ऐसा इश्क करना चाहते हो कि उसकी नाकामी पर कोई अदना दर्जे का मुसन्निफ एक किताब लिखे, जिसे नारायण दत्त सहगल पीले कागज़ों पर छापे और डब्बी बाजार में उसे रद्दी के भाव बेचे मैं अपनी किताबे-हयात के तमाम औराक़ दीमक बनकर चाट जाना चाहता हूँ, ताकि उसका कोई निशान बाकी न रहे। तुम मुहब्बत में ज़िंदगी चाहते हो, मैं ज़िंदगी में मुहब्बत चाहता हूँ।

इस्मत को अगर उलझे हुए सूत के ढेर में ऐसा सिरा मिल जाता, खींचने पर जो खिंचता ही चला आता और वह उसके सहारे दूर उफ़ुक से ऊपर एक पतँग की तरह तन जाती और मंटो अगर अपनी किताब-हयात के आधे औराक़ भी दीमक बनकर चाटने में कामयाब हो जाता तो आज अदब की लोह पर उनके फ़न के नुक़ूश इतने गहरे कभी न होते। वह दूर उफ़ुक़ से भी ऊपर हवा में तनी रहती और मंटो के पेट में उसकी किताबे-हयात के बाक़ी औराक़ भुस भरके उसके हमदर्द उसे शीशे की अलमारी में बंद कर देते।

'चोटें' के दीबाचे में कृष्ण चंदर लिखता है : इस्मत का नाम आते ही मर्द

अफ्साना-निगारो को दौरे पडने लगते हैं। शर्मिंदा हो रहे हैं। आप ही आप खफीफ हुए जा रहे हैं। यह दीबाचा भी उसी खिफ्फत को मिटाने का एक नतीजा है।

इस्मत के मुताल्लिक जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, किसी भी किस्म की खिफ्फत को मिटाने का नतीजा नही। एक कर्ज था, जो सूद की बहुत ही हलकी शरह के साथ अदा कर रहा हूँ।

सबसे पहले मैंने इस्मत का कौन-सा अफ्साना पढ़ा था, मुझे बिल्कुल याद नही। यह सतर लिखने से पहले मैंने हाफिजे को बहुत खुर्चा, लेकिन उसने मेरी रहबरी नही की। ऐसा महसूस होता है कि मैं इस्मत के अफ्साने कागज पर मुतकिल होने से पहले ही पढ़ चुका था। यही वजह है कि मुझ पर कोई दौरा नही पडा, लेकिन जब मैंने उसको पहली बार देखा तो मुझे सख्त नाउम्मीदी हुई।

एडलफी चैंबर्स, क्लीयर रोड बबई के, सत्रह नबर फ्लैट मे, जहाँ 'मुसव्विर' हफ्तावार का दफ्तर था, शाहिद लतीफ अपनी बीवी के साथ दाखिल हुआ। यह अगस्त 1942 ई की बात है। तमाम काग्रेसी लीडर, महात्मा गाधी समैत गिरफ्तार हो चुके थे और शहर मे काफी गडबड थी। फजा सियासियात मे बसी हुई थी। इसलिए कुछ देर गुफ्तुगू का मौजू तहरीके-आजादी रहा। उसके बाद रुख बदला और अफ्सानो की बाते शुरू हुई।

एक महीना पहले जबकि मैं आल इडिया रेडियो, देहली मे मुलाजिम था, 'अदबे-लतीफ' मे इस्मत का 'लिहाफ' शाया हुआ था। उसे पढ़कर, मुझे याद है, मैंने कृष्ण चदर से कहा था "अफ्साना बहुत अच्छा है, लेकिन आखिरी जुम्ला बहत गैर-सना आना है।" अहमद नदीम कासमी की जगह अगर मैं एडिटर होता तो उसे यकीनन हजफ कर देता। चुनाचे जब अफ्सानो पर बाते शुरू हुईं तो मैंने इस्मत से कहा "आपका अफ्साना 'लिहाफ' मुझे बहुत पसद आया। बयान मे अल्फाज को बकद्रे-किफायत इस्तेमाल करना आपकी नुमायाँ खुसूसियत रही है, लेकिन मुझे ताज्जुब है कि उस अफ्साने के आखिर मे आपने बेकार-सा जुमला लिख दिया कि एक इच उठे हुए लिहाफ मे मैंने क्या देखा, कोई मुझे लाख रुपए भी दे, तो भी मैं नही बताउँगी।"

इस्मत ने कहा "क्या ऐब है इस जुमले मे?"

मैं जवाब मे कुछ कहने ही वाला था कि मुझे इस्मत के चेहरे पर वही सिमटा हुआ हिजाब नजर आया जो आम घरेलू लडकियो के चेहरे पर नागुफतनी शै का नाम सुनकर नमूदार हुआ करता है। मुझे सख्त नाउम्मीदी हुई, इसलिए कि मैं 'लिहाफ' के तमाम जुजियात के मुताल्लिक उससे बाते करना चाहता था। जब इस्मत चली गई तो मैंने दिल मे कहा "यह तो कमबख्त बिलकुल औरत निकली।"

मुझे याद है, इस मुलाकात के दूसरे ही रोज मैंने अपनी बीवी को देहली खत लिखा "इस्मत से मिला। तुम्हे यह सुनकर हैरत होगी कि वह बिलकुल ऐसी ही औरत है, जैसी तुम हो। मेरा मजा तो बिल्कुल किरकिरा हो गया, लेकिन तुम उसे यकीनन पसद करोगी। मैंने जब उससे एक इच उठे हुए लिहाफ का जिक्र किया तो नालाइक उसका तसव्वुर करते ही झेप गई।"

एक अर्से के बाद मैंने अपने इस पहले रद्दे-अमल पर सजीदगी से गौर किया और मुझे

इस अम्र का शदीद अहसास हुआ कि अपने फन की बका के लिए इन्सान को अपनी फ़ित्रत की हुदूद में रहना अज़बस लाजिम है। डाक्टर रशीद जहाँ का फन आज कहाँ है ? कुछ तो गेमुओं के साथ कटकर अलाहिदा हो गया और कुछ पतलून की जेबों में ठुस होकर रह गया। फ्रांस में जार्ज साँ ने निस्वानियत का हसीन मलबूस उतार कर तमन्नो की जिंदगी इख़्तियार की। पोलिसतानी मौसीक़ार शोपेन से लहू थुकवा-थुकवा कर उसने लालो-गौहर ज़रूर पैदा कराए, लेकिन उसका अपना जोहर उसके बत्न में दम घुट के मर गया।

मैंने सोचा, औरत जंग के मैदानों में मर्दों के दोश-बदोश लड़े, पहाड काटे, अफ़्साना-निगारी करते-करते इस्मत चुग़ताई बन जाए, लेकिन उसके हाथों मे कभी-कभी मेहंदी रचनी ही चाहिए। उसकी बाँहों से चूड़ी की खनक आनी ही चाहिए। मुझे अफ्सोस है, जो मैंने उस वक़्त अपने दिल में कहा : "यह तो कमबख़्त बिल्कुल औरत निकली।"

इस्मत अगर बिल्कुल औरत न होती तो उसके मज्मूओ मे 'भूल भुलैयाँ', 'तिल', 'लिहाफ़' और 'गेंदा' जैसे नाज़ुक और मुलायम अफ़्साने कभी नज़र न आते। यह अफ्साने औरत की मुख़्तलिफ अदाएँ हैं, साफ़,शफ़्फ़ाक, हर किस्म के तसन्नो से पाक। यह अदाएँ वह इश्वे वह ग़मज़े नहीं जिनके तीर बनाकर मर्दों के दिल और कलेजे छलनी किए जाते हैं। जिस्म की भोंडी हरकतों से इन अदाओं का कोई ताल्लुक़ नहीं। इन रूहानी इशारों की मंज़िले-मक़सूद इन्सान का ज़मीर है, जिसके साथ वह औरत ही की अनजानी, अनबूझी मगर मख़मलीं फित्रत लिए बगलगीर हो जाता है।

उनकी रंगत बदली : "बिचारा बच्चा मर गया इसका बाप शायद।"

"ख़ाक तुम्हारे मुँह में ख़ुदा न करे।" मैंने नन्हे को कलेजे से लगा लिया।

"ठाएँ।" नन्हे ने मौका पाकर बंदूक़ चलाई।

"हाएँ पाजी अब्बा को मारता है।" मैंने बंदूक़ छीन ली।

और लोग कहते हैं, इस्मत नाशुदनी है, चुड़ेल है—गधे कहीं के। इन चार सतूरों में इस्मत ने औरत की रूह निचोड़ कर रख दी है और यह लोग उसे अख़लाक़ की इम्तिहानी नलियों में बैठे हिला-हिला कर देख रहे हैं। तोपदम कर देना चाहिए, ऐसी औंधी खोपड़ियो को।

'साकी' में 'दोज़ख़ी' छपा। मेरी बहन ने पढ़ा और मुझसे कहा : "सआदत, यह इस्मत कितनी बेहूदा है। अपने मूए भाई को भी नहीं छोड़ा कमबख़्त ने। कैसी-कैसी फ़ुज़ूल बातें लिखी हैं।"

मैंने कहा : इकबाल, अगर मेरी मौत पर तुम ऐसा ही मज़्मून लिखने का वादा करो तो ख़ुदा की क़सम, मैं आज मरने के लिए तैयार हूँ।"

शाहजहाँ ने अपनी महबूबा की याद क़ाइम रखने के लिए ताजमहल बनवाया। इस्मत ने अपने महबूब भाई की याद में 'दोज़ख़ी' लिखा। शाहजहाँ ने दूसरों से पत्थर उठवाए। उन्हें तरशवाया और अपनी महबूबा की लाश पर अज़ीमुश्शान इमारत तामीर कराई। इस्मत ने ख़ुद अपने हाथों से अपने ख़ाहराना जज़्बात चुन-चुनकर एक ऊंचा मचान तैयार किया और उस पर नर्म-नर्म हाथों से अपने भाई की लाश रख दी— ताज, शाहजहाँ की

मुहब्बत का बरहना मरमरी इश्तिहार मालूम होता है। लेकिन 'दोजखी' इस्मत की मुहब्बत का निहायत ही लतीफ और हसीन इशारा है, वह जन्नत जो उस मज्मून मे आबाद है, उन्वान उसका इश्तिहार नही देता।

मेरी बीवी ने यह मज्मून पढा तो इस्मत से कहा "यह तुमने क्या खुराफात लिखी है?"

"बको नही। लाओ, वह बर्फ कहाँ है?"

इस्मत को बर्फ खाने का बहुत शौक है। बिलकुल बच्चो की तरह डली हाथ मे लिए दाँतो मे कटाकट काटती रहती है। उसने अपने बाज अफ्साने भी बर्फ खा-खाकर लिखे हैं। चारपाई पर कोहनियो के बल औंधी लेटी है। सामने तकिए पर कापी खुली है। एक हाथ मे फाउन्टेन पेन है और दूसरे हाथ मे बर्फ की डली। रेडियो ऊँचे सुरो मे चिल्ला रहा है, मगर उसका कलम और मुँह दोनो खटाखट चल रहे हैं।

इस्मत पर लिखने के दौरे पडते हैं। न लिखे तो महीनो गुजर जाते हैं, पर जब दौरा पडे तो सैकडो सफ्हे उसके कलम के नीचे से निकल जाते हैं। खाने-पीने, नहाने धोने का कोई होश नही रहता। बस हर वक्त चारपाई पर कोहनियो के बल औंधी लेटी अपने टेढे मेढे आराब और इमला से बेनियाज खत मे कागजो पर अपने खयालात मुतकिल करती रहती है।

'टेढी लकीर' जैसा तूल-तवील नाविल, मेरा खयाल है इस्मत ने सात आठ निशस्तो मे खत्म किया था।

कृष्ण चदर, इस्मत के बयान की रफ्तार के मुताल्लिक लिखता है अफ्सानो के मुताले मे एक और बात जो जहन मे आती है, वह है घुडदौड। यानि रफ्तार, हरकत, सुबुक खरामी (मेरा खयाल है, इससे कृष्ण चदर की मुराद बर्क रफ्तारी थी) और तेज गामी। न सिर्फ अफ्साना दौडता हुआ मालूम होता है बल्कि फिक्रे किनाए और इशारे और आवाजे और किर्दार और जज्बात और अहसासात, एक तूफान की सी बलाखेजी के साथ चलते और आगे बढते नजर आते हैं।

इस्मत का कलम और उसकी जबान दोनो बहुत तेज है। लिखना शुरू करेगी तो कई मर्तबा उसका दिमाग आगे निकल जाएगा और अल्फाज बहुत पीछे हाँपते रह जाएगे। बाते करेगी तो लफ्ज एक दूसरे पर चढते जाएगे। शेखी बघारने की खातिर अगर कभी बावर्ची-खाने मे चली जाएगी तो मामला बिल्कुल चौपट हो जाएगा। तबीयत मे चूँकि बहुत ही उजलत है इसलिए आटे का पेडा बनाते ही सिकी सिकाई रोटी की शक्ल देखना शुरू कर देती है। आलू अभी छीले नही गए लेकिन उनका सालन उसके दिमाग मे पहले ही तैयार हो जाता है। और मेरा खयाल है बाज औकात वह बावर्ची खाने मे कदम रखकर खयाल-खयाल मे शिकम-सैर होकर लौट आती होगी— लेकिन इस हद मे बढी हुई उजलत के मुकाबले मे उसको मैंने बडे ठडे इत्मीनान और सुकून के साथ अपनी बच्ची के फ्राक सीते देखा है। उसका कलम लिखते वक्त इमला की गलतिया कर जाता है, लेकिन नन्ही के फ्राक सीते वक्त उसकी सुई से हल्की-सी लगजिश भी नही होती। नपे-तुले टाँके होते हैं और मजाल है जो कही झोल हो।

'उफ़ रे बच्चे' में इस्मत लिखती है : घर क्या है, मौहल्ले का मौहल्ला है। मर्ज़ फैले, वबा आए, दुनिया के बच्चे पटापट मरें, मगर क्या मजाल जो यहाँ एक भी टस से मस हो जाए। हर साल माशाल्लाह घर अस्पताल बन जाता है। सुनते हैं दुनिया में बच्चे भी मरा करते हैं। मरते होंगे। क्या ख़बर ?

और पिछले दिनों बंबई में, जब उसकी बच्ची सीमा को काली खाँसी हुई तो वह रातें जागती थी। हर वक़्त खोई-खोई रहती थी। ममता, माँ बनने के साथ ही कोख से बाहर निकलती है।

इस्मत परले दर्जे की हटधर्म है। तबीयत में ज़िद है, बिल्कुल बच्चों की सी। ज़िंदगी के किसी नज़रिए को, फ़ित्रत के किसी कानून को पहले ही साबिके में कभी क़ुबूल नहीं करेगी। पहले शादी से इन्कार करती रही। जब अमादा हुई तो बीवी बनने से इन्कार कर दिया। बीवी बनने पर जूँ-तूँ रज़ामंद हुई तो माँ बनने से मुन्किर हो गई। तक्लीफ़ें उठाएगी, सउबतें बरदाश्त करेगी मगर ज़िद से कभी बाज़ नही आएगी। मैं समझता हूँ, यह भी उसका एक तरीक़ा है जिसके ज़रिए से वह ज़िंदगी के हक़ाइक़ से दो चार होकर, बल्कि टकराकर उनको समझने की कोशिश करती है। – उसकी हर बात निराली है।

इस्मत के ज़नाना और मर्दाना किर्दारों में भी यह अजीबो-ग़रीब ज़िद या इन्कार आम पाया जाता है। मुहब्बत में बुरी तरह मुब्तला हैं, लेकिन नफ़रत का इज़हार किए चले जा रहे हैं। जी गाल चूमने को चाहता है, लेकिन उसमें सुई खुबो देंगे। हौले से थपकना होगा तो ऐसी धोल जमाएँगे कि दूसरा बिलबिला उठे। यह जारेहाना क़िस्म की मन्फी मुहब्बत, जो महज़ एक खेल की सूरत में शुरू होती है, आमतौर पर इस्मत के अफ़्सानों में एक निहायत रहम-अंगेज़ सूरत में अन्जाम पज़ीर होती है।

इस्मत का अपना अन्जाम भी अगर कुछ इसी तौर पर हुआ और मैं उसे देखने के लिए ज़िंदा रहा तो मुझे कोई ताज्जुब न होगा।

इस्मत से मिलते-जुलते मुझे पांच छः बरस हो गए हैं। दोनों की आतिशगीर और भक से उड़ जाने वाली तबीयत के पेशे-नज़र एहतिमाल तो इसी बात का था कि सैकड़ों लड़ाइयाँ होतीं, मगर ताज्जुब है कि इस दौरान में सिर्फ़ एक बार चख़ हुई, और वह भी हल्की-सी।

शाहिद और इस्मत के मदऊ करने पर मैं और मेरी बीवी सफ़ीया, दोनों मलाड[1] गए हुए थे। रात का खाना खाने के बाद बातों-बातों में शाहिद ने कहा : "मंटो, तुमसे अब भी ज़बान की ग़लतियाँ हो जाती हैं।"

डेढ़ बजे तक मैंने तस्लीम न किया कि मेरी तहरीर में ज़बान की ग़लतियाँ होती हैं। शाहिद थक गया। दो बजे तक इस्मत ने अपने शौहर की पैरवी की। मैं फिर भी न माना। दफ़अतन कोई बात कहते हुए इस्मत ने लफ़्ज़ 'दस्त-दराज़ी' इस्तेमाल किया। मैंने झट से कहा : "सही लफ़्ज़ दराज़-दस्ती है" –तीन बज गए। इस्मत ने अपनी ग़लती तस्लीम न

1. बबई के मुजाफात में एक जगह, जहां शाहिद बबे टाकीज की मुलाजमत के दौरान मे मुकीम था।

की। मेरी बीवी सो गई। शाहिद क़िस्सा ख़त्म करने के लिए दूसरे कमरे से लुग़त उठा लाया, 'द' की तख़्ती में लफ़्ज़ दस्त-दराज़ी मौजूद ही नहीं था। अलबत्ता दराज़-दस्ती और उसके मानी दर्ज थे। शाहिद ने कहा: "इस्मत, अब तुम्हें मानना पड़ेगा"— अब मियाँ-बीवी में चख़ शुरू हो गई। मुर्ग़ अज़ानें देने लगा। इस्मत ने लुग़त उठाकर एक तरफ़ फेंकी और कहा: "जब मैं लुग़त बनाऊंगी तो उस में सही लफ़्ज़ दस्त-दराज़ी होगा। यह क्या हुआ दराज़ दस्ती ·· दराज़-दस्ती।।"

कज-बहसी का यह सिलसिला-ए-दराज़ बहरहाल ख़त्म हुआ। इसके बाद हम एक दूसरे से कभी नहीं लड़े, बल्कि यूं कहिए कि हमने इसका कभी मौक़ा ही नहीं आने दिया। गुफ़्तगू करते-करते जब भी कोई ख़तरनाक मोड़ आया, या तो इस्मत ने रुख़ बदल लिया या मैं रास्ता काट के एक तरफ़ हो गया।

इस्मत को मैं पसंद करता हूँ, वह मुझे पसंद करती है, लेकिन अगर कोई दफ़अतन पूछ बैठे: "तुम दोनों एक दूसरे की क्या चीज़ पसंद करते हो।" तो मेरा ख़याल है कि मैं और इस्मत, दोनों कुछ अर्से के लिए बिल्कुल खाली-उज्ज़हन हो जाएँगे।

इस्मत की शक्लो-सूरत दिलफ़रेब नहीं, दिलनशीन ज़रूर है। उससे पहली मुलाक़ात के नक़्श अब भी तक मेरे दिलो-दिमाग़ में महफ़ूज़ हैं। बहुत ही सादा लिबास में थी। छोटी कन्नी की सफ़ेद धोती, सफ़ेद ज़मीन का काली खड़ी लकीरों वाला चुस्त ब्लाउज़, हाथ में छोटा पर्स, पाँव में बग़ैर एड़ी का ब्राउन चप्पल, छोटी-छोटी मगर तेज़ और मुत्जसुस आँखों पर मोटे-मोटे शीशों वाली ऐनक, छोटे मगर घुँघराले बाल-टेढ़ी माँग। ज़रा-सा मुस्कराने पर भी गालों में गडढे पड-पड़ जाते थे।

मैं इस्मत पर आशिक़ न हुआ लेकिन मेरी बीवी उसकी मुहब्बत में गिरफ़्तार हो गई। इस्मत से अगर सफ़ीया उस मुहब्बत का जिक्र करे तो वह ज़रूर कुछ यूँ कहेगी: "बड़ी आई हो मेरी मुहब्बत में गिरफ़्तार होने वाली तुम्हारी उम्र की लड़कियों के बाप तक क़ैद होते रहे हैं मेरी मुहब्बत में।"

एक बुज़ुर्गवार अहले-क़लम को तो मैं भी जानता हूँ, जो बहुत देर तक इस्मत के प्रेम पुजारी रहे। ख़तो-किताबत के ज़रिए से आपने इश्क़ फ़र्माना शुरू किया। इस्मत शै देती रही, लेकिन आख़िर में ऐसा अड़ंगा दिया कि सुरैया ही दिखा दी गरीब को। यह सच्ची कहानी, मेरा ख़याल है, वह कभी क़लम-बंद नहीं करेंगे।

बाहम मुतसादिम हो जाने के ख़ौफ़ से मेरे और इस्मत के दरमियान बहुत ही कम बातें होती थीं। मेरा अफ़साना कभी शाय हो तो पढ़कर दाद दे दिया करती थी। 'नीलम'[1] की इशाअत पर उसने ग़ैर मामूली जोशो-ख़रोश से अपनी पसंदीदगी का इज़हार किया: वाक़ई यह बहन बनाना क्या है आपने बिल्कुल ठीक कहा है। किसी औरत को बहन कहना उसकी तोहीन है।"

1. जब यह कहानी मैग्ज़ीन में शाया हुई तो उसका उन्वान 'नीलम' था। बाद में मंटो ने इसी कहानी को 'मेरा नाम राधा है' के उन्वान से अपनी किताब 'चुगद' में शामिल किया।

और मैं सोचता रह गया—वह मुझे मंटो भाई कहती है और मैं उसे इस्मत बहन कहता हूँ—दोनों को ख़ुदा समझे!

हमारी पाँच छः बरस की दोस्ती के ज़माने में ऐसा कोई वाक़िआ नहीं जो क़ाबिले-ज़िक्र हो। फ़हाशी के इल्ज़ाम में एक बार हम दोनों गिरफ़्तार हुए। मुझे तो पहले दो दफ़ा तजर्बा हो चुका था, लेकिन इस्मत का पहला मौक़ा था। इसलिए बहुत भन्नाई। इत्तिफ़ाक़ से गिरफ़्तारी ग़ैर क़ानूनी निकली, क्योंकि पंजाब पुलिस ने हमें बग़ैर वारंट पकड़ लिया था। इस्मत बहुत ख़ुश हुई, लेकिन बकरे की माँ कब तक खैर मनाती। आख़िर उसे लाहौर की अदालत में हाज़िर होना ही पड़ा।

बंबई से लाहौर तक काफ़ी लंबा सफ़र है, लेकिन शाहिद और मेरी बीवी साथ थे। सारा वक़्त ख़ूब हंगामा रहा। सफ़ीया और शाहिद एक तरफ़ हो गए और चिढ़ाने की ख़ातिर हम दोनों की फ़ुहश-निगाही पर हमले करते रहे। क़ैद की सऊबतों का नक़्शा खींचा। जेल की ज़िंदगी की झलकियाँ दिखाईं। इस्मत ने आख़िर झल्लाकर कहा : "सूली पर भी चढ़ा दें, लेकिन यहाँ हलक़ से अनलहक़ ही निकलेगा।"

उस मुक़दमे के सिलसिले में हम दो दफ़ा लाहौर गए। दोनों मर्तबा कालिजों के तमाशाई तालिबे-इल्म मुझे और इस्मत को देखने के लिए टोलियाँ बाँध-बाँध कर अदालत में आते रहे। इस्मत ने मुझसे कहा : "मंटो भाई, चौधरी नज़ीर[1] से कहिए कि टिकिट लगा दे कि यहाँ आने-जाने का किराया ही निकल आए।"

हम दो दफ़ा लाहौर गए और दो ही दफ़ा हम दोनों ने करनाल शाप से मुख़्तलिफ़ डिज़ाइनों के दस-दस बारह-बारह जोड़े सैंडिलों और जूतियों के ख़रीदे।

बंबई में किसी ने इस्मत से पूछा : "लाहौर आप क्या मुक़दमे के सिलसिले में गए थे?"

इस्मत ने जवाब दिया : "जी नहीं, जूते ख़रीदने गए थे।"

ग़ालिबन साढ़े तीन बरस पहले की बात है। होली का त्यौहार था। मलाड में शाहिद और मैं बालकनी में बैठे पी रहे थे। इस्मत मेरी बीवी को उकसा रही थी. "सफ़ीया, यह लोग इतना रुपया उड़ाएँ : हम क्यों न इस ऐश मे शरीक हों।" दोनो एक घंटे तक दिल कुढ़ा करती रहीं। इतने में एकदम हुल्लड़-सा मचा और फ़िल्मिस्तान मे प्रोड्यूसर मुकर्जी, उनकी भारी भरकम बीवी और दूसरे लोग हम पर हमला-आवर हो गए। चंद मिटो ही मे हम सबका हुलिया नाक़ाबिले-शनाख़्त था। इस्मत की तवज्जे व्हिसकी मे हटी और रंग पर मर्कूज़ हो गई : "आओ सफीया, हम भी उन पर रँग लगाएं।"

हम सब बाज़ार में निकल आए। चुनांचे घोड-बदर रोड पर बाक़ाइदा होली शुरू हो गई। नीले-पीले सब्ज़ और काले रँगा का छिड़काव-सा शुरू हो गया। इस्मत पेश-पेश थी। एक मोटी बगालन के चेहरे पर तो उसने तारकोल का लेप कर दिया। उस वक़्त मुझे उसके भाई अज़ीम बेग चुग़ताई का ख़याल आया। एकदम इस्मत ने जर्नेलो के से अंदाज़ में रंगों परीचेहरा के घर पर धावा बोले।"

1 लाहौर का एक मशहूर पब्लिशर।

उन दिनों नसीम बानो हमारे फ़िल्म 'चल-चलरे नौजवान' में काम कर रही थी। उसका बँगला पास ही घोड़बंदर रोड पर था। इस्मत की तज्वीज़ सबको पसंद आई। चुनांचे चंद मिनटों में हम सब बंगले के अंदर थे। नसीम हस्बे-आदत पूरे मैकअप में थी और निहायत नफ़ीस रेशमीं जारजट की साड़ी मे मलबूस थी। वह और उसका ख़ाविंद अहसान हमारा शोर सुनकर बाहर निकले। इस्मत ने, जो रंगों में लिथड़ी हुई भुतनी-सी लगती थी, मेरी बीवी से जिस पर मजीद रंग लगाने से मेरा ख़याल है कोई फ़र्क़ न पडता, नसीम की तारीफ़ करते हुए कहा : "सफ़ीया, नसीम वाकई हसीन औरत है।"

मैंने नसीम की तरफ़ देखा और कहा : "हुस्न है लेकिन बहुत ठंडा।"

ऐनक के रंग-आलूद शीशों के पीछे इस्मत की छोटी-छोटी आँखें घूमीं और उसने आहिस्ता से कहा : "सफरावी तबीयतों के लिए ठंडी चीजें मुफीद होती हैं।' यह कहकर वह आगे बढ़ी और एक सैकिंड के बाद ही परीचेहरा नसीम सरकस का मस्खरा बन गई।

इस्मत और मैं बाज औक़ात अजीब-अजीब बातें सोचा करते "मंटो भाई, जी चाहता है, अब मुर्ग़ और मुर्गियों के गोमांस के मुताल्लिक कुछ लिखूँ।" या फिर कहती : "मैं तो फ़ोज में भर्ती हो जाऊँगी और हवाई जहाज उड़ाना सीखूँगी।"

चंद महीनों की बात है, मैं और इस्मत बंबे टाकीज से वापस इलैक्ट्रिक ट्रेन में घर जा रहे थे। मैंने बातों-बातों में उससे कहा "कृष्ण चंदर के अफ्सानों में मैंने दो चीज़ें आम देखी हैं ज़िना-बिलजब्र और क़ौसे-कजाह, जिसे वह कौसो-कजाह लिखता है।"

इस्मत ने दिलचस्पी लेते हुए कहा : "यह तो है।"

"सोचता हूँ, एक मज्मून लिखूँ जिसका उन्वान कृष्ण चंदर, कौसे-कज़ाह और जिना-बिलजब्र हो। मैं साथ ही साथ सोच रहा हूँ कि जिना-बिलजब्र से कौसे-क़जाह का नफ्सियाती रिश्ता क्या हो सकता है?"

इस्मत ने कुछ देर गौर करने के बाद कहा "जमालियाती नुक्ता-ए-नजर से कौसे-क़ज़ाह के रंगों में इन्तिहाई जाज़िबयत और कशिश है, लेकिन आप तो किसी और जाविए से सोच रहे थे।"

मैंने कहा . "सुर्ख़ रंग, आग और ख़ून का रंग है। सनमयात मे इस रंग को मरीख़ यानि जल्लाद फलक से मन्सूब किया जाता है हो सकता है कि जिना-बिलजब्र से क़ौसे-कजाह के सिर्फ इसी रंग का दामन बँधा हो।"

"हो सकता है आप यह मज्मून जरूर लिखिए।"

"लेकिन ईसाइयों के फ़ने-मुसव्विरी मे सुर्ख़ रंग, इश्के-इलाही का मज़हर है नहीं नही " मेरे दिमाग़ मे दफअतन एक ख़लिया फूटा "सलीब पर चढ़ने के शदीद जज़्बे को भी इसी रंग में मानून किया गया है, और कुँवारी मरियम का लिबास सुर्ख़ होता है यह इस्मत की निशानी है!" यह कहते-कहते मैंने अचानक इस्मत के सफेद लिबास की तरफ़ देखा।

वह मुस्करा दी। "मंटो भाई, आप यह मज्मून ज़रूर लिखिए। मज़ा आ जाएगा लेकिन उन्वान में से बिलजब्र उड़ा दीजिए।"

"कृष्ण को एतिराज़ होगा, क्योंकि वह जब्रिया फ़ेल समझकर ही तो रोता है।"

"बेकार रोता है। क्या मालूम कि मुह ज़ुल्म ही उसकी मज़्लूम हीरोइनों को अच्छा लगा हो।"

"अल्लाह बेहतर जानता है!"

इस्मत की अफ़्साना-निगारी पर काफ़ी मज़्मून लिखे गए हैं। हक़ में कम, ख़िलाफ़ ज़्यादा। कुछ तो बिलकुल मज्ज़ूब की बड़ हैं। चंद ऐसे हैं जिनमें ज़मीन आसमान के कुलाबे मिलाए गए हैं।

पितरस साहब ने भी, जिनको लाहौर के अदबी ठेकेदारों ने डिबिया में बंद कर रखा था, अपना हाथ बाहर निकाला और क़लम पकड़कर इस्मत पर एक मज़्मून लिख दिया। आदमी ज़हीन हैं, तबीयत में शोख़ी और मिज़ाह है, इसलिए मज़्मून काफ़ी दिलचस्प और सुलझा हुआ है। आप औरत के लेबिल का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं: एक मुक़तदिर[1] व पुख़्ताकार दीबाचा-नवीस ने भी, मालूम होता है, इन्शापर्दाज़ों की रेवड़ में, नर और मादा अलग-अलग कर रखे हैं। इस्मत के मुताल्लिक़ फ़र्माते हैं कि जिन्स के एतिबार से उर्दू मे कमो-बेश उन्हें भी वही रुत्बा हासिल है जो एक ज़माने में अंग्रेजी अदब म जार्ज इलियट को नसीब हुआ। गोया अदब कोई टेनिस टूर्नामेंट है जिसमें औरतों और मर्दों के मैच अलाहदा होते हैं।

जार्ज इलियट का रुत्बा मुसल्लम, लेकिन इसका नाम ले देने से तुक बस यूँ ही मिला। अब यह अम्र एक अलाहिदा बहस का मोहताज है कि क्या कोई माबिल इम्तियाज़ ऐसा है, जो ख़रिजी और हंगामी-इत्तिफ़ाक़ी नहीं—बल्कि दाख़िली और जिबिल्लि और बुनियादी—जो इन्शा-पर्दाज औरतों के अदब से इशा-पर्दाज़ मर्दों के अदब से मुमैयज़ करता है। और अगर है तो क्या है? इन सवालों का जवाब कुछ हो, बहरहाल इस नौअ का हरगिज़ नहीं कि उसकी बुनियाद पर मुसन्निफ़ीन को जिन्स के एतिबार से अलग-अलग दो क़तारों में खड़ा कर दिया जाए।

इन सवालों का जवाब, बहुत मुमकिन है, ऐसा न हो जिसकी बुनियाद पर मुसन्निफ़ीन को जिन्स के एतिबार से दो क़तारों में खड़ा कर दिया जाए। लेकिन जवाब देते वक़्त लोग यह ज़रूर सोचेंगे कि सवाल करनेवाला कौन है। मर्द या औरत? क्योंकि सिर्फ़ मालूम होने पर सवाल करनेवाले का जिबिल्लि और बुनियादी ज़ावियाए-निगाह बहुत हद तक वाज़े हो जाएगा।

पितरस साहब का यह कहना कि "गोया अदब कोई टेनिस टूर्नामेंट है जिसमें औरतो और मर्दों के मैच अलाहिदा होते हैं" ठेट पितरसी फ़िक़्रे बाज़ी है। टेनिस टूर्नामेंट, अदब नहीं। लेकिन औरतों और मर्दो के मैच अलाहिदा होना बेअदबी भी नहीं।

पितरस साहब क्लास में लैक्चर देते हैं तो तलबा और तालिबात से उनका ख़िताब जुदागाना नहीं होता, लेकिन जब उन्हें किसी लड़के या शागिर्द लड़की से दिमाग़ी

1. आपकी मुराद सलाहउद्दीन साहब से है।

नशो-नुमा पर ग़ौर करना पड़ेगा तो माहिरे-तालीम होने की हैसीयत में वह उनकी जिन्स से ग़ाफिल नहीं हो जाएँगे।

औरत अगर जार्ज इलियट या इस्मत चुग़ताई बन जाए तो इसका यह मतलब नहीं कि उसके अदब पर उसके औरत होने के असर की तरफ़ ग़ौर न किया जाए। हीजड़े के अदब के मुताल्लिक भी क्या पितरस साहब यही इस्तिफ़सार फ़र्माएंगे, कि क्या कोई माबिल-इम्तियाज ऐसा है, दाख़िली और जिबिल्लि और बुनियादी, जो इंशापर्दाज़ हीजड़ों के अदब को इन्शापर्दाज़ मर्दों और औरतों के अदब से मुमैयज़ करता है।

मैं औरत पर औरत और मर्द पर मर्द के नाम का लेबल लगाना भोंडेपन की दलील समझता हूँ। मस्जिदों और मंदिरों पर यह बोर्ड लगाना कि यह इबादत और बंदगी की जगहें हैं, बहुत ही मुज़हका ख़ेज़ है। लेकिन जब किसी मस्जिद और मंदिर के मुक़ाबले में किसी आम रिहाइशगाह को रखकर हम फ़ने-तामीर का जाइज़ा लेंगे तो उस पर मंदिर और मस्जिद की तक़दीस का असर अपने ज़हन से महव नहीं कर देंगे।

इस्मत के औरत होने का असर उसके अदब के हर-हर नुक्ते में मौजूद है, जो उसको समझने में हर-हर क़दम पर हमारी रहबरी करता है। उसके-अदब की ख़ूबियों और कमियों से, जिनको पितरस साहब ने अपने मज़्मून में ग़ैर-जानिबदारी से बयान किया है, हम मुसन्निफ़ की जिन्स से अलाहिदा नहीं कर सकते और न ऐसा करने के लिए कोई तन्कीदी, अदबी या कीमयाई तरीक़ा ही मौजूद है।

अज़ीज़ अहमद साहब 'नया दौर' में इस्मत की 'टेढ़ी लकीर' पर तन्क़ीद करते हुए लिखते हैं: जिस्म के एहतिसाब का इस्मत के पास एक ही ज़रिया है और वह है मसास। चुनांचे रशीद से लेकर टेलर तक, बीसियों मर्द जो इस नाविल में आते हैं, सबका अंदाज़ा जिस्मी या ज़हनी मसास से किया गया है। ज़्यादातर मसास की कैफ़ियत इन्फ़िआली-सी होती है। मसास ही इस्मत के यहाँ एहतिसाबे-मर्द, एहतिसाबे-इन्सान, एहतिसाबे-ज़िंदगी, एहतिसाबे-काइनात का वाहिद ज़रिया है—रज़ाइयों के बादलों में अब्बास के हाथ बिजलियों की तरह कोंदते हैं और लड़कियों के गिरोह में नन्ही-नन्ही लर्ज़िशें मचल-मचल कर बिखर जाती हैं। रसूल फ़ातिमा के चूहे जैसे हाथ मसास का तारीक रुख़ हैं। नीम-तारीक रुख़ मैटरन का वह मुनाफ़िरा या मुआश्क़ा है, जिसमें मेटरन को ताज्जुब था कि ज़हन में लड़कियाँ उन गुंडों की आँखें अपनी रानों पर रेंगती हुई महसूस नहीं करतीं। मसास के सिलसिले में शम्मन का निस्वानी अहसास रान की उँगलियों की सरसराहट महसूस करता है।

अज़ीज़ अहमद साहब का यह नज़रिया ग़लत है कि इस्मत के यहाँ एहतिसाब का ज़रिया एक फ़क़त मसास ही है। अव्वल तो मसास कहना ही ग़लत है, इसलिए कि यह एक ऐसा अमल या फ़ेल है जो कुछ देर जारी रहता है। इस्मत तो ग़ायत दर्जे की ज़कि-उलहिस है। हलका-सा लम्स ही उसके लिए काफ़ी है। इस्मत के यहां आपको दूसरी जिस्मानी हिसें भी महवे-अमल नज़र आती हैं। मिसाल के तौर पर सूंघने और सुनने की हिस। सौत का तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस्मत के अदब से बहुत ही गहरा ताल्लुक़ है:

"घर-घर। फट शूँ। फ़िश।" बाहर बरामदे में मोटर भन्ना रही थी।

"रेडियो को मरोड़ते रहे। खड़-खड़, शटर-शटर, घर-घरं।" मेरे आँसू निकल आए।

टनन-टनन। साइकिल की घंटी बजी। मैं समझ गई, एडना आ गई।

और जो ज़रा ऊंघने की कोशिश की तो धमाधम ठट्टों की आवाज छत पर आई।

और धम-धम छम-छम करती बहू सीढ़ियों पर से उतरी।

"ग़ुन-ग़ुन, ग़ुन-ग़ुन।" बहू मिनमिनाई।

मक्खी, तनन तनन करके रह गई।

बच्चा कूँ-कूँ करके चपड़-चपड़ मुँह मारने लगता।

बिल्ली की तरह सपड़-सपड़ रकाबी चाटने जैसी आवाजें आने लगी।

टक-टक, टक-टक। घड़ी की तरह उसका दिल हिलने लगा।

मोटे-मोटे कहक़हे लगाते हुए मच्छर।

एक पुर-असार कब्रस्तानी सिस्की हवा में लर्ज़ती है।

घुँघरुओं की झनकार और तालियों की आवाजें एकबारगी मेरे जिस्म में रेंगकर हजारों नब्ज़ों की तरह फड़फड़ाने लगीं।

इसी तरह सूँघने की हिस भी जगह-जगह मस्रूफ़े-अमल है :

और बू तो देखो, हुक्के की सड़ांद है। तौबा, थू।

क़िवाम की बू ऐसी बस गई थी कि उसे नींद न आई।

सरसों का तेल आठवें दिन ही खट्टी-खट्टी बू देने लगता।

और जिस्म से अजीब घबराने वाली बू के शरारे निकलने थे।

गर्म-गर्म ख़ुशबुओं के इत्र ने और भी उन्हें अंगारा बना दिया।

मैंने नथने फुलाकर 'सूँ-सूँ' हवा को सूँघा। सिवाए इत्र, संदल और हिना की गर्म-गर्म ख़ुशबू के और कुछ महसूस न हुआ।

सर्द आहों, और भीनी-भीनी ख़ुशबू तक को रंग में समोकर दिखा दिया था।

पसीने से गल चुके थे और उनमें मरघट जैसी चिरांद आने लगी थी।

मर्दाना कमीस, सिगरेट की बू में ग़र्क़, मलगजी-सी।

नीचे क्यारियों में से धनिए की नन्ही-नन्ही पत्तियाँ तोड़कर सूँघने लगी।

इस्मत की सब हिसें वक्त पड़ने पर अपनी-अपनी जगह काम करती हैं और ठीक तौर से करती हैं। अज़ीज़ अहमद साहब का यह कहना कि जिन्स एक मर्ज़ की तरह इस्मत के आसाब पर छाई हुई है, मुमकिन है, उनकी तश्ख़ीस के मुताबिक़ दुरुस्त हो, मगर वह इस मर्ज के लिए नुस्खे तज्वीज़ न फ़र्माए। यूँ तो लिखना भी एक मर्ज है। कामिल तौर पर सेहतमंद आदमी, जिसका दर्जा-ए-हरारत हमेशा साढे अठ्ठानवे ही रहे, सारी उम्र अपनी जिंदगी की ठंडी स्लैट हाथ में लिए बैठा रहेगा।

1 पिनरम साहब मनवज्जे हों।

अज़ीज अहमद साहब लिखते हैं : इस्मत की हीरोइन की सबसे बडी टेजिडी यह है कि दिल से न उसे किसी मर्द ने चाहा और न उसने किसी मर्द को। इश्क़ एक ऐसी चीज़ है, जिसका जिस्म से वही ताल्लुक़ है जो बिजली का तार से है। खटका दबा दो तो यही इश्क हज़ारों कंदीलो के बराबर रौशनी करता है। दोपहर की झुलसती लू में पंखा झलता है। हज़ारों देवो की ताक़त से ज़िंदगी की अज़ीमुश्शान मशीनों के पहिये घुमाता है और कभी-कभी ज़ुलफ़ों को सँवारता और कपड़ों पर इस्त्री करता है। ऐसे इश्क़ से इस्मत चुग़ताई बहैसियते-मुसन्निफ़ा वाक़िफ़ नहीं।

जाहिर है कि अज़ीज़ अहमद साहब को इसका अफ्सोस है—मगर यह इश्क़, जिससे अजीज़ अहमद साहब वाक़िफ मालूम होते हैं, ऐसा लगता है कि उन्होंने पंज साला स्कीमों के मातहत तैयार किया है और अब वह उसे हर इन्सान पर आइद कर देना चाहते हैं—अज़ीज़ अहमद साहब को ख़ुश करने के लिए मैं फ़र्ज कर लेता हूँ कि इस्मत की हीरोइन उस इश्क़ के ए सी और डी सी, दोनों करंटों से वाकिफ थी। फिर यह ट्रेजिडी कैसे वक़ू-पजीर हुई कि दिल से न उसे किसी मर्द ने चाहा और न उसने किसी मर्द को।

इस्मत वाक़ई अज़ीज अहमद साहब के तस्नीफ़-कर्दा इश्क़ से नाआशना है और उसकी यह ना-आशनाई ही उसके अदब का बाइस है। अगर आज उसकी ज़िंदगी के तारो के साथ उस इश्क़ की बिजली जोड दी जाए और खटका दबा दिया जाए तो बहुत मुमकिन है, एक और अज़ीज अहमद पैदा हो जाए, लेकिन 'तिल', 'गैंदा', 'भूल भुलैयाँ' और 'जाल' तस्नीफ करनेवाली इस्मत यक़ीनन मर जाएगी।

इस्मत के ड्रामे कमजोर हैं। जगह-जगह उनमें झोल है। इस्मत प्लाट को मनाज़िर में तकसीम करनी है तो नापकर कैंची से नहीं कतरती, यूँही दाँतो से चीर-फाडकर चीथडे बना डालती है। पार्टियो की दुनिया इस्मत की दुनिया नहीं। उसमें वह बिलकुल अजनबी रहती है। जिन्स, इस्मत के आसाब पर एक मर्ज़ की तरह सवार है। इस्मत का बचपन बडा ग़ैर सेहत बख्श रहा है। पर्दे के उस पार की तफ्सीलात बयान करने मे इस्मत को यदे-तूला हासिल है। इस्मत को समाज से नहीं, शख्सीयतो से शग़फ़ है। शख्सीयतों से नही, अशखास से है। इस्मत के पास जिस्म के एहतिसाब का एक ही जरिया है और वह है मसाम—इस्मत के अफ्सानों की कोई सम्त ही नहीं—इस्मत की ग़ैर मामूली कुव्वते-मुशाहिदा हैरत में गर्क़ कर देती है—इस्मत फुहश-निगार है—हलका-हलका तन्ज और मिजाह, इस्मत के इस्टाइल की मुमताज ख़ूबियाँ हैं—इस्मत तलवार की धार पर चलती है।

इस्मत पर बहुत कुछ कहा गया है और कहा जाता रहेगा। कोई उसे पसंद करेगा, कोई नापसंद। लेकिन लोगों की पसंदीदगी और नापसंदीदगी से ज़्यादा अहम चीज़ इस्मत की तस्नीफ़ी कुव्वत है। बुरी, भली, उरियाँ, मस्तूर, जैसी भी है, काइम रहनी चाहिए। अदब का कोई जुगराफ़िया नहीं। उसे नक्शों और ख़ाकों की कैद से, जहाँ तक मुमकिन हो, बचाना चाहिए।

अर्सा हुआ, देहली के एक जाते-शरीफ देश ने अजीबो-गरीब हरकत की। आपने

'औरों की कहानी, सन मेरी ज़बानी' ''इसके पढ़ने से बहुतों का भला होगा।'' जैसे उन्वान से शाया की। उसमें मेरा, इस्मत, मुफ़्ती, प्रेमचंद, ख्वाजा मौहम्मद शफी और अजीम बेग चुग़ताई का एक-एक अफ्साना शामिल था। दीबाचे में तरक्की पसद अदब पर एक तन्क़ीदी चोट, मारूँ घुटना फूटे आँख के बमिस्दाक़, फ़र्माई गई थी, और उस कारनामे को अपने दो नन्हे-नन्हे बच्चों के नाम से मानून किया गया था। उसकी एक कापी आपने इस्मत को और मुझे रवाना की। इस्मत को देश की यह नाशाइस्ता और भोंडी हरकत सख्त नापसंद आई। चुनांचे बहुत भन्नाकर मुझे एक ख़त लिखा : मंटो भाई, आपने वह किताब, जो देश ने छापी है, देखी ? ज़रा उसे फटकारिए और एक नोटिस दीजिए निजी तौर पर कि हर मज़्मून का जुर्माना दो सौ रुपए दो, वर्ना दावा ठोक देंगे। कुछ होना चाहिए। आप बताइए, क्या किया जाए। यह ख़ूब है कि जिसका दिल चाहे उठाकर हमे कीचड मे लथेड देता है और हम कुछ नहीं कहते। ज़रा मज़ा रहेगा। इस शख़्स को ख़ूब रगड़िए। डाटिए कि उलटा अलमबर्दार क्यों बन रहा है उरियाँ अदब का। उसने हमारे अफ्साने सिर्फ किताब फ़रोख़्त करने के लिए छापे हैं। हमारी हतक है कि हमे हर ऐरे गैरे नत्थू खैरे कमअक्लों की डाँटें सुनना पडें। जो कुछ मैंने लिखा है, उसको सामने रखकर एक मज़्मून लिखिए। आप कहेंगे, मैं क्यों नहीं लिखती तो जवाब है कि आप पहले हैं।

जब इस्मत से मुलाक़ात हुई तो उस ख़त का जवाब देते हुए मैंने कहा : ''सबसे पहले लाहौर के चौधरी मोहम्मद हुसैन[1] साहब हैं। उनसे हम दर्ख़्वास्त करें तो वह जरूर मिस्टर देश पर मुक़दमा चलवा देंगे।

इस्मत मुस्कराई : ''तज्वीज़ तो ठीक है, लेकिन मुसीबत यह है कि हम भी साथ ही धर लिए जाएँगे।''

मैंने कहा : ''क्या हुआ : अदालत ख़ुश्क जगह सही लेकिन करनाल शाप तो काफी दिलचस्प जगह है : मिस्टर देश को वहाँ ले जाएँगे और ''

इस्मत के ग़ालों के गड्ढे गहरे हो गए।

1 प्रैम ब्रांच, हुकूमत-पंजाब का इन्चार्ज।

दीवान सिह मफ़्तून

लुगत[1] मे 'मफ्तून' का मतलब 'आशिक' बयान किया गया है—अब जरा इस आशिके-जार का हलिया मुलाहिजा फरमाइए : नाटा कद, भद्दा जिस्म, उभरी हुई तोंद, वजनी सर जिस पर छिदरे खिचडी बाल जो केश कहलाने के हरगिज मुस्तहिक[2] नही और अगर यह इकट्ठे किए जाएँ तो बमुश्किल किसी कट्टर ब्राहमण की चोटी बने; गहरा साँवला रग और छोटी-सी घिसी-पिटी दाढी जो शायद किसी जमाने मे दाढियो की लाज रखती हो, आँखे बडी न छोटी, मगर बला की तेज और मुज्तरिब।

बहैसियते-मजमूई[3] यह आशिके जार सरदार दीवान सिह मफ्तून, एडिटर हफ्तावार 'रियासत' देहली : किसी जमाने मे राजाओ, महाराजो और नवाबो का दुश्मन, उनके राज फाश करनेवाला मदारी : सहाफत[4] मे एक नए, खास मगर बहुत जोरदार अदाजे-तहरीर का मालिक : दोस्तो का दोस्त, बल्कि खादिम और दुश्मनो का जालिम तरीन दुश्मन—सचलन टायर का इश्तिहार मालूम होता है। फर्क सिर्फ इतना है कि इश्तिहार मे जो टायर की बनी हुई इसानननुमा शक्ल है, उसके जोडो मे दर्द नही होता, मगर दीवानसिह मफ्तून गठिया का मारा है और उसका बद-बद और जोड-जोड दर्द करता है—आप उसके मेज पर कलम-दवात के साथ हर वक्त करोशन साल्ट[5] की बोतल देख सकते हैं। यह बोतल कलमदान का ऐसा जुज बनकर रह गई है कि बाज औकात आपको ऐसा मालूम होगा कि दीवानसिह मफ्तून अपना कलम रोशनाई मे डुबोने के बदले करोशन साल्ट मे डुबोता है और उसी से लिखता है।

जिस तरह दीवानसिह मफ्तून की कल सीधी नहीं, उसी तरह उसकी तहरीर का कोई जुमला सीधा नही होता—अदब का वह जाने कब से खून कर रहा है, लेकिन सहाफत मे उसका वही रुत्बा है जो 'बबे सेटीनल' के एडिटर आँजहानी बी जी हारनीमैन का था, बल्कि मै समझता हूँ, उससे बालिश्त भर ऊँचा है।

हारनीमैन सिर्फ पुलिस से टक्कर लेता रहा—दीवानसिह मफ्तून ने अपनी पहलवानी के दम-खम कई अखाडो मे दिखाए। उसने बडी-बडी रियासतो से पजा लड़ाया। अकालियो से मुतसादिम[6] हुआ। मास्टर तारासिंह और सरदार खड़कसिंह से तलवारबाज़ी की। मुस्लिम लीग से चौमुखी लड़ा। पुलिस को तिगनी का नाच नचाया। ख्वाजा गेसू दराज हज़रत हसन निजामी से चोहले[7] की। तीस से कुछ ऊपर मुकदमे चलवाए और हर बार

सुर्खरू रहा। लाखों बल्कि करोड़ों कमाए और उड़ा डाले। मुफ़लिसी के ज़माने में अगर कोई दोस्त आया तो चुटकियों में चार सौ बीस करके रुपया हासिल किया और उसकी तवाज़े पर ख़र्च कर दिया। जेबें लबालब भरी होने पर मोटर की हैड लाइट्स में नंगी औरतों का रक़्स देखा और अपने दोस्तों को दिखाया। आप कम पी, अपने यारों को जी भर के पिलाई।

दीवानसिंह मफ़्तून इकाई नहीं—वह दहाई, सैकड़ा, हज़ार है, दस हजार है, बल्कि लाख है। वह एक अजाइबघर है जिसमें सैकड़ों, बल्कि हजारों नादिर दस्तावेज़ात मुक़फ़्फ़ल[8] पड़ी हैं; वह एक बैंक है जिसके लैजरों में करोड़ों का हिसाब दर्ज है; वह स्काटलैंड यार्ड है जिसमें लाखों जरइम पेशा इंसानों के ख़ुफ़िया हालात मौजूद हैं।

अगर वह अमरीका में होता तो वहाँ का सबसे बड़ा गैंगस्टर होता। कई अख़बार उसके ताबे होते। बड़े-बड़े यहूदी सरमायादार उसके एक इशारे पर नाचते। वह राबिनहुड का भी बाप होता। मुफ़्लिसों के लिए उसकी तिजोरियाँ हर वक़्त खुली होतीं।

आप मफ़्तून को देखिएगा तो उसे मामूली-सा पढ़ा-लिखा अधेड़ उम्र का सिख समझेंगे, लेकिन वह बहुत पढ़ा-लिखा है—एक दिन मैंने उन्हें 'रियासत' के ख़ूबसूरत प्याजी रंग के कार्डों पर दस्तख़त करते देखा। कार्डों की दो-तीन ढेरियाँ लगी थीं। मैंने एक कार्ड उठाकर टाइप शुदा इबारत पढ़ी—बैरूनी मुल्क की किसी फ़र्म से फेहरिस्त भेजने की दरख़्वास्त की गई थी। सब कार्ड इसी मजमून के थे। मुझे बहुत हैरत हुई कि इतनी फेहरिस्तें मँगाकर सरदार साहब क्या करेंगे—मैंने पूछा : "मफ़्तून साहब, क्या आप कोई स्टोर खोलनेवाले हैं?"

सर को सिक्खों के मख़्सूस[9] अंदाज में एक तरफ़ झटका देकर मफ़्तून ख़ूब हँसा : "नहीं मंटो साहब : मैं यह फ़ेहरिस्तें मँगा रहा हूँ कि मुझे इनके मुताले[10] का शौक़ है।"

मेरी हैरत में और इज़ाफ़ा हो गया : "आप मुताला फ़रमाएँगे, यानी फेहरिस्तों का : हासिल क्या होगा?"

"मालूमात : मैं अपनी मालूमात में इसी तरह इज़ाफ़ा किया करता हूँ।"

"आपकी जो बात है, निराली है।"

"डनलप कंपनी क्या बनाती है?" उन्होंने एकदम मुझसे सवाल किया। मैंने झट से जवाब दिया : "टायर!"

इस पर उन्होंने मुझे बताया कि डनलप कंपनी सिर्फ़ टायर-ट्यूब ही नहीं बनाती, हज़ारों और चीज़ें भी बनाती है। गाफ़ बाल, रबड़ के गद्दे-गद्दियाँ, रबड़ स्प्रिंग, नलकियाँ, हौज़ पाइप और ख़ुदा मालूम क्या-क्या।

जब फ़ेहरिस्तें आती हैं तो वह हर एक का बग़ौर मुताला करता है। इसीलिए मैंने कहा है कि सरदार दीवानसिंह मफ़्तून बहुत पढ़ा-लिखा आदमी है। वह तमाम फ़ेहरिस्तें पढ़ता है और जब वह बेकार हो जाती हैं तो महल्ले के बच्चों में तक़सीम कर देता है कि वह तसवीरें देखें और ख़ुश हों—बच्चों से उसे बहुत प्यार है।

वेल्नी ममालिक[11] के कारखानों की फेहरिस्त पढ़-पढ़कर वह अपने पर्चे के जोरदार इदारिए[12] लिखता है, 'नाकाबिले-फरामोश' का नाकाबिले फरामोश कालम लिखता है, सवालों का 'टचन' जवाब देना है और फसाहत-बलागत[13] का हर जगह खून करता है।

बहुत बद खत है। जिस तरह वह आप टेढ़ा-मेढ़ा है, उसी तरह उसके कलम से निकले हुए हरूफ टेढ़े-मेढ़े होते हैं—मुझे हैरत है, कातिब उसका लिखा हुआ कैसे पढ़ता है। मुझे जब भी उसका खत आया, मैंने अंदाजन उसका मतलब निकाला। दूसरी मर्तबा गौर से डीसायफर[14] करने की कोशिश की तो मालूम हुआ कि मैंने पहली नजर में जो मतलब अखज[15] किया था बिलकुल गलत था। तीसरी दफा पढ़ा तो हरूफ अपनी सही शक्ल इख्तियार करने लगे। चौथे मरहले पर बिलआखिर इबारत मुकम्मल तौर पर रोशन हुई।

दीवानसिंह मफ्तून बहुत मोहतात[16] आदमी है—मुहावरा है, 'दूध का जला छाछ फूंक-फूंककर पीता है।' वह छाछ के अलावा पानी भी फूंक-फूंककर पीता है—कातिब को हिदायत है कि जब उसकी लिखी हुई स्लिपें पीले कागज पर मुन्तकिल[17] हो जाएं तो फौरन वापस कर दी जाएं। किताबत शुदा मुतून से अगलात[18] लगाने के बाद वह मेज पर पड़ी हुई काली संदूकची खोलेगा और उसमें तमाम स्लिपें डालकर उसको मुकफ्फल कर देगा और जब पर्चा छपकर आ जाएगा तो अपनी तहरीरों को तलफ[19] कर देगा—मालूम नहीं, यह एहतियात[20] क्यों बरती जाती है।

उसकी सारी डाक एक थैले में मुकफ्फल होकर आती है। उसे खोलकर वह एक-एक खत, एक-एक अखबार बाहर निकालेगा और तरतीबवार मेज पर रखता जाएगा। लिफाफा खोलकर खत निकालने के बाद वह लिफाफा रद्दी की टोकरी में नहीं फेंकता, बल्कि खत के साथ पिन लगाकर नत्थी कर देता है। इसी तरह वह रिसालों और अखबारों के रैपर भी ज़ाया नहीं करता—मैंने इस तर्जे-अमल के मुताल्लिक पूछा तो जवाब मिला "एहतियात हर हालत में अच्छी होती है हो सकता है, मैं किसी अखबार या रिसाले के खिलाफ मुकदमा करना चाहूं—अब कानून यह है कि अगर लाहौर के किसी अखबार या रिसाले ने मेरे खिलाफ लिखा है और रैपर जिस पर मेरा नाम और पता दर्ज है, मैं पेश नहीं कर सकता तो मुकदमा सिर्फ लाहौर ही में चल सकता है। बसूरते-दीगर यह रैपर इस बात का सबूत होगा कि मेरी बेइज्जती यहां देहली में हुई है जहां मुझे यह पर्चा इरसाल[21] किया गया है, इसलिए मैं यहाँ देहली की अदालत में दावा दाइर कर सकता हूँ।"

दीवानसिंह मफ्तून पर जो आखिरी* मुकदमा चला, बहुत खतरनाक था। वह और एक बंगाली ब्लाकमेकर[22] जाली नोट बनाने के इल्जाम में माखूज[23] थे—मैं उन दिनों बंबई में था। एक दिन मुझे 'मसव्विर वीकली' की मार्फत एक टाइप किया हुआ खत मिला जिस पर कोई दस्तखत नहीं थे। टाइप में 'दीवानसिंह मफ्तून' लिखा था और मुझसे दरख्वास्त की गई थी कि मैं गवाह के तौर पर पेश हूं।

अर्सा हुआ, मैं देहली गया था और उनकी खिदमत में हाजिर हुआ था—मैं दफ्तर पहुँचा

---

* गालिबन वर्त्तावर्गा —सपा।

तो वहाँ कोई भी नहीं था। मैं एक कुर्सी पर बैठ गया और कमरे का जाइज़ा लेने लगा। बहुत बड़ा मेज़ था जिसके दोनों तरफ़ रेडियो पड़े थे। कलमदान के पास करोशन माल्ट की दो बोतलें थीं। एक कोने में परदे के पीछे सोफ़ानुमा चीज़ थी जिस पर ग़ालिबन दीवान साहब इस्तिगहन[24] फ़रमाते होंगे। सब अलमारियाँ खुली थीं—मैंने यह और दूसरी तफ़्सीलात 'मुसव्विर' में एक मज़मून की सूरत में शाया की थीं और कहा था कि अगर इस कमरे में छोटा-सा कंपार्टमेंट बना दिया जाता जिसमें कमोड होता तो यह कमरा किसी रेल का बहुत बड़ा डिब्बा दिखाई देता—दीवान साहब ने यह मज़मून सँभाल के रखा हुआ था।

जब पुलिस ने छापा मारकर इस कमरे की अलमारी से एक किताब में रखे हुए सौ-सौ के ग़ालिबन छः नोट निकाले और सरदार साहब की गिरफ़्तारी अमल में आई तो उन्होंने मुझे सफ़ाई के गवाहों में रख लिया। उस मजमून से और मेरी गवाही से यह साबित करना मतलूब था कि उनके दफ़्तर में कोई भी शख़्स बेरोक-टोक आ-जा सकता है।

मेरा ख़याल है, मैं देहली में दीवान साहब से अपनी इस मुलाकात के बारे में भी कुछ लिख दूँ कि यह ख़ासी दिलचस्प थी।

देर तक इंतज़ार करने के बाद जब वह न आए तो मैं चला गया। शाम को फिर आया तो वह दफ़्तर में मौजूद थे—सचलन टायर का इश्तिहार कुर्सी पर बैठा था। सर पर छोटी-सी सफ़ेद पगड़ी। क़लम उँगलियों में दबाए कुछ लिख रहे थे—चश्मे के शीशों के पीछे आँखें एक अजीब अंदाज़ में ऊपर करके मुझे देखा और यूँ उछले, जैसे रबड़ की ठोस गेंद उछलती है। मुझसे घुटघुट जफ़ियाँ[25] पाईं और कहा : "मुझे मालूम हुआ था कि आप आए थे मैं एक ज़रूरी काम से बाहर गया हुआ था।

मुझे बैठने को कहा, बंबे के हालात पूछे, इधर-उधर की बातें शुरू कीं—मगर मैं महसूस कर रहा था कि वह मुझसे मुतवज्जेह[26] तो ज़रूर हैं, लेकिन उनका दिमाग़ कुछ और सोच रहा है।

बातें करते-करते उन्होंने टेलीफ़ोन का रिसीवर उठाया और एक नंबर मिलाकर दूसरे सिरेवाले से कहा : "मैं सुंदरलाल बोल रहा हूँ, नई दिल्ली से लाला हैं ? कहाँ गए हैं ? अच्छा।"

आपका दफ़्तर पुरानी दिल्ली में था, और यह भी ज़ाहिर है कि सुंदरलाल नहीं, दीवानसिंह मफ़्तून बोल रहा था—दौराने-गुफ़्तगू आपने कई मर्तबा इसी तरह मुख़्तलिफ़ नंबर मिलाए और जाली नामों से लाला के मुताल्लिक़ पूछा कि वह कहाँ हैं—मालूम नहीं, क्या चार सौ बीस थी, लेकिन मुझे इतना यक़ीन था कि उस लाले की शामत आ गई है या अनक़रीब आनेवाली है।

टेलीफ़ोन के ज़रिए से जब कुछ पता चला, या न चला तो उन्होंने सोलहवीं मर्तबा मुझे बीयर की दावत देने के बाद अपने ख़ास आदमी* को आवाज़ देकर बुलाया : उसके कान में कुछ कहा और रुख़्सत कर दिया—फिर वह मुझसे मुख़ातिब हुए : "हाँ मंटो साहब, तो बीयर

*ग़ालिबन सरदार वरयाम सिंह। —मंटो

मँगवाऊँ आपके लिए?"

मैंने झुँझलाकर कहा : "सरदार साहब, जबानी जमाखर्च आपने आखिर सीख ही लिया दिल्लीवालों से मँगवाइए। मँगवाते क्यों नहीं।"

मेरी बात सुनकर दीवान साहब ख़ूब खुलकर हँसे और अहालयाने[27] दिल्ली, यू.पी. को बेनुक़्त[28] सुनाने लगे—इंसानों की इस क़िस्म से उनको ख़ुदावास्ते का बैर है। चुनांचे जब भी उन्हें अपने दफ़्तर में किसी मुलाज़िम की ज़रूरत होती है तो इश्तिहार में यह बात ख़ासतौर पर लिखी होती है कि सिर्फ़ पंजाबी दरख़्वास्त भेजें। लेकिन अजीब बात है कि आप एहसान भैया को अपना बेहतरीन दोस्त यकीन करते हैं। उनके दिल में यू.पी. के इस बाशिंदे का बहुत एहतिराम[29] है।

एक मर्तबा दीवान साहब को अपनी मोटर एक तंग बाज़ार से गुज़ारना थी। मैं उनके साथ था। मोटर मुड़ी तो सड़क के ऐन बीच कई चारपाइयाँ बिछी दिखाई दीं। आप आग-बगूला हो गए और लगे दिल्लीवालों और उनकी हश्त-पुश्त को बेनुक़्त[30] सुनाने "कमबख़्तो, तुम्हारे इस्लाफ़[31] तुम्हारे आबाओ-अज्दाद[32] ने भी इसी तरह चारपाइयों पर दिन-रात सो-सोकर अपनी सल्तनत का बेड़ा गर्क़ किया था अब तुम्हारे पास क्या रह गया है जिसका बेड़ा गर्क़ करोगे ख़ुदा तुम्हारा बेड़ा ग़र्क़ करे।"

एक लड़के ने चारपाई उठाने की कोशिश की मगर उससे न उठ सकी। दीवान साहब मोटर से बाहर निकले और चारपाई को उठाकर फेंक दिया : "बरख़ुर्दार, तुमसे न उठती अपनी कमरिया देखो तुम्हारे वालिद बुज़ुर्गवार यक़ीनन तुमसे भी कहीं ज्यादा नाज़ुक होंगे। उनसे तो पैख़ाने जाते वक्त लोटा भी न उठाया जाता होगा।"

इस पर बहुत-से लोग जमा हो गए और उन्होंने करखनदारों[33] की ज़बान में वाही-तबाही बकना शुरू कर दी, मगर दीवान साहब ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। मोटर में आराम से बैठे और चलाना शुरू कर दी।

सरदार साहब को पंजाबी बहुत पसंद हैं, शायद इसलिए कि वह एक ज़माने से देहली में क़यामपज़ीर हैं, वरना यह हक़ीक़त उनकी नज़रों से ओझल नहीं कि सिर्फ़ पंजाबी होना, अच्छे इंसान की दलील नहीं। वह सीने पर हाथ रखकर यह कभी नहीं कह सकते कि अपने दफ़्तर की मुलाज़िमत के सिलसिले में पंजाबी की क़ैद लगाकर उन्होंने हमेशा फ़ाइदा उठाया। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि जितना नुक़सान उनको पंजाबियों ने पहुँचाया है, उसका अशरे-अशीर[34] भी दिल्ली, यू.पी. के रहनेवालों ने नहीं पहुँचाया।

अब मैं उनके आख़िरी और ख़तरनाक मुक़दमे की तरफ लौटता हूँ।

मैं देहली गया। सरदार साहब ज़मानत पर रिहा थे। मालूम हुआ कि उनको तंग करने के लिए उनके मुक़दमे की समाअत देहली से बहुत दूर गुड़गाँव की एक अदालत में हो रही है। हम वहाँ मोटर में गए। वकील ने मुझे समझा दिया था कि मुझे क्या कहना है। चुनांचे मेरी गवाही दस मिनट के अंदर-अंदर ख़त्म हो गई।

सरदार साहब को अपना तहरीरी बयान पेश करना था। जब वह हवालात में थे तो आपने इसके नोट ले लिए थे। अब यह छोटे टाइप में ग़ालिबन चालीस-पचास सफ़हात पर

फैला हुआ था—मैंने इसे जस्ता-जस्ता देखा और मेरा ज़ेहन फ्रांस के मशहूर मुसन्निफ़ ऐमिली ज़ोला के शुहरा-ए-आफ़ाक़[15] मज़मून 'आई एक्यूज़' (I accuse) की तरफ़ मुंतक़िल हो गया।

दीवानसिंह मफ़्तून का यह बयान मुल्ज़िम का सफ़ाई का बयान नहीं था, बल्कि फ़र्दे-जुर्म था, हुकूमत और उसके कारिंदों के ख़िलाफ़। आख़िर में उन्होंने अपने मुकद्दमात की फ़ेहरिस्त लगा रखी थी। हर सफ़हे पर मुख़्तलिफ़ ख़ाने बनाकर यह वाज़ेह किया गया था कि कौन-सा मुक़दमा कब चला, किसकी ईमा[16] पर चला, किसकी अदालत मे पेश हुआ और उसका क्या फ़ैसला हुआ—ग़ालिबन तीस मुकदमे थे। उनमें से इकतीस मे वह बाइज़्ज़त तौर पर बरी हुए थे। सिर्फ़ एक मुक़दमा था, बहुत बड़ा और बहुत मशहूर मुकदमा जो नवाब भोपाल ने उन पर चलाया था और जिसमें उनको शायद सिर्फ़ उस अर्से की सज़ाए-क़ैद दी गई थी जो उन्होंने हवालात मे गुज़ारा था।

सरदार साहब ने फ़ाज़िल जज के यह अल्फ़ाज़ ख़ासतौर पर अपने बयान में दर्ज किए हुए थे : "मैं सरदार दीवानसिंह मफ्तून, एडिटर 'रियासत', देहली की हिम्मत की दाद देता हूँ जो अपने महदूद ज़राए के बावुजूद तवील अर्से तक एक शहज़ादे का तंदही[17] के साथ मुकाबला करता रहा।"

नवाब भोपाल से सरदार दीवानसिंह मफ़्तून वाकई बहुत दिलेरी और साबित कदमी से लड़ा, लेकिन इस जंग में उसका दीवाला पिट गया। जो जमापूँजी थी, सब पानी की तरह बह गई। कोई और होता तो उसकी हमेशा-हमेशा के लिए कमर टूट जाती, मगर मफ्तून ने हौसला न हारा और जूँ-तूँ अपना प्यारा पर्चा 'रियासत' शाया[18] करता रहा।

उसने बड़े-बड़े आदमियों से मुक़ाबला किया और फ़तह हासिल की, लेकिन अपनी ज़िंदगी में एक आदमी से शिकस्त भी खाई—किससे ? ख़्वाजा हसन निज़ामी से !

सरदार साहब ने एक दिन ज़च-बच[19] होकर मुझसे कहा : "मैंने बडी-बड़ी कुतुब साहब की लाटों को झुका दिया, मगर यह कमबख़्त हसन निज़ामी मुझसे नही झुकाया जा सका मंटो साहब, मैंने इस शख़्स के ख़िलाफ़ इतना लिखा, इतना लिखा है कि अगर 'रियासत' के वह तमाम पर्चे जिनमें यह मज़ामीन छपते रहे हैं, उस पर रख दिए जाएँ तो उनके वज़न ही से उसका कचूमर निकल जाएगा लेकिन उलटा मेरा कचूमर निकल गया है मैंने उसके ख़िलाफ़ इस क़दर ज्यादा इसलिए लिखा कि मैं चाहता था, वह भिन्नाकर क़ानून को पुकारे—खुली अदालत में मुक़दमा पेश हो और मैं वहाँ उसकी ढोल की पोल खोल के रख दूँ मगर वह बड़ा काइयाँ हैं उसने मुझे कभी ऐसा मौक़ा नही दिया और न देगा।"

यह अजीब बात है कि किसी ज़माने में सरदार दीवानसिंह मफ्तून और ख़्वाजा हसन निज़ामी में गाढ़ी छनती थी। मालूम नहीं, किस बात पर वह एक-दूसरे से अलग हो गए।

मैं फिर मुक़दमे की तरफ़ आता हूँ।

गुड़गाँव की अदालत ने उनको ग़ालिबन दो दफ़आत के मातहत बारह-बारह बरस क़ैदे-बा-मशक़्क़त की दो सज़ाएँ दीं—सरदार साहब ने गुड़गाँव ही में मुझसे कह दिया था कि वहाँ का मैजिस्ट्रेट उन्हें कड़ी-से-कड़ी सज़ा देगा। चुनाचे ऐसा ही हुआ—लेकिन उन्होंने मुझे तसल्ली दी थी : "मुतफ़क्किर[40] होने की कोई ज़रूरत नहीं हाई कोर्ट मे साफ

बरी हो जाऊँगा" यह भी सही साबित हुआ—हाई कोर्ट ने उन्हें बाइज़्ज़त तौर पर बरी कर दिया।

सरदार साहब ने मुझसे गुड़गाँव में कहा था कि वह कुछ अर्से पहले शिमला में थे। वहाँ एक पार्टी में सरदार साहब के अलावा सर डगलस* यंग भी मौजूद थे, जिनके ख़िलाफ़ सरदार साहब बहुत कुछ लिख चुके थे—सरदार साहब को हैरत हुई, जब सर डगलस ने उनसे मिलने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की।

बहरहाल उन दोनों की मुलाक़ात हुई और चीफ़ जस्टिस ने उनकी क़लम की तवानाई[41] की बहुत तारीफ़ की और कहा: "अगर मैं कभी तुम्हारे काम आ सका तो यकीन मानना, मुझे बड़ी खुशी होगी मैं तुम्हारी ज़रूर मदद करूँगा।"

जहाँ तक मैं समझता हूँ, सर डगलस के इस वादे का सरदार दीवानसिंह मफ़्तून की बरीयत में काफ़ी दख़ल है।

मुक़दमा देर तक चलता रहा। दीवान साहब हवालात में थे—इस मुक़दमे की रूदाद[42] बड़ी दिलचस्प है—इस्तिग़ासा की तरफ़ से यह कहानी पेश की गई थी कि दीवानसिंह ने कुछ जाली नोट, चलाने की ख़ातिर अपने दोस्त जीवनलाल मट्टू को एक लिफ़ाफ़े में लाहौर भेजे थे और यह लिफ़ाफ़ा रास्ते ही में पुलिस ने अपने क़ब्ज़े में ले लिया था। लिफ़ाफ़े में एक टाइप किया हुआ ख़त भी था। यह साबित करने के लिए कि वह ख़त दीवानसिंह मफ़्तून ने अपने दफ़्तर के टाइपराइटर पर तैयार किया था, पुलिस ने वह टाइपराइटर भी अपने क़ब्ज़े में ले लिया था और अदालत में पेश किया था—टाइप किए हुए ख़त में हर्फ़ 'ओ' और 'बी' के पेट भरे हुए पाए गए थे। जब हाईकोर्ट में पेशकरदा टाइपराइटर की तहरीर का नमूना लिया गया तो 'ओ' और 'बी' के पेट बिलकुल साफ़ निकले—इसके अलावा वकीले-सफ़ाई की तरफ़ से यह इस्तिफ़सार[43] किया गया: वह लिफ़ाफ़ा जो बक़ौल इस्तिग़ासा दीवानसिंह मफ़्तून ने जीवनलाल मट्टू को भेजा, उस पर देहली के डाकख़ाने की मोहर ग्यारह* जनवरी की तारीख़ बताती है और लाहौर के डाकख़ाने की मोहर ज़ाहिर करती है कि वह लिफ़ाफ़ा पंद्रह जनवरी को डिलीवर हुआ; ग्यारह तारीख़ का चला हुआ लिफ़ाफ़ा मक्तूबइलैह[44] को ज्यादा-से-ज़्यादा तेरह तारीख़ की सुबह को मिल जाना चाहिए था; दो दिन वह लिफ़ाफ़ा कहाँ भटकता रहा—इस सवाल का उठना था कि एक हंगामा बरपा हो गया—इस्तिग़ासा कोई माक़ूल[45] जवाब न दे सका और आएँ-बाएँ-शाएँ करता रहा—यह नुक्ता मुल्ज़िम को शक का फ़ाइदा बख़्शने के लिए काफ़ी था।

मैं उन दिनों आल इंडिया रेडियो, देहली में मुलाज़िम था—एक दिन मैंने अख़बारों में यह ख़बर देखी कि सरदार दीवानसिंह मफ़्तून, एडिटर 'रियासत', देहली जाली नोट बनाने के मुक़दमे में साफ़ बरी कर दिए गए हैं।

* उस ज़माने के चीफ़ जस्टिस। —मंटो

* तारीख़ ग़लत है असल तारीख़ मुझे याद नहीं रही। —मंटो

दूसरे दिन सुबह आठ-नौ बजे के क़रीब हसन बिल्डिंग, निकलसन रोड के फ़्लैट[†] नंबर नौ के दरवाज़े पर दस्तक हुई।

मेरी बीवी ने दरवाज़ा खोला।

मालूम हुआ कि दीवान साहब हैं तो मैंने दौड़कर उनका इस्तिक़बाल[46] किया—उन्होंने मुझे बाज़ुओं में ले लिया और घुट-घुट जफियाँ पाइयाँ।

पेशतर इसके कि मैं उन्हें मुबारकबाद देता, उन्होंने मुझसे कहा : "सुबहानल्लाह, लुत्फ़ आ गया।"

मैंने उनसे पूछा : "किस बात का?"

आपने जवाब दिया : "मैंने हवालात में आपकी किताब 'मंटो के अफ़साने' पढ़ी। इसका इंतिसाब[47] ख़ूब है 'अख़बार दीन दुनिया के नाम, जिसमें मेरे ख़िलाफ़ सबसे ज़्यादा गालियाँ छपीं '[‡] मैं आज सुबह देहली आया हूँ मैंने सोचा, सबसे पहले चलकर मंटो साहब को दाद देनी चाहिए।"

इससे मुझ पर साबित हुआ कि शौ लतीफ़ उनमें बदरजा अत्म[48] मौजूद है।"

टाइपराइटर 'ओ' और 'बी' की कीज़ कैसे तब्दील हुईं और लिफ़ाफ़ा इतनी देर के बाद क्यों डिलीवर हुआ, यह एक राज़ है जो सदा राज़ रहेगा—जब मैंने उनसे इस बारे में पूछा तो वह यह कहकर टाल गए : "मंटो साहब, यह हाथ की सफ़ाई है।"

हाथ की सफ़ाई थी या पाँव की, इस्तिग़ासे की तबीयत यक़ीनन साफ़ हो गई थी।

दीवान साहब को मुझसे प्यार है और मौलाना चिराग़ हसन हसरत का वह एहतिराम करते हैं—हम दोनों देहली में थे—दीवान साहब को जब भी फ़ुर्सत होती, वह हमे ढूँढ़ निकालते और किसी दूर-दराज़ ख़ामोश मक़ाम पर ले जाते। वहाँ हम सब बैठ के पीते, गप्पें लड़ाते। फिर वह हम दोनों को घर छोड़ जाते—ऐसी निशस्तों में कभी कोई सियासी या अदबी बात नहीं होती थी।

एक लतीफ़ा सुनिए जो उन्होंने ख़ुद मुझे सुनाया था : इंतिहाई मुफ़्लिसी के दिन थे कि उनका एक दोस्त आन वारिद[49] हुआ। पहले तो वह बहुत सिटपिटाए कि जेब में एक धेला भी नहीं था। फ़ौरन उनको एक तरकीब सूझी। उन्होंने लैमन की बारह बोतलें मँगवाईं। दो दोस्त को पिलाईं और दो ख़ुद पी। बाक़ी आठ ग़ुस्लख़ाने में ख़ाली करवा दीं और नौकर से कहा कि वह जाए और बारह ख़ाली बोतलें बेच आए—जंग का ज़माना था। गोलीवाली बारह ख़ाली बोतलें अच्छे दाम ले आईं और दोस्त को रात का खाना खिलाने का मसला हल हो गया—दूसरे-तीसरे रोज़ उन्होंने दूकानदार को बारह बोतलों की क़ीमत अदा कर दी।

एक ज़माना आया कि वह आल इंडिया रेडियो के जानी दुश्मन हो गए। बस फिर क्या था, हर प्रोग्राम सुनने—एक रजिस्टर था जिसमें कई ख़ाने बने थे। उस रजिस्टर में दर्ज था

† "मैं यहाँ रहता था"—मंटो

‡ 'मंटो के अफ़साने', मंटो का दूसरा अफ़सानवी मजमूआ, पहली इशाअत।

कि रेडियो के किस अफसर का किस गानेवाली से टाँका* है—अगर कोई गानेवाली किसी वजह से प्रोग्राम मे शरीक न हो सकती और उसकी जगह किसी और को गवाया जाता तो उनको फौरन मालूम हो जाता, किस अफसर की मेहरबानी हुई है।

बहुत दिनो तक वह जुल्फिकार बुखारी के खिलाफ लिखते रहे। आखिर मे जुगल किशोर—हाल अहमद सलमान, डिप्टी डायरेक्टर जनरल, रेडियो पाकिस्तान—पर पिल पडे।

जुगलकिशोर पहले कलकत्ते मे थे। देहली तब्दील होकर आए तो उनको वहाँ की एक बंगालन ने मुहब्बतनामे भेजने शुरू कर दिए—जुगल को हैरत थी कि वह खत उनके पास नही पहुंचते, मफ्तून को मिल जाते है—यह गालिबन हाथ की सफाई है।

बहरहाल मैने मिन्नत-खुशामद करके जुगल साहब की गुलूखलासी[50] कराई और दीवान साहब से दरख्वास्त की कि वह बंगालन के खतूत जुगल साहब को दे दे।

आपने मुसकराकर कहा "मैं इतना बेवकूफ नही अगर आपका दोस्त यह खत पढना चाहता है तो मैं नकल कराके उसको भिजवा दूँगा।"

मैंने जोर देना मुनासिब न समझा।

देहली मे एक शख्स, जो अमृतसर का यानी मेरा हमशहर था, सख्त परेशानी के आलम मे मेरे पास आया—उसका छोटा भाई एक लडकी को भगाकर देहली ले आया था। उसके वारट गिरफ्तारी जारी हो चुके थे। वह इस मामले को सुलझाने के लिए मेरी मदद चाहता था—मैं उसे दीवान साहब के पास ले गया। उन्होने सारा माजरा सुनकर हुक्म दिया कि अगवा[51] करनेवाले और मुगविया[52] को उनके पास लाया जाए।

दूसरे दिन दीवान साहब से मुलाकात हुई तो उन्होने मुझसे कहा "वह लोग आ गए थे मैंने सब ठीक कर दिया है।"

उन्होने सब ठीक कर ही दिया होगा, वरना वह शख्स मेरे पास दुबारा जरूर आता।

सरदार दीवानसिंह मफ्तून की मालूमात के जराए बहुत वसी हैं—पाकिस्तान मे किसी के फरिश्ते को भी मालूम नही था कि कायदे-आजम जियारत मे खतरनाक तौर पर अलील है, लेकिन 'रियासत' मे उनके अलालत पर एक नोट, गो बहुत ही दिल आजार, दो हफ्ते पहले शाया हो चुका था जिसमे दीवान साहब ने अपने मख्सूस जालिमाना अंदाज मे लिखा था "कायदे-आजम मुहम्मद अली जिनाह बिस्तरे-मर्ग[53] पर हैं, लेकिन मेरी दुआ है कि जिंदा रहे और पाकिस्तान को *

अब रियासते नही रही। राजे हैं, न महाराजे जो उसके दिलपसंद खिलौने थे, मगर

यह लफ्ज उनकी खासलखास ईजाद है—मंटो।

मंटो ने दिल आजार लिखने के बावुजूद दीवानसिंह मफ्तून के नोट का मुकम्मल हवाला दिया था, लेकिन पब्लिशर ने मंटो के खाको का दूसरा मजमूआ लाऊड स्पीकर जिसमे खाका दीवानसिंह मफ्तून' शामिल है, शाया करते वक्त हवाला कतर डाला। पब्लिशर के लिए हवाला कतरने मे आसानी यूँ हो गई कि किताब की इशाअत मंटो की मौत के आठ माह बाद हुई—हवाले का नामुकम्मल जुमला कुछ यूँ है 'तबाहो-बर्बाद होता देखे।

सरदार दीवानसिंह मफ्तून ने यकीनन और खिलौने चुन लिए होंगे—राजा नही होगा, कोई वज़ीर होगा; महारानी नही होगी तो किसी बहुत बडे सरमायादार की खुल [illegible] नेवाली धर्मपत्नी होगी—मफ्तून का जुनून कैसे फारिग बैठ सकता है

लोग उसे ब्लैकमेलर, दगाबाज, चोर-उचक्का कहते है, मगर वह अपने पहलू मे इसानियत-दोस्त दिल रखता है

पिछले फसादात मे उसने जितने मुसलमानो को खूँख्वार सिखो और हिंदुओ से बचाया, जितनी मुसलमान औरतों और उनके बच्चो को पनाह दी, उनके दिल से उसके लिए जो दुआएँ निकली होंगी, मेरा ख़याल है कि वह उसकी मग्फिरत[54] के लिए काफी हैं

पिछले दिनों मैं सख़्त बीमार था—मेव हस्पताल के ए वार्ड मे मुझ पर नीम बेहोशी और बेहोशी दस-पंद्रह रोज तक तारी रही—जब मुझे होश आया तो मेरी बीवी और मेरी बहन ने मुझे बताया कि उस आलम में बार-बार मै सरदार दीवानसिंह मफ्तून को याद करता था। मैं यह समझता था कि मैं दिल्ली मे हूँ, 'रियासत' का दफ्तर कुछ दूर है, मगर वहाँ टेलीफोन किया जा सकता है—मैं उनसे कहता · ''जाओ टेलीफोन करो और दीवान साहब से कहो कि मटो बुला रहा है आपको बहुत जरूरी काम है।''

वह समझाते थे कि मैं लाहौर मे हूँ, लेकिन मै बजिद[55] था ''नही, मै दिल्ली मे हूँ तुम जाओ और दीवान साहब को टेलीफोन करो वह फौरन आ जाएँगे।'

गो उन दिनो मैं आलमे-नजा[56] मे था, होने और न होने के दरमियान मुअल्लक[57] था और मेरा दिमाग धुध मे लिपटा हुआ था, मगर मुझे अच्छी तरह याद है कि जहाँ मेरा बिस्तर था, उससे कुछ दूर फासले पर एक दरवाजा था और उसके आगे एक बहत बडा हॉल था जिसमे दो योरुपी बच्चे पिंग पांग खेलते रहते थे और उस हॉल को तय करने के बाद बाहर देहली के प्लाजा सनीमा का गेट आ जाता था, मगर अफसोस, वह गेट हर वक्त बद रहता था—यही वजह है कि मैं बार-बार दरख्वास्त करता कि वह टेलीफोन करके सरदार दीवानसिंह मफ्तून को बुलाएँ—मुझे कौन-सा जरूरी काम था, इसके मुताल्लिक मुझे कुछ मालूम नही।

अजीब बात है कि मेरे करीब-करीब माऊफ[58] दिमाग मे सिर्फ दीवान साहब की याद बाकी रही।

1 शब्दकोश, 2 अधिकारी, 3 सयुक्त रूप मे, 4 पत्रकारिता, 5 दबाई, 6 टकराया 7 हँसी-मजाक, 8 ताले मे बद, 9 विशिष्ट, 10 अध्ययन, 11 देश, 12 सपादकीय, 13 विस्तार से वर्णन करना, 14 गूढ़ वाचन, 15 समझना, निकालना, 16 सतर्क, 17 स्थानांतरित 18 गलतियाँ, 19 नष्ट, 20 सावधानी, 21 सजा, 22 छपाई के ब्लाक बनानेवाला 23 अभियुक्त 24 विश्राम, 25 आलिंगनबद्ध, 26 सबोधित, 27 प्रतिष्ठित-जन, 28 लतीफे, 29 सम्मान 30 गाली-गलौज, 31 पूर्वजो 32 बाप-दादा, 33 कारखानेवालो, 34 दमखम हिम्मत 35 विश्वप्रसिद्ध, 36 इशारे, 37 पराक्रम 38 प्रकाशित, 39 झुँझलाकर, 40 चिंतित, 41 शक्ति 42 कार्यवाही, 43 पूछताछ, 44 जिसको पत्र लिखा जाए, 45 उचित, 46 स्वागत 47 समर्पण, 48 भरपूर, 49 उपस्थित, 50 पीछा छुड़ाना, 51 अपहरणकर्ता, 52 अपहृता 53 मृत्यु-शैया, 54 मोक्षप्राप्ति, 55 सानुरोध, 56 नरक, 57 लटका हुआ, 58 विकृत।

तीन गोले

हसन बिल्डिग्ज़ के फ़्लैट नंबर एक मे तीन गोले मेरे सामने मेज़ पर पड़े थे। में ग़ौर से उनकी तरफ़ देख रहा था और मीरा जी की बाते सुन रहा था। इस शख़्स को पहली बार मैंने यही देखा। ग़ालिबन सन चालीस था। बंबे छोडकर मुझे देहली आए कोई ज़्यादा अर्सा नहीं गुजरा था। मुझे याद नहीं कि वह फ्लैट नबर एक वालों का दोस्त था, या ऐसे ही चला आया था। लेकिन मुझे इतना याद है कि उसने यह कहा था कि उसको रेडियो स्टेशन से पता चला था कि मैं निकलसन रोड पर हसन बिल्डिग्ज में रहता हूँ।

इस मुलाक़ात से कब्ल मेरे और उसके दरमियान मामूली-सी ख़तो-किताबत हो चुकी थी। मैं बंबई में था, जब उसने "अदबी दुनिया" के लिए मुझसे एक अफ़्साना तलब किया था। मैंने उसकी ख़्वाहिश के मुताबिक अफसाना भेज दिया, लेकिन साथ ही यह भी लिख दिया कि उसका मुआवज़ा मुझे ज़रूर मिलना चाहिए। इसके जवाब में उसने एक ख़त लिखा: "मैं अफ्साना वापस भेज रहा हूँ, इसलिए कि "अदबी दुनिया" के मालिक मुफ़्तख़ोर क़िस्म के आदमी हैं।"—अफ्साने का नाम "मौसम की शरारत" था। इस पर उसने एतिराज़ किया था कि उस शरारत का मौज़ू से कोई ताल्लुक़ नहीं, इसलिए उसे तब्दील कर दिया जाए। मैंने इसके जवाब में उसको लिखा: "मौसम की शरारत ही इस अफ्साने का मौज़ू है। मुझे हैरत है कि यह तुम्हे क्यों नज़र न आई।" मीराजी का दूसरा खत आया जिसमें उसने अपनी गलती तस्लीम कर ली और अपनी हैरत का इज़्हार किया कि मौसम की शरारत में वह "मौसम की शरारत" मैं क्यों देख न सका।

मीराजी की लिखाई बहुत साफ़ और वाज़े थी। मोटे ख़त के निब से निकले हुए बड़े सही निशस्त के हुरुफ़, तिकोन की-सी आसानी से बने हुए, हर जोड़ नुमायाँ—मैं इससे बहुत मुतास्सिर हुआ था। लेकिन अजीब बात है कि मुझे इसमें मौलाना हामिद अली ख़ाँ मुदीर "हिमायूँ" की खत्ताती की झलक नज़र आई। यह हलकी-सी मगर काफ़ी मर्ई मुमासलतो-मुशाबहत अपने अंदर क्या गहराई रखती है, इसके मुताल्लिक़ मैं अब भी ग़ौर करता हूँ तो मुझे ऐसा कोई शोशा या नुक्ता सुझाई नही देता, जिस पर मैं किसी मुफ़्रूज़े की बुनियादें खड़ी कर सकूँ।

हसन बिल्डिग्ज़ के फ़्लैट नंबर एक में तीन गोले मेरे सामने मेज़ पर पडे थे, और मीराजी, लम-तड़ंगे और गोल-मटोल शेर कहनेवाला शाइर मुझसे बडे सही कदों-क़ामत और

बड़ी सही नोक-पलक की बातें कर रहा था, जो मेरे अफ़सानों के मुताल्लिक़ थीं। वह तारीफ़ कर रहा था, न तन्क़ीस। एक मुख़्तसर-सा तब्सिरा था, एक सरसरी-सी तन्क़ीद थी, मगर उससे पता चलता था कि मीराजी के दिमाग़ में मकड़ी के जाले नहीं। उसकी बातों मे उलझाव नहीं था, और यह चीज़ मेरे लिए बाइसे-हैरत थी, इसलिए कि उसकी अक्सर नज़्में इब्हाम और उलझाव की वजह से हमेशा मेरी फ़हम से बालातर रही थीं। लेकिन शक्लो-सूरत और वज़ा-क़ता के एतिबार से वह बिलकुल ऐसा ही था, जैसा उसका बेक़ाफ़िया मुब्हम कलाम। उसको देखकर उसकी शाइरी मेरे लिए और भी पेचीदा हो गई।

नून मीम राशिद बेक़ाफ़िया शाइरी का इमाम माना जाता है। उसको देखने का इत्तिफ़ाक़ भी देहली ही में हुआ था। उसका कलाम मेरी समझ में आ जाता था और उसको एक नज़र देखने से उसकी शक्लो-सूरत भी मेरी समझ में आ गई थी। चुनांचे एक बार मैंने रेडियो स्टेशन के बरामदे में पड़ी हुई बग़ैर मडगार्डों की साइकिल देखकर उससे अज़-राहे-मज़ाक कहा था : "लो, यह तुम हो और तुम्हारी शाइरी।" लेकिन मीराजी को देखकर मेरे ज़ेहन में सिवाय उसकी मुब्हम नज़्मों के और कोई शक्ल नहीं बनती थी।

मेरे सामने मेज़ पर तीन गोले पड़े थे। तीन आहनी गोले, सिगरट की पन्नियों में लिपटे हुए। दो बड़े, एक छोटा—मैंने मीराजी की तरफ़ देखा। उसकी आँखें चमक रही थीं और उनके ऊपर उसका बड़ा भूरे बालों से अटा हुआ सर—यह भी तीन गोले थे। दो छोटे-छोटे, एक बड़ा। मैंने यह मुमासलत महसूस की तो उसका रद्दे-अमल मेरे होंठों पर मुस्कराहट में नमूदार हुआ— मीराजी दूसरे का रद्दे-अमल ताड़ने में बड़ा होशियार था। उसने फ़ौरन ही अपनी शुरू की हुई बात अधूरी छोड़कर मुझसे पूछा : "क्यों भैया, किस बात पर मुस्कराए?"

मैंने मेज़ पर पड़े हुए उन तीन गोलों की तरफ़ इशारा किया। अब मीराजी की बारी थी। उसके पतले-पतले होंठ महीन-महीन भूरी मूछों के नीचे गोल-गोल अंदाज़ में मुस्कराए।

उसके गले में मोटे-मोटे गोल मन्कों की माला थी जिसका सिर्फ़ बालाई हिस्सा क़मीस के खुले हुए कालर से नज़र आता था—मैंने सोचा : इस इन्सान ने अपनी क्या हैबते-कज़ाई बना रखी है—लंबे-लबे ग़लीज़ बाल जो गर्दन से नीचे लटकते थे—फ्रैंच कट-सी दाढ़ी, मैल से भरे हुए नाख़ून—सर्दियों के दिन थे। ऐसा मालूम होता था कि महीनों से उसके बदन ने पानी की शक्ल नहीं देखी।

यह उस ज़माने की बात है जब शाइर, अदीब और एडिटर आमतौर पर लांड्री में नंगे बैठकर डबल रेट पर अपने कपड़े धुलवाया करते थे और बड़ी मैली-कुचैली ज़िंदगी बसर करते थे—मैंने सोचा, शायद मीराजी भी उसी क़िस्म का शाइर और एडिटर है—लेकिन उसकी ग़िलाज़त, उसके लंबे बाल, उसकी फ्रैंच कट दाढ़ी, गले की माला और वह तीन आहनी गोले, मआशी हालात के मज़हर मालूम नहीं होते थे। उनमें एक दरवेशानापन था, एक क़िस्म की राहिबयत—जब मैंने राहिबयत के मुताल्लिक़ सोचा तो मेरा दिमाग़ रूस के

दीवाने राहिब रासपोटीन की तरफ़ चला गया। मैंने कहीं पढ़ा था कि वह बहुत गिलाज़त पसंद था। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि ग़िलाज़त का उसको कोई एहसास ही नहीं था। उसके नाख़ूनों में भी हर वक़्त मैल भरा रहता था। खाना खाने के बाद उसकी उँगलियाँ लिथड़ी होती थीं। जब उसे उनकी सफ़ाई मत्लूब होती तो वह उँगलियाँ पास बैठी शहज़ादियों और रईसज़ादियों की तरफ़ बढ़ा देता. जो उनकी तमाम आलूदगी अपनी ज़बान से चाट लेती थीं।

"क्या मीराजी उसी क़िस्म का दरवेश और राहिब था ?" यह सवाल उस वक़्त और बाद में भी कई बार मेरे दिमाग़ में पैदा हुआ—मैं अमृतसर में साईं घोड़ेशाह को देख चुका था जो अलिफ़ नंगा रहता था और कभी नहाता नहीं था। उसी तरह के कई और भी साईं और दरवेश मेरी नज़र से गुज़र चुके थे जो ग़िलाज़त के पुतले थे, मगर उनसे मुझे घिन आती थी। मीराजी की ग़िलाज़त से मुझे नफ़रत कभी नहीं हुई, उलझन अलबत्ता बहुत होती थी।

घोड़ेशाह की क़बील के साईं आमतौर पर बक़द्रे-तौफ़ीक़ मुग़ल्लज़ात बकते हैं, मगर मीराजी के मुँह से मैंने कभी कोई ग़लीज़ कलमा न सुना। इस क़िस्म के साईं बज़ाहिर मुजर्रद मगर दरपर्दा हर क़िस्म के जिंसी फ़ेल के मुर्तकिब होते हैं। मीरा जी भी मुजर्रद था, मगर उसने अपनी जिंसी तस्कीन के लिए सिर्फ़ अपने दिलो-दिमाग़ को अपना शरीके-कार बना लिया था। इस लिहाज़ से गो उसमें और घोड़ेशाह की क़बील के साइंयों में एक गुना मुमासलत थी, मगर वह उनसे बहुत मुख़्तलिफ़ था। वह तीन गोले था, जिनको लुढ़काने के लिए उसको किसी ख़ारिजी मदद की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। हाथ की ज़रा-सी हरकत और तख़ैयुल की हलकी-सी जुंबिश से वह उन तीन अजसाम को ऊँची से ऊँची बुलंदी और नीची से नीची गहराई की सैर करा सकता था और यह गुर उसको उन्हीं तीन गोलों ने बताया था जो ग़ालिबन उसको कहीं पड़े हुए मिले थे। उन ख़ारिजी इशारों ही ने उस पर एक अज़ली व अबदी हक़ीक़त को मुन्कशिफ़ किया था : हुस्न, इश्क़ और मौत—इस तस्लीम के तमाम उक़लीदिसी ज़ाविए सिर्फ़ उन तीन गोलों की बदौलत उसकी समझ में आए थे। लेकिन हुस्न और इश्क़ के अन्जाम को चूँकि उसने शिकस्त ख़ुर्दा ऐनक से देखा था, जिसके शीशों में तरेड़े थे, इसलिए उसको जिस शक्ल में उसने देखा था, सही नहीं थी। यही वजह है कि उसके सारे वुजूद में एक नाक़ाबिले-बयान इब्हाम का ज़हर फैल गया था जो एक नुक़्ते से शुरू होकर एक दाइरे में तब्दील हो गया था, इस तौर पर कि उसका हर नुक़्ता उसका नुक़्ता-ए-आग़ाज़ है और वही नुक़्ता-ए-अन्जाम। यही वजह है कि उसका इब्हाम नुकीला नहीं था। उसका रुख़ मौत की तरफ़ था, न ज़िंदगी की तरफ़। रजाइयत की सम्त न क़ुनूतियत की जानिब। उसने आग़ाज़ और अन्जाम को अपनी मुट्ठी में इस ज़ोर से भींच रखा था कि उन दोनों का लहू निचुड़-निचुड़कर उसमें से टपकता रहता था। लेकिन सादियत पसंदों की तरह वह इससे मसरूर नज़र नहीं आता था। यहाँ फिर उसके जज़्बात गोल हो जाते थे, उन तीन आहिनी गोलों की तरह, जिनको मैंने पहली मर्तबा हसन बिल्डिंग्ज़ के फ़्लैट नंबर एक में देखा था।

उसके शेर का एक मिस्रा है :

नगरी-नगरी फिरा मुसाफ़िर घर का रास्ता भूल गया।

मुसाफ़िर को रस्ता भूलना ही था, इसलिए कि उसने चलते वक़्त नुक़्ता-ए-आग़ाज़ पर कोई निशान नहीं बनाया था। अपने बनाए हुए दाइरे के ख़त के साथ-साथ घूमता वह यकीनन कई बार उधर से गुज़रा, मगर उसे याद न रहा कि उसने अपना यह तवील सफर कहाँ से शुरू किया था। और मैं तो समझता हूँ कि मीराजी यह भूल गया था कि वह मुसाफिर है, सफ़र है या रास्ता। यह तस्लीस भी उसके दिलो-दिमाग़ के ख़लियों में दाइरे की शक्ल इख़्तियार कर गई थी।

उसने एक लड़की मीरा से मुहब्बत की, और वह सनाउल्लाह से मीराजी बन गया। उसी मीरा के नाम की रिआयत से उसने मीरा बाई के कलाम को पसंद करना शुरू कर दिया। जब उसे अपनी उस महबूबा का जिस्म मयस्सर न आया तो उसने कूज़ागर की तरह चाक घुमाकर अपने तख़ैयुल की मिट्टी से शुरू-शुरू में उसी शक्लो-सूरत के जिस्म तैयार करने शुरू कर दिए, लेकिन बाद में आहिस्ता-आहिस्ता उस जिस्म की साख़्त के तमाम मुज़ैयात, उसकी तमाम नुमाया ख़ुसूसियतें तेज़ रफ़्तार चाक पर घूम-घूमकर नित नई हैयत इख़्तियार करती गईं, और एक वक़्त ऐसा आया कि मीराजी के हाथ, उसके तख़ैयुल की नर्म-नर्म मिट्टी और चाक, मुतवातिर गर्दिश से बिलकुल गोल हो गए। कोई भी टॉग मीरा की टॉग हो सकती थी। कोई भी चीथड़ा मीरा का पैराहन बन सकता था, कोई भी रहगुज़र मीरा की रहगुज़र में तब्दील हो सकती थी, और इन्तिहा यह हुई कि तख़ैयुल की नर्म-नर्म मिट्टी की सौंधी-सौंधी बास सड़ांध बन गई, और वह शक्ल देने से पहले ही उसको चाक से उतारने लगा।

पहले मीरा बुलंद-बाम महलों में रहती थी। मीराजी ऐसा भटका कि रास्ता भूलकर उसने नीचे उतरना शुरू कर दिया। उसको इस गिरावट का मुतलक़न अहसास न था, इसलिए कि उतराई में हर क़दम पर मीरा का तख़ैयुल उसके साथ था, जो उसके जूतों के तलवों की तरह घिसता गया। पहले मीरा आम महबूबाओं की तरह बड़ी ख़ूबसूरत थी, लेकिन यह ख़ूबसूरती हर निस्वानी पोशाक में मल्बूस देख-देखकर कुछ इस तौर पर उसके दिलो-दिमाग़ में मस्ख़ हो गई थी कि उसके सही तसव्वुर की अलमनाक जुदाई का भी मीराजी को अहसास न था। अगर अहसास होता तो इतने बड़े अलमिए के जुलूम के चंद ग़ैर मुब्हम निशानात उसके कलाम में यक़ीनन मौजूद होते, जो मीरा से मुहब्बत करते ही उसके दिलो-दिमाग़ में निकलना शुरू हो गए थे।

हुस्न, इश्क़ और मौत। यह तिकोन पिचककर मीराजी के वुजूद में गोल हो गई थी। सिर्फ़ यही नहीं, दुनिया की हर मुसल्लस उसके दिलो-दिमाग़ में मुदव्वर हो गई थी। यही वजह है कि उसके अर्कानि-सुलासा कुछ इस तरह आपस में गडमड हो गए थे कि उनकी तर्तीब दरहम-बरहम हो गई थी। कभी मौत पहले, हुस्न आख़िर और इश्क़ दरमियान में। कभी इश्क़ पहले, मौत उसके बाद और हुस्न आख़िर में। और यह चक्कर ना महसूस तौर

पर चलना रहता था।

किसी भी औरत से इश्क़ किया जाए, तिगडा एक ही क़िस्म का बनता है। हुस्न, इश्क़ और मौत। आशिक़, माशूक़ और वस्ल। मीरा से सनाउल्लाह का विसाल, जैसा कि जाननेवालों को मालूम है, न हुआ या न हो सका। इस न होने या न हो सकने का रद्दे-अमल मीराजी था। उसने मुआश्क़े में शिकस्त खाकर उस तस्लीस के टुकड़ों को इस तरह जोड़ा था कि उनमें एक सालिमियत तो आ गई थी, मगर असलियत मस्ख़ हो गई थी। वह तीन नोकें जिनका रुख़ ख़ते-मुस्तक़ीम में एक-दूसरे की तरफ़ होता है, दब गई थीं। विसाले-महबूब के लिए अब यह लाज़िम नहीं था कि महबूब मौजूद हो। वह ख़ुद ही आशिक़ था, ख़ुद ही माशूक़ और ख़ुद ही विसाल।

मुझे मालूम नहीं, उसने लोहे के यह गोले कहाँ से लिए थे। ख़ुद हासिल किए थे, या उसे कहीं पड़े हुए मिल गए थे। मुझे याद है, एक मर्तबा उनके मुताल्लिक़ मैंने बंबई में उससे इस्तिफसार किया था तो उसने सरसरी तौर पर इतना कहा था : "मैंने यह ख़ुद पैदा नहीं किए, अपने आप पैदा हो गए हैं।"

फिर उसने उस गोले की तरफ़ इशारा किया था जो सबसे बड़ा था : "पहले यह वुजूद में आया था। इसके बाद यह दूसरा, जो इससे छोटा है। इसके पीछे यह कोचक।"

मैंने मुस्कराकर उससे कहा था : "बड़े तो बाबा आदम अलैहस्सलाम हुए। ख़ुदा उनको वह जन्नत नसीब करे जिससे वह निकाले गए थे⋯ दूसरे को हम अम्माँ हव्वा कह लेते हैं और तीसरे को उनकी औलाद!"

मेरी इस बात पर मीराजी ख़ूब खुलकर हँसा था—मैं अब सोचता हूँ तो मुझे उन तीन गोलो पर सारी दुनिया घूमती नजर आती है। तस्लीस क्या तस्लीक़ का दूसरा नाम नहीं? वह तमाम मुसल्लसे जो हमारी ज़िंदगी की उकलीदीस हैं मौजूद हैं, क्या उनमें इन्सान की तख़्लीकी क़ुव्वतों का निशान नहीं है?

ख़ुदा, बेटा और रूहुलक़ुदूस : ईसाइयत के अक़ानीम—त्रिशूल, महादेव का सेह शाख़ा भाला—तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश; त्रिलोक आसमान, ज़मीन और पाताल—ख़ुश्की, तरी और हवा—तीन बुनियादी रँग : सुर्ख़, नीला और ज़र्द। फिर हमारे रूसूम और मज़हबी अहकाम—यह तीजे, सोम और तलैंडिया। वुज़ू में तीन मर्तबा हाथ मुँह धोने की शर्त। तीन तलाक़ें और सह गुना मुआनक़े। और जुए में नर्दबाज़ी के तीन पाँसों के तीन नुक़्ते यानि तीन काने। मौसीक़ी की तिय्ये—हयाते-इन्सानी के मलबे को अगर खोद कर देखा जाए तो मेरा ख़याल है, ऐसी कई तस्लीसें मिल जाएँगी, इसलिए कि उसके तवालुद व तनासुल के अफ़ाल का मेहवर भी आज़ाए—सुलासा है।

उक़लीदिस में मुसल्लम बहुत अहम हैसियत रखती है। दूसरी अशकाल के मुक़ाबले में यह ऐसी कट्टर और बेलोच शक्ल है, जिसे आप किसी और शक्ल में तब्दील नहीं कर सकते। लेकिन मीराजी ने अपने दिलो-दिमाग़ और जिस्म में इस तिकोन को, जिसका ज़िक्र ऊपर हो चुका है, कुछ इस तरह दबाया कि उसके रुकन अपनी जगहों से हट गए, जिसका नतीजा यह हुआ कि आस-पास की दूसरी चीज़ें भी इस तिकोन के साथ मस्ख़ हो गईं और

मीराजी की शाइरी ज़हूर में आई।

पहली मुलाकात ही में मेरी-उसकी बेतकल्लुफ़ी हो गई थी। उसने मुझे देहली मे बताया था कि उसकी जिन्सी इजाबत आमतौर पर रेडियो स्टेशन के स्टूडियोज मे होती है। जब यह कमरे ख़ाली होते थे तो वह बड़े इत्मीनान से अपनी हाजत रफ़ा कर लिया करता था। उसकी यह जिन्सी जलालत ही, जहाँ तक मैं समझता हूँ, उसकी मुब्हम मन्ज़ूमात का बाइस है, वर्ना जैसा कि मैं पहले बयान कर चुका हूँ, आम गुफ़्तगू मे वह बडा वाज़े दिमाग था। वह चाहता था कि जो कुछ उस पर बीती है, अशार में बयान हो जाए, मगर मुसीबत यह थी कि जो मुसीबत उस पर टूटी थी, उसको उसने बड़े बेढंगे तरीक़े से जोडकर अपनी निगाहों के सामने रखा था। उसको इसका इल्म था। इस जिम्न में वह अपनी बेचारगी बहुत अच्छी तरह महसूस करता था, लेकिन आम आदमियों की तरह उसने अपनी इस कमजोरी को अपना खास रंग बनाने की कोशिश की और आहिस्ता-आहिस्ता उस मीरा को भी अपनी गुमराही की सूली पर चढ़ा दिया।

बहैसियत शाइर के उसकी हैसियत वही है जो गले-सड़े पत्तों की होती है, जिसे खाद के तौर पर इस्तेमाल किया जा सकता है। मैं समझता हूँ, उसका कलाम बड़ी उम्दा खाद है, जिसकी इफ़ादियत एक न एक दिन ज़रूर ज़ाहिर हो के रहेगी। उसकी शाइरी एक गुमराह इन्सान का कलाम है, जो इन्सानियत की अमीक़ तरीन पस्तियों से मुताल्लिक होने के बावजूद दूसरे इन्सानों के लिए ऊँची फजाओं में मुर्गे-बाद नुमा का काम दे सकता है। उसका कलाम एक जिग-सा पजल है, जिसके टुकड़े बड़े इत्मीनान और सुकून से जोड़कर देखने चाहिएँ।

बहैसियत इन्सान के वह बड़ा दिलचस्प था। परले दर्जे का मुख़्लिस, जिसको अपनी इस क़रीब-क़रीब नायाब सिफ़्त का मुत्लक़न अहसास नही था—मेरा ज़ाती खयाल है कि वह अशख़ास, जो अपनी ख़्वाहिशांते-जिस्मानी का फ़ैसला अपने हाथों को सौंप देते हैं, आमतौर पर इसी क़िस्म के मुख़्लिस होते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वह खुद को सरीहन धोका देते हैं, मगर इस फ़रेबदिही मे जो ख़ुलूस होता है, वह ज़ाहिर है।

मीराजी ने शाइरी की, बड़े ख़ुलूस के साथ। शराब पी, बडे खुलूस के साथ। भंग पी, वह भी बड़े ख़ुलूस के साथ। लोगों से दोस्ती की और उसे निभाया। अपनी जिंदगी की एक अज़ीमतरीन ख़्वाहिश को जुल देने के बाद वह किसी और से धोखा-फरेब करने का अहल ही नहीं रहा था। इस अहलियत के अख़राज के बाद वह इस कद्र बेज़रर हो गया था कि बेमिस्रिफ-सा मालूम होता था। एक भटका हुआ मुसाफ़िर जो नगरी-नगरी फिर रहा है। मंजिलें क़दम-क़दम पर अपनी आग़ोश उसके लिए वा करती हैं, मगर वह उनकी तरफ देखे बग़ैर आगे निकलता जा रहा है, किसी ऐसी जगह जिसकी कोई सम्त है न रक्बा—एक ऐसी तिकोन की जानिब जिसके अर्कान अपनी जगह से हटकर तीन दाइरे की शक्ल में उसके गिर्द घूम रहे हैं।

मैंने मीराजी से उसके कलाम के मुताल्लिक़ दो-तीन जुम्लों से ज़्यादा कभी गुफ़्तगू नहीं की। मैं उसे बकवास कहा करता था, और वह उसे तस्लीम करता था। उन तीन गोलों

और मोटे-मोटे दानों की माला को मैं उसका फ्राड कहता था। इसे भी वह तस्लीम करता था, हालाँकि हम दोनों जानते थे कि यह चीज़ें फ्राड नहीं हैं।

एक दफा उसके हाथ में तीन के बजाय दो गोले देखकर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ। मैंने जब इसका इज़्हार किया तो मीराजी ने कहा : "बरख़ुर्दार का इंतिक़ाल हो गया है मगर अपने वक्त पर एक और पैदा हो जाएगा।"

मैं जब तक बंबई में रहा, यह दूसरा बरख़ुर्दार पैदा न हुआ। या तो अम्माँ हव्वा अकीम हो गई थी, या बावा आदम मर्दम ख़ेज़ नहीं रहे थे। यह रही-सही ख़ारिजी तस्लीस भी टूट गई थी। और यह बुरी फाल थी। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मीराजी को इसका अहसास था। चुनांचे जैसा कि सुनने में आया है, उसने उसके बाकी के दो अकनूम भी अपने हाथ से अलहदा कर दिए थे।

मुझे मालूम नही, मीराजी घूमता-घामता कब बंबई पहुँचा—मैं उन दिनों "फिल्मिस्तान" मे था। जब वह मुझसे मिलने के लिए आया, बहुत ख़स्ता हालत में था। हाथ मे तीन गोले बदस्तूर मौजूद थे। बोसीदा-सी कापी भी थी, जिसमें ग़ालिबन मीरा बाई का कलाम उसने अपने हाथ से लिखा हुआ था। साथ ही एक अजीब शक्ल की बोतल थी, जिसकी गर्दन मुडी हुई थी। इसमें मीराजी ने शराब डाल रखी थी। बवक्ते-तलब वह उसका काग खोलता और एक घूँट चढ़ा लेता था।

दाढ़ी ग़ाइब थी। सर के बाल बहुत हलके थे, मगर बदन की ग़िलाज़त बदस्तूर मौजूद थी। चप्पल का एक पैर दुरुस्त हालत में मौजूद था, दूसरा मरम्मत तलब था। यह कमी उसने पाँव पर रस्सी बाँधकर दूर कर रखी थी। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें हुईं। उन दिनों ग़ालिबन "आठ दिन" की शूटिंग हो रही थी। उसकी कहानी मेरी थी, जिसके लिए दो एक गानों की ज़रूरत थी। मैंने इस ख़याल से कि मीराजी को कुछ रुपए मिल जाएँ,उससे ग्रह गाने लिखने के लिए कहा, जो उसने वहीं बैठे-बैठे लिख दिए, मगर खडे-खडे किस्म के, निहायत वाहियात जो यक्सर गैर फ़िल्मी थे। मैंने जब उसको अपना फैसला सुनाया तो वह खामोश रहा। वापस जाते हुए उसने मुझसे साढ़े सात रुपए तलब किए कि उसे एक अद्धा लेना था।

इसके बाद बहुत देर तक उसको साढ़े सात रुपए देना मेरा फ़र्ज़ हो गया। मैं ख़ुद बोतल का रसिया था। यह मुँह न लगे तो जी पर क्या गुज़रती है, इसका मुझे बख़ूबी इल्म था। इसलिए मै उस रक़म का इंतिज़ाम कर रखता। सात रुपए में रम का अद्धा आता था, बाक़ी आठ आने उसके आने-जाने के लिए होते थे।

बारिशों का मौसम आया तो उसे बड़ी दिक़्क़त महसूस हुई। बंबई में इतनी शदीद बारिश होती है कि आदमी की हड्डियाँ तक भीग जाती हैं। उसके पास फ़ालतू कपड़े नहीं थे, इसलिए यह मौसम उसके लिए और भी ज़्यादा तकलीफ़-देह था। इत्तिफ़ाक़ से मेरे पास एक बरसाती थी, जो मेरा एक हट्टा-कट्टा फ़ौजी दोस्त सिर्फ़ इसलिए मेरे घर भूल गया था कि वह बहुत वज़नी थी और उसके कंधे शल कर देती थी। मैंने उसका ज़िक्र मीराजी से किया और उसके वज़न से भी उसको आगाह कर दिया। मीराजी ने कहा : "कोई पर्वा

नहीं··· मेरे कंधे उसका बोझ बर्दाश्त कर लेंगे।" चुनांचे मैंने वह बरसाती उसके हवाले कर दी, जो सारी बरसात उसके कंधों पर रही।

मर्हूम को समंदर से बहुत दिलचस्पी थी। मेरा एक दूर का रिश्तेदार अशरफ है। वह उन दिनों पायलट था। जूहू में समंदर के किनारे रहता था। वह मीराजी का दोस्त था। मालूम नहीं, उनकी दोस्ती की बिना क्या थी, क्योंकि अशरफ़ को शेरो-शाइरी से दूर का वास्ता भी नहीं है। बहरहाल मीराजी उसके हाँ रहता था और दिन को उसके हिसाब में पीता था।

अशरफ़ जब अपने झोंपड़े में नहीं होता था तो मीराजी साहिल की नर्म-नर्म और गीली गीली रेत पर वह बरसाती बिछाकर लेट जाता और मुब्हम शेरे-फ़िक्र किया करता था।

उन दिनों हर इतवार को जूहू जाना और दिन भर पीना मेरा मागूल-सा हो गया था। दो तीन दोस्त इकट्ठे होकर सुबह निकल जाते और सारा दिन साहिल पर गुज़ारते। मीराजी वहीं मिल जाता। ऊटपटाँग क़िस्म के मशाग़िल रहते। हमने इस दौरान में शायद ही कभी अदब के बारे में गुफ़्तगू की हो। हम मर्दों और औरतों के तीन चौथाई नंगे जिस्म देखते थे, दही-बड़े और चाट खाते थे, नारियल के पानी के साथ शराब मिलाकर पीते थे और मीरा जी को वहीं छोड़कर वापस घर चले आते थे।

अशरफ़ कुछ अर्से के बाद मीराजी का बोझ महसूस करने लगा था। वह खुद पीता था मगर अपनी मुक़र्ररी हद से आगे नहीं बढ़ता था, लेकिन मीराजी के मुताल्लिक उसे शिकायत थी कि वह अपनी हद से गुज़रकर एक और हद क़ाइम कर लेता है, जिसकी कोई हद नहीं होती—बेहोश पड़ा है मगर और माँगे जा रहा है। अपनी इस तलब का दाइरा बना लेता है और भूल जाता है कि यह कहाँ से शुरू हुई थी और इसे कहाँ ख़त्म होना था।

मुझे उसकी शराबनोशी के इस पहलू का इल्म नहीं था लेकिन एक दिन इसका तज्रिबा भी हो गया, जिसको याद करके मेरा दिल आज भी अफ़सुर्दा हो जाता है।

सख़्त बारिश हो रही थी, जिसके बाइस बर्क़ी गाड़ियों की नक़्लो-हरकत का सिलसिला दरहम-बरहम हो गया था। 'ख़ुश्क दिन' होने की वजह से शहर में शराब की दुकानें बंद थीं। मुज़ाफ़ात में सिर्फ़ बांद्रा ही एक ऐसी जगह थी जहाँ से मुक़र्ररा दामों पर वह चीज मिल सकती थी। मीराजी मेरे साथ था। इसके अलावा मेरा पुराना लंगोटिया हसन अब्बास भी, जो देहली से मेरे साथ चंद दिन गुज़ारने के लिए आया था। हम तीनों बांद्रा उतर गए और डेढ़ बोतल रम ख़रीद ली। वापस स्टेशन पर आए तो राजा मेहंदी अली ख़ाँ मिल गया। मेरी बीवी लाहौर गई हुई थी, इसलिए प्रोग्राम यह बना कि मीराजी और राजा, रात मेरे ही हाँ रहेंगे।

एक बजे तक रम के दौर चलते रहे। बड़ी बोतल ख़त्म हो गई। राजा के लिए दो पैग काफ़ी थे। उनको ख़त्म करके वह एक कोने में बैठ गया और फिल्मी गीत लिखने की प्रेक्टिस करता रहा। मैं, हसन अब्बास और मीराजी पीते और फ़ज़ूल-फ़ज़ूल बातें करते रहे, जिनका सर था न पैर। कर्फ़्यू के बाइस बाज़ार सुनसान था। मैंने कहा कि अब सोना चाहिए। अब्बास और राजा ने मेरे इस फ़ैसले पर साद किया। मीराजी न माना। अद्धे की

मौजूदगी उसके इल्म मे थी, इसलिए वह और पीना चाहता था। मालूम नही क्यो, मैं और अब्बास जिद मे आ गए और हमने वह अद्धा खोलने से इन्कार कर दिया। मीराजी ने पहले मिन्नते की, फिर हुक्म देने लगा। मैं और अब्बास दोनो इतिहा दर्जे के सिफ्ले हो गए। हमने उससे ऐसी बाते की कि उनकी याद से मुझे नदामत महसूस होती है। लड-झगड कर हम दूसरे कमरे मे चले गए।

मै सुबहखेज हूँ। सबसे पहले उठा और साथवाले कमरे मे गया। मैंने रात को राजा से कह दिया था कि वह मीराजी के लिए स्ट्रेचर बिछा दे और खुद सोफे पर सो जाए। राजा स्ट्रेचर मे लबालब भरा था, मगर सोफे पर मीराजी मौजूद नही था। मुझे सख्त हैरत हुई। गुस्लखाने और बावर्चीखाने मे देखा। वहाँ भी कोई नही था। मैंने सोचा, शायद वह नागजी की हालत में चला गया है। चुनाचे वाकिआत मालूम करने के लिए मैंने राजा को जगाया। उसने बताया कि मीराजी मौजूद था। उसने खुद उसे सोफे पर लिटाया था। हम यह गुफ्तगू कर ही रहे थे कि मीराजी की आवाज आई 'मै यहाँ मौजूद हूँ।'

वह फर्श पर राजा मेहदी अली खाँ के स्ट्रेचर के नीचे लेटा हुआ था। स्ट्रेचर उठाकर उसको बाहर निकाला गया। रात की बात हम सबके दिलो-दिमाग मे औद कर आई, लेकिन किसी ने उस पर तब्सिरा न किया। मीराजी ने मुझसे आठ आने लिए और भारी-भरकम बरसाती उठाकर चला गया। मुझे उस पर बहुत तरस आया और अपने पर बहुत गुस्सा। चुनाचे मैंने दिल ही दिल मे खुद को बहुत लानत-मलामत की कि मैं रात को एक निकम्मी-सी बात पर उसको दुख पहुँचाने का बाइस बना।

इसके बाद भी मीराजी मुझसे मिलता रहा। फिल्म इन्डस्ट्री के हालात मुन्कलिब हो जाने के बाइस मेरा हाथ तग हो गया था। अब मैं हर रोज मीराजी की शराब का खर्च बर्दाश्त नही कर सकता था। मैंने उससे कभी इसका जिक्र नही किया, लेकिन उसको इल्म हो गया था। चुनाचे एक दिन मुझे उससे मालूम हुआ कि उसने शराब छोडने के कस्द से भग खानी शुरू कर दी है।

भग से मुझे सख्त नफरत है। एक-दो बार इस्तेमाल करने से मैं उसके जिल्लत आफ्री नशे और उसके रद्दे-अमल का तजिबा कर चुका हूँ। मैंने मीराजी से जब उसके बारे मे गुफ्तगू की तो उसने कहा "नही मेरा खयाल है, यह नशा भी कोई बुरा नही। इसका अपना रग है, अपनी कैफियत है, अपना मिजाज है।'

उसने भग के नशे की खर्मामियत पर एक लेक्चर-सा शुरू कर दिया—अफ्सोस है कि मुझे पूरी तरह याद नही कि उसने क्या कहा था। उस वक्त मै अपने दफ्तर मे था और आठ दिन के एक मुश्किल बाब की मजरनवीसी मे मशगूल था—मेरा दिमाग एक वक्त मे सिर्फ एक काम करने का आदी है—वह बाते करता रहा और मैं मनाजिर सोचने मे मशगूल रहा।

भग पीने के बाद दिमाग पर क्या गुजरती है, मुझे इसके मुताल्लिक सिर्फ इतना ही मालूम था कि गिर्दो-पेश की चीजें या तो बहुत छोटी हो जाती हैं, या बहुत बडी। आदमी हद से ज्यादा जकीउलहिस हो जाता है। कानो में ऐसा शोर मचता है, जैसे उनमे लोहे के

कारख़ाने खुल गए हैं। दरिया पानी की हल्की-सी लकीर बन जाते हैं और पानी की हल्की-सी लकीरें बहुत बड़े दरिया। आदमी हँसना शुरू करे तो हँसता ही जाता है, रोए तो रोते नहीं थकता।

मीरा जी ने उस नशे की जो कैफ़ियत बयान की, वह मेरा ख़याल है, इससे बहुत मुख़्तलिफ़ थी। उसने मुझे उसके मुख़्तलिफ़ मदारिज बताए थे। उस वक़्त जबकि वह भंग खाए हुए था, ग़ालिबन लहरों की बात कर रहा था : "लो, वह कुछ गड़बड़-सी हुई कोई चीज़ इधर-उधर की चीज़ों से मिल-मिलाकर ऊपर को उठी···नीचे आ गई···फिर गड़बड़-सी हुई और, आहिस्ता-आहिस्ता आगे बढ़ने लगी दिमाग़ की नालियों में रेंगने लगी···सरसराहट महसूस हो रही है···पर बड़ी नर्म-नर्म पहले नून था···पूरे ऐलान के साथ···अब यह ग़ुन्ने में तबदील हो रहा है···धीरे-धीरे···हौले-हौले···जैसे बिल्ली गुदगुदे पंजों पर चल रही है ओह, ज़ोर से मियाऊँ हुई लहर टूट गई ग़ाइब हो गई···" और वह चौंक पड़ता।

थोड़े वक़्फ़े के बाद वह फिर यही कैफ़ियत नए सिरे से महसूस करता : "लो, अब फिर नून के ऐलान की तैयारियाँ होने लगीं···ग़ड़बड़ शुरू हो गई है···आसपास की चीज़ें यह ऐलान सुनने के लिए जमा हो रही हैं···कानाफूसियाँ भी हो रही हैं···हो गया, ऐलान हो गया···नून ऊपर को उठा, आहिस्ता-आहिस्ता नीचे आया···फिर वही गड़बड़, वही काना फूसियाँ···आसपास की चीज़ों के हुजूम में नून ने अँगड़ाई ली और रेंगने लगा···ग़ुन्ना खिंचकर लंबा होता जा रहा है···कोई उसे कूट रहा है, रूई के हथोड़ों से···ज़र्बें सुनाई नहीं देतीं, लेकिन उनका नन्हा-मुन्ना पर से भी हल्का लम्स महसूस हो रहा है···गूँ, गूँ, गूँ···जैसे बच्चा माँ का दूध पीते-पीते सो रहा है···ठहरो, दूध का बुलबुला बन गया है···लो, वह फट भी गया···" और वह फिर चौंक पडता।

मुझे याद है, मैंने उससे कहा था कि वह अपने इस तजुर्बे, अपनी इस कैफ़ियत को अशआर में मिनो-अन बयान करे। उसने वादा किया था। मालूम नहीं, उसने उधर तवज्जोह दी या भूल गया।

कुरेद-कुरेदकर मैं किसी से पूछा नहीं करता। सरसरी गुफ़्तगूओं के दौरान में मीराजी से मुख़्तलिफ़ मौज़ूओं पर तबादला-ए-ख़यालात होता था, लेकिन उसकी ज़ातियात कभी मारिज़े गुफ़्तगू में नहीं आई थी—एक मर्तबा मालूम नहीं, किस सिलसिले में उसकी इज़ाबते-जिन्सी के ख़ास ज़रिए का ज़िक्र आ गया। उसने मुझे बताया : "इसके लिए अब मुझे ख़ारिजी चीज़ों से मदद लेनी पड़ती है···मिसाल के तौर पर ऐसी टाँगें, जिन पर से मैल उतारा जा रहा है···ख़ून में लिथड़ी हुई ख़ामोशियाँ···"

यह सुनकर मैंने महसूस किया था कि मीराजी की ज़लालत अब इस इंतिहा को पहुँच गई है कि उसे ख़ारिजी ज़राए की इम्दाद तलब करनी पड़ गई है—अच्छा हुआ जो वह जल्दी मर गया, क्योंकि उसकी ज़िंदगी के ख़राबे में और ज़्यादा ख़राब होने की गुंजाइश बाक़ी नहीं रही थी। वह अगर कुछ देर से मरता तो यक़ीनन उसकी मौत भी एक दर्दनाक इब्हाम बन जाती।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी

मालूम नहीं क्यों, लेकिन मैं जब भी रफ़ीक़ ग़ज़नवी के बारे में सोचता हूँ तो मुझे मअन[1] महमूद ग़ज़नवी का ख़याल आता है, जिसने हिंदुस्तान पर सत्रह हमले किए थे, जिनमें से बारह मशहूर हैं—रफीक ग़ज़नवी और महमूद ग़ज़नवी में इतनी मुमासलत[2] ज़रूर है कि दोनों बुतशिकन[3] हैं—रफ़ीक़ ग़ज़नवी के पेशे-नज़र कोई ऐसा सोमनाथ नहीं था जिसके बुत तोड़कर वह उसके पेट से ज़रो-जवाहर निकालता, फिर भी उसने अपनी ज़िंदगी में कई तवाइफ़ों को, जिनकी तादाद बारह तक पहुँच सकती है, इस्तेमाल किया।

रफ़ीक गजनवी के नाम से मालूम होता है कि उसके आबा व अजदाद[4] ग़ज़नी के रहनेवाले थे—मुझे मालूम नहीं कि उसने ग़ज़नी देखा है या नहीं। मुझे सिर्फ़ इतना मालूम है कि वह पेशावर में रहता था। उसको पश्तो बोलना आती है। अफ़ग़ानी-फ़ारसी भी जानता है। वैसे आमतौर पर वह पंजाबी में गुफ़्तुगू करता है। अंग्रेज़ी अच्छी-ख़ासी लिख लेता है। और अगर वह उर्दू में मज़मूननिगारी करता तो उसका बड़ा नाम होता।

उसको उर्दू अदब से बड़ा शग़फ़[5] है। उसके पास उर्दू लिट्रेचर का काफ़ी ज़ख़ीरा मौजूद है—जब मैंने पहली मर्तबा गुलशन महल, बंबई में उसके कमरे में बड़ी तरतीब से रखी हुई किताबें देखीं तो मुझे बड़ी हैरत हुई। मेरा ख़याल था कि वह महज़ एक मिरासी है, जिसे अदब से कोई वास्ता नहीं हो सकता, लेकिन जब उससे बातें हुईं तो उसने ऐसे-ऐसे मुमन्निफ़ों का नाम लिया जिनसे मैं वाक़िफ़ नहीं था। उसने मेरी मालूमात में यह इज़ाफ़ा किया कि एक अबुलफ़ज़ल सिद्दीक़ी हैं जो चरिंदों और परिंदों की कहानियाँ लिखने के बहुत बड़े माहिर हैं। चुनांचे मैंने उनके अफ़साने पढ़े और पसंद किए।

मेरी समझ में नहीं आता कि यह मज़मून, जो मुझे रफ़ीक़ ग़ज़नवी पर लिखना है, कहाँ से शुरू करूँ? लेकिन मेरा ख़याल है कि मज़मून शुरू हो चुका है और इसका ख़ात्मा बिलख़ैर भी हो जाएगा—मैं अपने हाफ़िज़े[6] को टटोलकर आपको बताना चाहता हूँ कि उससे मेरी पहली मुलाक़ात कब हुई।

अजीब बात है कि उससे जिस्मानी तौर पर मुतार्रुफ़[7] होने से पहले ही मैं उसे जानता था। कैसे जानता था, कब से जानता था, यह मुझे याद नहीं—आज से ग़ालिबन चौबीस-पच्चीस बरस पीछे की बात है, मैं अमृतसर में बिजलीवाले चौक से गुज़र रहा था कि एक पानवाले ने मुझे आवाज़ दी। मैं ज़रा रुककर उसकी दूकान के पास गया तो उसने

मुझसे कहा : "बाबू साहब, इतनी देर हो गई है, अब तो हिसाब चुका दीजिए।"

मैं बहुत मुतहैयर हुआ, इसलिए कि उस पानवाले से मेरा कोई हिसाब-किताब नहीं था—मैंने उससे कहा : "कैसा हिसाब मैं तो आज पहली मर्तबा तुम्हारी दूकान के पास ठहरा हूँ।"

मेरी बात सुनकर पानवाले के होंठो पर मानीख़ेज मुसकराहट नमूदार हुई : "न देनेवाले इसी तरह कहा करते हैं।"

जब मैंने उससे तफ़सील चाही तो पता चला कि वह मुझे रफीक गजनवी समझ बैठा था जो उससे उधार लेता रहा था—जब मैंने उसे यक़ीन दिलाया कि मैं सआदत हसन मंटो हूँ तो उसने मुझसे कहा कि मेरी और रफ़ीक की शक्ल बहुत मिलती-जुलती है।

रफीक ग़जनवी का नाम तो मैं बहुत पहले सुन चुका था और उससे मिलने की मुझे कोई ख़्वाहिश नहीं थी, पर जब मैंने सुना कि उसकी शक्ल मेरी शक्ल के मुशाबा[8] है तो मुझे उसको देखने का इश्तियाक़[9] पैदा हुआ।

यह वह ज़माना था, जब मैंने आवारागर्दी शुरू कर रखी थी। तबीयत हर वक्त उचाट-उचाट-सी रहती थी। एक अजीब क़िस्म की खुदबुद हर वक्त दिलो-दिमाग मे होती रहती थी। जी चाहता था कि जो चीज़ भी सामने आए, उसे चखूँ, ख्वाह वह इंतिहा दर्जे की कड़वी ही क्यों न हो।

तकियों में जाता था और क़ब्रिस्तानों मे घूमता था। जलियाँवाला बाग मे घंटो किसी मायादार[10] दरख़्त के नीचे बैठकर किसी ऐसे इन्क़िलाब के ख्वाब देखता था जो चश्मे-ज़दन[11] में अंग्रेज़ों की हुकूमत का तख़्ता उलट दे। स्कूलों को जाती हुई लडकियो के झुरमुट देखता था और उनमें से कोई अच्छी-सी लड़की मुंतख़िब करके उससे इश्क लड़ाने के मनसूबे तैयार करता था। बम बनाने के नुस्खे हासिल करने की कोशिश करता था। बड़े-बड़े गवैयों के गाने सुनता था और क्लासिकल मौसीक़ी को समझने के लिए पेंचो-ताब खाता था।

मैंने उस ज़माने में शेर कहने की भी कोशिश की। फर्जी माशूकों के नाम इत्र लगे कागज़ों पर बड़े-बड़े तवील मुहब्बतनामे भी लिखे, मगर बकवास समझकर फाड दिए—दोस्तों के साथ मिलकर चरस के सिगरेट पिए, कोकीन खाई, शराब पी, मगर जी की बेकली दूर न हुई।

शदीद आवारगी के इसी दौर में मुझे रफीक़ गजनवी से मिलने की ख्वाहिश हुई—चुनांचे मैंने तकियो में, शराबखानों में और रंडियों के कोठो पर जा-जाकर पूछा कि रफ़ीक़ गजनवी कहाँ है, मगर किसी ने उसका ठौर-ठिकाना न बताया। कई बार सुनने मे आया कि वह अमृतसर में आया हुआ है। मैंने हर बार बडी मुस्तैदी से उसको ढूँढा, मगर उसका निशान न मिला।

एक दिन पता चला कि वह अपने एक दोस्त के हाँ ठहरा हुआ है। उसका वह दोस्त एक दरज़ी था—मैं उसका नाम भूल गया हूँ—उस दरजी की बैठक हमारे घर के पास करमों ड्योढी की एक गली मे थी, जहाँ वह काम करता था। मैंने रफीक को वहाँ तलाश किया।

मालूम हुआ कि वह शहर के बाहर एक ग़ैरआबाद-से इलाक़े में मुकीम है, जहाँ उस दरज़ी का घर है—पता मुझे बाले ने दिया। वह ख़ुद वहीं जा रहा था, चुनांचे मैं उसके साथ हो लिया।

मुनासिब मालूम होता है कि यहाँ मैं बाले का तआर्रुफ़ करा दूँ—मुझे यह बताते हुए दुख होता है कि लोग उसे बाला कंजर कहते थे। मालूम नहीं, इंसानों के साथ उनके आबा व अजदाद की ज़ात क्यों मंसूब कर दी जाती है—बाला, जैसा कि मैं जानता हूँ, निहायत ख़ुशज़ौक नौजवान था। तालीमयाफ्ता, ख़ूबसूरत हँसोड, बज़्लासंज,[12] शाइर मिज़ाज। उसकी तबीयत में वह जौहर था, जो किसी भी इंसान को फ़न की बुलंदियों पर पहुँचा सकता है—उसको मालूम था कि लोग उसे किस नाम से याद करते हैं, लेकिन उसको इसकी कोई परवाह नहीं थी। वह रहता-सहता वहीं था, जहाँ औरतें अपना जिस्म बेचती हैं—अब वह कराची में रहता है और अपना फ़न बेचता है। पिछले दिनों मुझे एक अख़बार के ज़रिए से मालूम हुआ कि अब वह एक मशहूर मुसव्विर है, जिसकी तसवीरो की नुमाइश अहले-नज़र[13] हजरात में बहुत मक़बूल हुई है।

बाला गाता भी था, मगर उसकी आवाज़ भद्दी थी— कैप्टेन वहीद, अनवर पेंटर, आशिक़ अली फ़ोटोग्राफ़र, शाइर फ़क़ीर हुसैन सलीस और ज्ञानी अरोड़ सिंह दनदानसाज़,[14] इन सबकी एक बहीमाना[15] क़िस्म की टोली थी। इनका उठना-बैठना ज़्यादातर अनवर पेंटर या ज्ञानी अरोड़ सिंह दनदानसाज़ की दूकान में होता था; या इनकी निशस्त जीजे अज़ीज़ के होटल 'शीराज़' और उस दरज़ी की बैठक में होती थी, जिसका नाम मैं भूल गया हूँ।

भंग घोटी या गोश्त में भूनी जाती थी और तबले की थाप पर राग-रागनियाँ, ठुमरियाँ, दादरे अलापे जाते थे—आशिक़ अली फ़ोटोग्राफ़र की आवाज़ सुरीली लेकिन बहुत पतली थी। वह अक्सर रफ़ीक़ ग़ज़नवी की बहरों में गाता था। कैप्टेन वहीद तबला बजाता था। अनवर पेंटर सिर्फ़ दाद देता था। ज्ञानी अरोड़ सिंह दाँत उखेड़ना भूलकर ख़ान साहब आशिक अली ख़ाँ की गंभीर और बालिश्त भर चौडी आवाज में अक्सर पहाड़ी सुनाया करता था और बाला सिर्फ लतीफे, और कभी-कभी अपनी ताजा गज़ल भी। मुझे उसकी एक गज़ल का सिर्फ एक शेर याद रह गया है :

अश्क मिजगाँ[16] पे है अटक-सा गया
नोक-सी चुभ गई है छाले में।

हाले में, शिवाले में, उजाले में, वग़ैरह वगैरह—अच्छी गज़ल थी।

ज्ञानी अरोड़ सिंह का अच्छा-भला काम चल रहा था, मगर जिसे आर्ट की चाट पड़ जाए, उसका अल्लाह ही हाफ़िज़ है। राग की दुनिया में वह ऐसा खोया कि दनदानसाज़ी की दूकान मय जुमला साज़ो-सामान के ग़ायब हो गई—अनवर पेंटर का भी दीवाला पिट गया। आशिक़ अली फ़ोटोग्राफ़र का भी यही हाल हुआ, चुनांचे वह एक दिन अमृतसर से ऐसा

ग़ायब हुआ कि अभी तक लापता है। जीजे अज़ीज़ का नामो-निशान तक बाक़ी न रहा। अब वह लाहौर में मतब[17] करता है। शाइर फ़क़ीर हुसैन सलीस साबुन बना रहा है—ज्ञानी अरोड़ सिंह कामयाब एक्टर बना, मगर अब सुना है कि उसने दुनिया त्याग दी है और ख़ुदा से लौ लगाए बैठा है—कैप्टेन वहीद ने पाँच बच्चोंवाली एक औरत से शादी कर ली। आजकल ठेकेदारी करता है।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी जिस रंग में पहले था, उसी में है। कराची में रेस के घोड़े दौड़ाता है और फ़िल्मों में मौसीक़ी भरता है।

बड़ी मुसीबत है, मैंने जब भी ऐसे मोज़ूआत पर क़लम उठाया, जो पुरानी यादों के मुताल्लिक़ हैं, तो हमेशा बहक गया—अब देखिए, मैं बात रफ़ीक़ ग़ज़नवी से मिलने की कोशिश की कर रहा था और चला गया फ़र्आत[18] में, लेकिन सच पूछिए तो मुझे फ़र्आत ही से मुहब्बत है और मैं ज़िंदगी को भी एक फ़र्ई चीज़ समझता हूँ।

हाँ जनाब, तो मैं बाले के साथ हो लिया—अप्रैल की ख़ुनक रात थी। ताँगा देर तक चलता रहा। आख़िर बाले ने एक नीम तारीक मक़ाम पर उसे ठहराया। बात तेईस-चौबीस बरस पहले की है, लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस एकमंज़िला मकान में हम दाख़िल हुए, वह पेड़ों और झाड़ियों से घिरा हुआ था। अंदर लालटेन जल रही थी—मीधा मोटा और वह दरज़ी, जिसका नाम मैं भूल गया हूँ, अपने चंद दोस्तों के साथ बैठे फ़लैश खेलने और शराब पीने में मश्ग़ूल थे।

मुझे मीधे मोटे से सख़्त नफ़रत थी। अव्वल तो यह कि वह मोटा और बहुत ताक़तवर था और दूसरे यह कि वह ज़बर्दस्ती मुझे फ़लैश खेलने को कहता और पत्तेबाज़ी करके मुझ पर आठ-दस रुपए का क़र्ज़ चढ़ा देता। फिर वह दूसरे-तीसरे दिन मुझे किसी बाज़ार या गली में पकड़ लेता और अपना ख़ौफ़नाक चाक़ू दिखाकर अपने पैसे वसूल कर लेता।

बाले ने दरज़ी से रफ़ीक़ के बारे में पूछा तो जवाब मिला कि वह दो रोज़ से ग़ायब है। कहाँ है, या हो सकता है, इसके मुताल्लिक़ उसे इल्म नहीं था—दरज़ी ने कहा : "बाले, तुम्हें मालूम ही है जब वह किसी कोठे पर चढ़ता है, पंद्रह दिन के बाद ही नीचे उतरता है।"

बाला मुसकरा दिया, जिसका साफ़ मतलब यह था कि उसको अच्छी तरह मालूम है। रफ़ीक़ ग़ज़नवी से मिलने की मेरी यह कोशिश भी बेकार गई।

ग़ालिबन एक बरस के बाद मैंने रफ़ीक़ ग़जनवी का फ़ोटो आशिक़ अली फोटोग्राफ़र के डार्करूम में एक डिश में पानी पर तैरता हुआ देखा।

आशिक़ अली बहुत अच्छा फ़ोटोग्राफ़र था। ग़ालिबन वह पहला शख़्स था, जिसने फ़ोटोग्राफ़ी के क़दीम उसूलों की ख़िलाफ़वर्ज़ी[19] की—आमतौर पर फ़ोटोग्राफ़र यह करते थे कि अपने गाहक को ख़ुश करने के लिए उसके चेहरे की वह तमाम लकीरें दूर कर देते थे, जो इंसान में उसके किरदार और तशख़्ख़ुस[20] की मज़हर[21] होती हैं। फ़ोटोग्राफ़र आमतौर पर गाहक के चेहरे को छिला हुआ आलू बना देते थे, जिस पर न कोई दाग़-धब्बा हो और न कोई सलवट या लकीर—आशिक़ अली कहता था, फ़ोटोग्राफ़र का काम यह है कि इंसान को उस तरह पेश करे जिस तरह कि वह उसे देखता है; कैमरे का काम सिर्फ़ अक्स लेना है

और बस—आशिक़ अली फ़ोटोग्राफ़र रोशनी और साये के इम्तिज़ाज[22] का ख़ास ख़याल रखता था।

रफ़ीक ग़ज़नवी की जो तसवीर मैंने देखी, मेरा ख़याल है, वह आशिक़ अली का शाहकार थी— रफ़ीक़ ने अरबों का लिबास पहना हुआ था। उसका लंबोतरा चेहरा बहुत पुरकशिश था। ख़द्दोख़ाल[23] तीखे और नुकीले नहीं थे, मगर जाज़िबे-नज़र[24] थे। बड़ी वजीह शक्लो-सूरत थी। नाक लंबी जो फुनंग के क़रीब चौड़ी हो गई थी। होंठ एक-दूसरे में पेवस्त। उनके दोनों तरफ़ छोटी-छोटी तिकोनें। बाल पीछे की तरफ़ कंघी किए हुए। लंबी क़लमें—मुझे उसमें और अपने में कोई मुमासलत नज़र न आई। मालूम नहीं, उस पानवाले को मुझ पर उसका धोखा कैसे हो गया था।

आशिक अली ने मुझे बताया कि रफ़ीक़ परसों आया था और उसी रोज़ शाम को वापिस लाहौर चला गया—मैं लाहौर पहुँचा तो मालूम हुआ कि वह रावलपिंडी में है। अब रावलपिंडी कौन जाता। मैं वापिस अमृतसर चला आया। आठवें रोज पता चला कि वह अमृतसर ही में एक तवाइफ के मकान पर नज़रबंद था—मैं झुँझला गया।

कई बरस गुज़र गए, मगर रफ़ीक़ गज़नवी से मुलाकात की कोई सबील[25] पैदा न हुई। मैं यूँ भी थक-हारकर उसको तलाश करने की सरगर्मी तर्क कर चुका था। इस दौरान में अलबत्ता यह मालूम होता रहा कि वह कटड़ा घनियाँ की क़रीब-क़रीब तमाम मशहूर तवाइफों को 'सरफ़राज'[26] कर चुका है।

रफीक़ गज़नवी की अपने मख़्सूस तर्ज में गाई हुई ग़ज़लें हर कोठे पर गाई जाती थी।

यह क्या है जी?

रफ़ीक़ की बहर[27] है।

यह क्या अंदाज़ है सरकार?

हुज़ूर, रफ़ीक गज़नवी का अंदाज़ है।

यह चकनाचूर घड़ी रफ़ीक़ साहब की है—कल उन्होंने तान जो ली तो जोर से हाथ हिलाया। कलाई दीवार के साथ टकराई और घड़ी के हुए हज़ार टुकड़े।

परसों रफ़ीक़ ग़ज़नवी एक रंडी के कोठे पर गाना सुनाने लगा। साज़ सुर में किए गए—रफ़ीक़ ने तबलेवाले से कहा : "तुम भी करो सुर में अपने तबले" तबलची ने कहा : "मैं कर चुका हूँ" रफीक़ ने कहा : "दुबारा करो दाएँ तबले पर अभी-अभी एक मक्खी बैठ गई थी।"

लानत है उस मक्खी पर और लानत है रफ़ीक़ ग़ज़नवी पर।

उन दिनों यह ग़ज़ल आमतौर पर रफ़ीक़ की बहर में गाई जाती थी—देखिए, हाफ़िज़े पर ज़ोर देकर उसका कोई शेर याद करता हूँ—नहीं याद आ रहा—कुछ ऐसा ही था : "सो रहे हैं पासबाँ यार है ख़्वाबे-नाज़ में" और ख़ुदा मालूम क्या : "न वो ग़ज़नवी में तड़प रही न वो ख़म है ज़ुल्फ़े-अय्याज़[28] में" शायद इक़बाल की कोई ग़ज़ल थी—माफ़ कीजिएगा, मेरा हाफ़िज़ा बहुत कमज़ोर है।

इसके बाद मालूम हुआ कि ए.आर. कारदार लाहौर में पंजाब की पहली मुतकल्लिम[29]

फ़िल्म 'हीररॉंझा' बना रहा है और रफ़ीक़ उसका हीरो है; हीरोइन अमृतसर की एक तवाइफ़ अनवरी है, जो आजकल रेडियो पाकिस्तान के डिप्टी डायरेक्टर जनरल जनाब अहमद सलमान साबिक़ जुगल किशोर मेहरा की बेगम है, कैदू का पार्ट एम. इस्माईल को दिया गया है।

फ़िल्म बन गई, मगर मैं लाहौर न जा सका, मालूम नहीं क्यों।

इस दौरान में मुख़्तलिफ़ अफ़वाहें सुनने में आती रहीं—कारदार का रफ़ीक़ से झगड़ा हो गया है। रफ़ीक़ अनवरी से रोमांस लड़ा रहा है। अनवरी की माँ सख़्त बरहम[30] है। जरूर एक रोज़ चाक़ू-छुरी चलेंगे।

एक दिन यह ख़बर आई कि रफ़ीक बड़े ड्रामाई अंदाज़ में अनवरी को ले उड़ा है।

यह ख़बर सच्ची थी—वाक़ई वह अनवरी को ले उड़ा था—अनवरी की माँ बहुत चीख़ी-चिल्लाई थी। रफ़ीक़ के पीछे गुंडे भी लगाए गए थे, मगर उसने कोई परवाह न की और शर्बते-विसाल व्हिस्की के साथ मिला-मिलाकर पीता रहा।

आख़िर एक दिन उसने अनवरी को उसकी माँ के पास अमृतसर रवाना कर दिया, इन फातिहाना[31] मगर निहायत तकलीफ़देह अल्फ़ाज के साथ : "लो सँभालो अपनी 'मुंड की पुडी' को।"

वह बेचारी अब अपनी 'मुंड की पुड़ी' को क्या सँभाल के रखती। जिस दिन के लिए उसने उसे सँभाल-सँभाल के रखा हुआ था, उस पर तो रफ़ीक़ ग़ासिबाना[32] कब्ज़ा कर चुका था। कर चुका था क्या, करके फ़ारिग़ भी हो चुका था। चुनाचे अनवरी की माँ ने मसलहत इसी में समझी कि वह यह 'पुड़ी', दूसरे लफ्जों में अपनी 'कुड़ी' ग़ैरमश्रूत[33] तौर पर रफ़ीक़ ग़ज़नवी के हवाले कर दे।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी का हुस्नो-इश्क के सोमनाथ पर यह पहला मार्काआरा[34] हमला था।

अनवरी के बत्न और रफ़ीक़ के नुत्फ़े[35] से एक लड़की पैदा हुई, जिसका नाम ज़रीना रखा गया—जो जवान होकर नसरीन के फ़िल्मी नाम से ए.आर. कारदार की फिल्म 'शाहजहाँ' में 'रूही' के रूप में जलवागर हुई—हाल ही में रेडियो पाकिस्तान के डिप्टी डायरक्टर जनरल जनाब अहमद सलमान साबिक़ जुगल किशोर मेहरा की दुख़्तरे-नेक अख़्तर की हैसियत से इसी लड़की का निकाह कराची में एक साहिबे-सर्वत से हुआ है।

कई और बरस गुज़र गए—इस दौरान में किन-किन मराहिल से मुझे गुज़रना पड़ा, उनका ज़िक्र मुनासिब मालूम नहीं होता, इसलिए कि इस मज़मून का मौज़ू सिर्फ रफ़ीक ग़ज़नवी की ज़ात है।

मैं बंबे पहुँच गया और वहाँ बहुत देर तक अख़बारों में झक मारता रहा—इस दौरान में मुझे मालूम हुआ कि रफ़ीक़ ने अनवरी को छोड़ दिया है और अब कलकत्ते में है, जहाँ वह फ़िल्मों के लिए मौसीक़ी मुरत्तब करता है।

मैं लिखना शुरू कर चुका था और अदबी हलक़ों में मेरा तआर्रुफ़ भी हो गया था, इसलिए उर्दू अदब से दिलचस्पी लेनेवाले मुझे जानने लगे थे। देर तक अख़बारों में झक मारने के बाद मैं फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हुआ। यहाँ भी एक-दो बरस झक मारना पड़ी।

अपने लिए कोई मक़ाम पैदा करते-करते मैं 'हिंदुस्तान सिने टोन' पहुँच गया, जिसके मालिक सेठ नानू भाई देसाई थे। आपने कई फ़िल्म कंपनियाँ क़ायम कीं और उनका दीवाला निकाला—अब उन्होंने 'हिंदुस्तान सिने टोन' के नाम से एक नई फ़िल्म कंपनी कायम की थी, जिसके कयाम के साथ ही दीवाले के आसार नजर आने लगे थे।

मैंने इस कंपनी के लिए 'मड' यानी 'कीचड' के उनवान से एक कहानी लिखी जो पसंद की गई। यह कहानी इश्तिराकी[36] खयालों पर उस्तवार[37] की गई थी। मुझे हैरत है, उस ज़माने मे सेठ नानू भाई ने इसे क्यों पसंद किया!

मै मुकालमे लिखने में मसरूफ था कि मुझसे किसी ने कहा : "रफ़ीक़ ग़ज़नवी स्टूडियो में मौजूद है और तुमसे मिलना चाहता है।"

पहला सवाल जो मेरे दिमाग में पैदा हुआ, यह था कि वह मुझे कैसे जानता है—मैं सोच ही रहा था कि एक लमतडंग आदमी बहुत उम्दा सिले हुए सूट मे नमूदार हुआ—यह रफ़ीक ग़ज़नवी था।

उसने कमरे में दाखिल होते ही मुझे एक मोटी-सी गाली दी और कहा : "तो तुम यहाँ छुपे बैठे हो।"

उसी लम्हे, उसी सानिए[38] मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मै रफ़ीक़ ग़ज़नवी को अज़ल[39] से जानता हूँ—चुनाचे हम देर तक इधर-उधर की बातें बड़े बेतकल्लुफ़ अंदाज में करते रहे।

उसके लबो-लहजे, उसकी हरकातो-सकनात[40] में एक अजीब सतही क़िस्म का रनाउत्नालियानापन[41] था—जो तसवीर मैंने आशिक अली फोटोग्राफर के डार्करूम मे डिश के अंदर पानी मे डुबकियाँ लगाती देखी थी, उसमे और गोश्त-पोस्त के रफ़ीक़ ग़ज़नवी मे यह फर्क था कि वह गूंगी थी और यह मुतकल्लिम।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी के तकल्लुमे-अंदाज[42] उस पर सजता नहीं था—अगर उसके होंठ न खुलते और अगर खुलते तो बेहंगम तरीक पर न खुलते कि उसके भद्दे दाँतों और मसूड़ों की बेवजह नुमाइश होती तो मुझे कोई एतिराज न होता। अगर उसकी गुफ़्तगू में बाजारियत का रंग न होता तो मैं शायद उसके भद्दे दाँतो और मसूडों को भी बर्दाश्त कर लेता, मगर मामला इसके बरअक्स था।

उसके हाथ नचाने का अंदाज भी मुझे पसंद न आया। मुझे यह महसूस होता कि वह जिससे मुख़ातिब है, बड़े अदना तबके मे ताल्लुक़ रखता है। यह एहसास, ज़ाहिर है, मेरे लिए ख़ुशगवार नहीं था—बहरहाल चूँकि पहली मुलाकात थी और वह भी इतने इश्तियाक के बाद, मैंने इन छोटी-छोटी बातों का गहरा असर न लिया।

जब रफ़ीक जाने लगा तो उसने मुझे बताया कि वह बंबे सेंट्रल स्टेशन के सामने एक होटल में, जिसका नाम मैं भूल गया हूँ, ठहरा है—वह बडी बेसरो-सामानी[43] की हालत में कलकत्ते से आया था और उसको उम्मीद थी कि बंबई में उसे काम मिल जाएगा।

चूँकि उसने मुझे मदऊ किया था, इसलिए मैं शाम को उसके होटल में पहुँचा। थोड़ी-सी तलाश के बाद मुझे उसका कमरा मिल गया—अंदर दाख़िल होते ही सबसे पहले मुझे एक कोने में क़ालीन के एक टुकड़े पर विचित्र वीणा नज़र आई जो रेशमी कपड़े से ढकी

हुई थी। उसके सामने दूसरे कोने में रफ़ीक़ के जूते थे जो बड़े सलीक़े से रखे हुए थे—फिर मुझे एक औरत नज़र आई जिसके तवाइफ़ होने में कोई शको-शुब्हा नहीं था। वह ज़ोहरा थी, जो अब ज़ोहरा मिर्ज़ा है। मिर्ज़ा साहब किसी ज़माने में फ़िल्म डायरेक्टर थे और अब पद्रह-सोलह बरस से वह एक फ़िल्म कंपनी खोलने की कोशिश में मसरूफ़ हैं।

ज़ोहरा के साथ दो बच्चे थे, एक लड़का और एक लड़की। लड़का छोटा था और लड़की बड़ी, जिसका नाम परवीन था। यह लड़की बाद में फ़िल्मी दुनिया में शाहीना के नाम से दाख़िल हुई। इसकी पहली फ़िल्म 'बेली' थी जिसकी कहानी मेरी थी और जो बहुत बुरी तरह नाकाम हुई—जब मैंने इस लडकी को जोहरा के साथ देखा, उसकी उम्र उस वक्त पाँच बरस की होगी।

देखिए, मैं लिखते-लिखते वाक़िआत की रौ में ऐसा बहा हूँ कि आपको यह बताना भूल ही गया कि जब मैं फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हुआ था, यानी जब मैंने इंपीरियल फ़िल्म कंपनी में बतौर मुंशी मुलाज़मत की थी तो उस ज़माने में दो नौजवान लड़कियाँ लाई गई थीं। एक दुबली थी, दूसरी मोटी—यह दोनों लड़कियाँ ज़ोहरा की छोटी बहनें थीं, शैदाँ और हीराँ।

शैदाँ बला की चंचल थी। बोटी-बोटी पड़ी नाचती थी। नाक-नक़्शा अच्छा—लेकिन बहुत तेज़ बोलती थी, इतनी तेज़ कि एक लफ्ज दूसरे लफ़्ज़ पर सवार हो जाता। मुझे उससे गुफ़्तगू करते वक्त बहुत उलझन होती थी—रफ़ीक से मुलाक़ात होने से पहले की बात है, मुझे शैदाँ से ही मालूम हुआ था कि फैकू भाई जान रफ़ीक़ ग़ज़नवी तो अनवरी को छोड़ चुके हैं और उन्होंने उसकी बड़ी बहन ज़ोहरा से ब्याह कर लिया है—शैदाँ को इंपीरियल की रंगीन फ़िल्म 'हिंद माता' में काम मिल गया था और जो कामयाब रही थी।

हीराँ मोटी और फुसफुस थी। यही वजह है कि वह फ़िल्मों में न चल सकी।

मैं आपको यह दिलचस्प लतीफ़ा सुनाता हूँ : एक रोज़ मैं किसी काम से इंपीरियल फ़िल्म कंपनी के मालिक सेठ आरदेशर ईरानी से मिलने गया। दफ़्तर का स्विंग डोर[44] खोलता हूँ तो क्या देखता हूँ, सेठ बड़े इत्मीनान से शैदाँ का एक पिस्तान[45] यूँ दबा रहे हैं, जैसे किसी मोटर कार का हार्न—मैं उलटे पाँव वापस चला आया।

अब मैं फिर ज़ोहरा की लड़की परवीन की तरफ़ आता हूँ—उसकी आँखें नीली थीं, जिस तरह ज़रीना अलमारूफ़[46] नसरीन की हैं—रफ़ीक़ की आँखें नीली नहीं। अनवरी और ज़ोहरा की आँखें भी नीली नहीं और रफ़ीक़ की यह दोनों बीवियाँ बिलतरतीब ज़रीना और परवीन की माएँ हैं—असल में आँखों का यह नीलापन दोनों लड़कियों को उनकी दादी से मिला है, जिसकी आँखें यह बड़ी-बड़ी और नीलगूँ थीं और जो क़द-काठ की बहुत तगड़ी थी, मगर चुनिया बेगम* की रसिया।

ख़ैर!

रफ़ीक़ मुझसे मिला—मैं कमरे का जाइज़ा लेते ही भाँप गया था कि वह इंतिहाई कसमपुरसी के आलम में बंबई आया है, और तलाशे-रोज़गार में सरगर्दां है।

* चुनिया बेगम यानी अफीम।

मैं यहाँ आपको रफ़ीक़ ग़ज़नवी की अजीबो-ग़रीब शख़्सियत का एक अजीबो-ग़रीब पहलू दिखाना चाहता हूँ—जब उस पर बंबई की ज़बान में कड़की बमानी मुफ़िलसी का ज़माना आता है तो वह बेहतरीन लिबास पहनता है। जब ये दौर गुज़र जाता है तो वह मामूली कपड़े पहनने लगता है—यूँ वह हर लिबास में बाँका-सजीला नज़र आता है। उसको हर लिबास पहनने का सलीक़ा है।

होटल के कमरे में हम थोड़ी देर रहे। इसके बाद नीचे बग़ीचे में चले गए—मैं व्हिस्की की बोतल अपने साथ लाया था, चुनांचे हम देर तक पीते और बातें करते रहे—इस दौरान में एक दिलचस्प वाक़ा ज़हूरपज़ीर हुआ।

हम पी रहे थे कि एक भरे-भरे जिस्म और अच्छे-ख़ासे डीलडौल की औरत आई। उसने रफ़ीक़ की तरफ़ अपनी चुंधी आँखों से देखा और मुसकराकर कुर्सी पर बैठ गई—रफ़ीक़ ने उसको गिलास पेश किया जो उसने ले लिया। इसके बाद रफ़ीक़ ने मेरा उससे तआरुफ़ कराया।

वह कोई फ़िल्म ज़दा औरत थी। मैं उसे औरत ही कहूँगा, इसलिए कि वह लड़कपन की हुदूद से बहुत आगे निकल चुकी थी—रफ़ीक़ ने मुझे बताया कि वह सिख मज़हब से ताल्लुक रखती है और काफ़ी मालदार है; बंबई सिर्फ इसलिए आई है कि उसे अशोक कुमार के सिर्फ़ एक बार दर्शन हो जाएँ। मैंने इससे कहा : "साली, छोड़ अशोक कुमार को अपना डील-डौल देख तुम्हारी छाती पर अगर अशोक कुमार को बिठा दूँ तो ऐसा मालूम होगा, तोता तोप चला रहा है।"

ज़िला जगत[47], फबती रफ़ीक़ का महबूब तरीन मश्ग़ला[48] है, बल्कि यूँ कहिए कि उसकी तबीयत बन चुका है—वह सिखनी, जिसका नाम मैं भूल गया हूँ, वह फबती सुनकर ख़ामोश रही, लेकिन रफ़ीक़ ने बड़े ज़ोर का क़हक़हा बुलंद किया और देर तक हँसता रहा।

यह भी उसकी आदत है कि फबती कसेगा, चुस्त हो या फुसफुसी, कोई दाद दे या न दे, वह ख़ुद अपने को ख़ूब दाद देगा। इतना हँसेगा, इतना शोर मचाएगा कि मजबूरन आपको भी उस ग़ुल-गपाड़े में शरीक होना पड़ेगा।

सिखनी मामूली शक्ल-सूरत की थी। मोटे-मोटे नक़्श, बहुत ही तंग माथा, मर्दनुमा—रफ़ीक़ उससे बातें कर रहा था, मगर मुझे एहसास था कि उसे उस औरत से कोई दिलचस्पी नहीं। रफ़ीक़ की बातें महज़ बराए बातें थीं। वह उस पर यह ज़ाहिर कर रहा था कि वह उससे जिस्मानी रिश्ता क़ायम करना चाहता है, मगर उस औरत के दिलो-दिमाग़ पर अशोक कुमार सवार था।

रफ़ीक़ ने जब ज़ोर दिया तो वह ठेट देहाती सिखनियों के अंदाज़ में झुँझला के बोली : "सुन ले रफ़ीक़, मैं कुत्तों "

रफ़ीक़ ने फ़ौरन उसे टोका : "बस-बस ··तू नहीं जानती, मैं बहुत बड़ा कुत्ता हूँ, बड़ी आला नस्ल का।"

नस्ल-वस्ल के मुताल्लिक़ मैं कुछ नहीं जानता हूँ, लेकिन इतना कह सकता हूँ कि रफ़ीक़ ग़ज़नवी वाक़ई बहुत बड़ा कुत्ता है, जिसकी दुम सिर्फ़ तवाइफ़ें ही हिला सकती हैं।

कोई शरीफ़ ख़ातून लाख पुचकारे-चुमकारे, रफ़ीक़ की दुम में ख़फ़ीफ़-सी भी जुंबिश पैदा नहीं होगी।

यह मेरी और उसकी पहली मुलाक़ात थी—इसके बाद हम एक-दूसरे से मिलते-जुलते रहे।

मैं यहाँ उसके किरदार का एक और पहलू वाज़ेह कर दूँ कि वह अव्वल दर्जे का कमीना, सफ़ला[49] और ख़ुदग़र्ज़ है। अपनी ज़ात उसके लिए सबसे मुक़द्दम[50] है। वह खाना जानता है, खिलाना नहीं जानता। लेकिन मतलब होगा तो वह बड़ी पुरतकल्लुफ़ दावतें भी करेगा, मगर उन दावतों में भी वह मेहमानों का कुछ ख़याल न करते हुए सबसे पहले मुर्ग़ के बेहतरीन हिस्से अपनी प्लेट में डाल लेगा।

वह दोस्तों को बहुत कम सिगरेट पेश करता है—मैं आपको एक वाक़ा सुनाता हूँ, जब मुझे बड़ी ख़िफ़्फ़त का सामना करना पड़ा। एक स्टूडियो में उससे मुलाक़ात हुई। जंग का ज़माना था। सिगरेटों के तमाम अच्छे ब्रांड ब्लेक मार्केट में बिकते थे। मैंने उसके हाथ मे करेवन ए का डिब्बा देखा। यह मेरे मरग़ूब[51] सिगरेट हैं। मैंने हाथ बढ़ाकर डिब्बा पकड़ना चाहा, मगर उसने अपना हाथ झटककर एक तरफ़ कर लिया।

मैंने कहा : "एक सिगरेट देना यार!"

उसने पीछे हटकर डिब्बा अपनी जेब में डाल लिया : "नहीं मंटो अव्वलन मैं अपना सिगरेट किसी को नहीं दिया करता, सानियन[52] यह सिगरेट आला दर्जे के हैं, तुम्हारी आदत बिगड़ जाएगी तुम अपने गोल्ड फ़्लैक पिया करो।"

मेरे जाननेवाले तीन-चार आदमी पास खड़े थे। मैं पानी-पानी हो गया। समझ न आया, क्या कहूँ और क्या करूँ। लाचार खिसियाना होकर अपनी टाँग नोचना शुरू कर दी।

रफ़ीक़ परले दर्जे का बेग़ैरत है। कहने को तो पठान है, लेकिन ग़य्यूर[53] क़तअन नहीं—सुना है कि पहले उसका सिलसिला ज़ोहरा की माँ से था। इसके बाद उसकी बड़ी लड़की मुशतरी से हुआ। फिर ज़ोहरा की बारी आई और आख़िर में ज़ोहरा की बहन शैदाँ की।

मुझे मालूम नहीं, शैदाँ से उसका टाँका कैसे मिला—इतना याद है कि वह उन दिनों माहिम में रहता था। एंक्लेटिव मैन्शन की बालाई मंज़िल पर उसका फ़्लैट था। उसके सामने मेरी बहन रहती थी।

मेरी शादी हो चुकी थी और मैं एडेलफ़ी चेंबर्ज़, क्लेयर रोड में मुक़ीम था—रफ़ीक़ का हमारे यहाँ आना-जाना था। रेडियो स्टेशन पर भी हमारी मुलाक़ात अक्सर हो जाती थी।

एक रोज़ वह अपना प्रोग्राम ख़त्म करके स्टूडियो से बाहर निकला तो बड़ी अफ़रातफ़री में था। देर के बाद मिला था, इसलिए मैंने पूछा : "सुनाओ रफ़ीक़, क्या हो रहा है आजकल?"

उसने जवाब दिया : "इश्क़ हो रहे हैं दुबले हो रहे हैं।"

वाक़ई इश्क़ हो रहे थे—एक दिन मालूम हुआ कि ज़ोहरा की छोटी बहन शैदाँ ने अफ़ीम खा ली है—ज़ोहरा भी चुनिया बेगम की आशिक़ है—दोनों बहनों में जबर्दस्त चख़

हुई थी। जोहरा को सख्त नागवार गुजरा था कि शैदा उसके खाविंद को उससे छीन रही है—अल्लड़ जवान शैदों को उसका फैकू भाईजान, मालूम नही, मुहब्बत के कितने जाम पिला चुका था। वह सर से पैर तक नशे मे डूबी हुई थी। वह जो कहते हैं, इश्क और जग मे हर एक चीज जाइज है, बस वह खुद को हक बजानिब समझती थी और फिर खुद रफीक भी उसकी तरफ माइल था। उसकी समझ मे नही आता था कि उसकी बडी बहन जोहरा मौर्तारिज[54] क्यो है।

चख जबर्दस्त लडाई की शक्ल अख्तियार कर गई। नतीजा यह निकला कि शैदाँ ने जोहरा की अफीम उडाकर निगल ली, ताकि इश्क की राह मे अपनी जान दे दे—लेकिन जिसको अल्लाह रखे, उसे कौन चखे। शैदाँ शहादन का रुत्बा हासिल करते-करते बच गई, और इस हादिसे का अजाम बतौर यूँ हआ कि रफीक बडी बहन जोहरा के दिल का मकान खाली करके छोटी बहन शैदा के दिल की नई कोठी मे अकामत पजीर[55] हो गया।

सुना है 'तातीलो'[56] म वह कभी-कभी जोहरा और शैदाँ की मोटी बहन हाजराँ के दिल के डाकबँगले म भी ठहर जाया करता था—रहे नाम अल्लाह का और उसके एक नाचीज बदे रफीक गजनवी का।

जब रफीक का इश्क जोरो पर था उस जमाने मे लेडी जमशेजी रोड, माहिम के 'गुलशन महल' मे लाहौर के एक लाला जी आके ठहरे। आपके साथ एक खूबसूरत लडकी जैबुन्निसा थी। लाला जी अजीबो-गरीब आदमी थे। उनके पास आग लगाने को रुपया भी काफी मौजूद था। उनको इस बात की कोई परवाह नही थी कि उनकी जैबुन्निसा पसे-पर्दा[57] क्या करती है क्या नही करती। वह अपने चुगदपने म मस्त रहना चाहते थे—रफीक दो-एक मर्तबा लाला जी से मिलने आया तो उसकी आँख जेबुन्निसा से लड गई। लडकी सादा लोह थी। गरीब ने घर की सब अच्छी चादरे, गिलाफ दरियाँ वगैरह रफीक के हवाले कर दी। उसको खिलाती-पिलाती भी रही, लेकिन रफीक बहुत जल्द उससे उकता गया—मैंने वजह पूछी तो कहने लगा 'यार, बडी शरीफ औरत है मुझे लुत्फ नही आता।।''*

रफीक को औरत मे शराफत बहुत बुरी तरह खलती है मालूम नही क्यो—यही हो सकता है कि उसका वास्ता चूँकि शुरू ही मे एक ऐसे तबके की औरतो से पडा था, फहशाकलामी और जुगतबाजी जिनका ओढना-बिछौना होती है और जो सस्ते और बाजारू किस्म के मजाक करती हैं और ऐसे ही हँसी-ठट्ठे की दूसरो से तवक्के करती हैं, इसलिए रफीक के लिए शरीफ ख्वातीन म कोई कशिश नही है—उसकी जिस्मानी हिस्सयात को बीवीपना बेदार नही कर सकता।

कहने को तो वह हर उस तवाइफ का शौहर था जो उसकी नीम बायराना जिदगी मे

---

* एक अहम और काबिले-गौर बात मटो और रफीक गजनवी की पहली मुलाकात गालिबन सन अडतीस मे हुई। मटो ने अफसाना बाबू गोपीनाथ' सन सैंतालीस मे लिखा और यह खाका 'रफीक गजनवी' सन पचास मे—इस पैराग्राफ मे जो वाका दर्ज है, यही वह खाम मवाद है जो बाबू गोपीनाथ की बुनियाद बना है। —सपादक

आई, लेकिन दर हक़ीक़त वह उसका गाहक था। आम गाहक नहीं—ख़ास गाहक जो तवाइफ़ से लेता है, उसको देता नहीं; जैसा कि रफ़ीक़ अपनी इब्तिदाई ज़िंदगी में था।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, ज़िंदगी भी रफ़ीक़ के नज़दीक एक तवाइफ़ है। वह हर रात उसके साथ सोता है। सुबह उठते ही पहले साँस के साथ वह उससे जुगतबाज़ी शुरू कर देता है। उसका गाना सुनता है, अपना सुनाता है। फक्कड़बाजी होती है और यूँ एक दिन ख़त्म हो जाता है।

मैंने उसको कभी मलूल नहीं देखा। वह बेहयाई और ढिटाई की हद तक हर वक़्त ख़ुश रहता है। यही वजह है कि वह तंदुरुस्त है। इतनी उम्र होने पर भी आप उसे मुअम्मर[58] नहीं कह सकते। बल्कि जूँ-जूँ उसकी उम्र में इज़ाफ़ा हो रहा है, वह जवान होता चला जा रहा है। मुझे कोई ताज्जुब नहीं होगा, अगर सौ बरस पूरे होने पर वह नन्हा-मुन्ना बच्चा बन जाए और अँगूठा चूसना शुरू कर दे।

वह शिवाजी पार्क में रहता था कि शौदाँ के मुर्दा बच्चा पैदा हुआ—मैं और मेरी बीवी अफ़सोस करने गए तो एक अजीबो-ग़रीब तमाशा देखने में आया।

रफ़ीक़ फर्श पर क़राक़ुली टोपी पहने नमाज़ पढ़ने के अदाज़ मे बैठा था—मैं अदर दाख़िल हुआ तो दूसरे कमरे से ज़ोहरा सियाह मातमी लिबास में नमूदार हुई। उसके बाल खुले थे और आँखें नमनाक। उसके साथ उसका रफ़ीक़ के बादवाला शौहर मिर्ज़ा था जो रफ़ीक़ के लड़के की मौत से बहुत मुतास्सिर दिखाई देता था—दूसरे कमरे मे शौदाँ के रोने की आवाज़ आई तो ज़ोहरा लपककर अंदर गई और बुलंद आवाज़ मे उसको दिलासा देने लगी।

मैं रफ़ीक़ के पास मब्हूत[59] बैठा सोच रहा था कि या अल्लाह, यह क्या मजाक है—रफ़ीक़ किसी ज़माने में ज़ोहरा का ख़ाविंद था। ज़ोहरा के बत्न मे रफीक के दो बच्चे थे, जो इस कमरे से उस कमरे में जाते थे और कभी उस कमरे से इस कमरे में आते थे। रफ़ीक़ अब ज़ोहरा की छोटी बहन शौदाँ का शौहर था और ज़ोहरा का शौहर था मिर्ज़ा—शौदाँ एक तरफ़ ज़ोहरा की बहन थी और दूसरी तरफ़ मौत—ज़ोहरा के बत्न से रफ़ीक़ के बच्चे शौदाँ के क्या लगते थे। बहनों के आपसी रिश्ते से ज़ोहरा की बच्ची परवीन तो शौदाँ की भानजी थी और बच्चा महमूद भानजा। और शौदाँ के जो मुर्दा लड़का पैदा हुआ था, वह ज़ोहरा का भानजा था। रफ़ीक़ के ताल्लुक़ से ज़ोहरा और शौदाँ बच्चों की सौतेली माएँ थीं—ज़ोहरा के बच्चों, परवीन और महमूद का रिश्ता रफ़ीक़ के नुत्फ़े के पेशे-नज़र रखते हुए शौदाँ के मुर्दा लड़के से जो हुआ, ज़ाहिर था—रफ़ीक और मिर्ज़ा, दोनों एक-दूसरे के हमज़ुल्फ़[60] थे

मैं चकरा गया—लेकिन रफ़ीक़ ने बरवक्त मुझे इस उलझन से निजात दिला दी। उसने कहा : "आओ बाहर चलें।"

हम बरामदे में पहुँचे तो रफ़ीक़ ने क़राक़ुली टोपी उतारकर ज़ोर से एक तरफ़ फेंक दी और सिगरेट सुलगाकर कहा : "दुर फ़िट्टे मुँह ग़म करते-करत चेहरा लंबोतरा हो गया है।" और खिलखिलाकर हँसने लगा।

ग़ैरत, शर्म और हया शायद इज़ाफ़ी चीज़ें हैं। आप मुझसे बहस करेंगे तो मैं मान लूँगा

कि यह वाक़ई इज़ाफ़ी है—भाई-बहन के इज़्दिवाजी[61] रिश्ते में क्या क़बाहत[62] है; बाप-बेटी के जिस्मानी ताल्लुक़ में क्या बुराई है; इसी तरह इग़लामबाज़ी[63] को ख़िलाफ़े-वज़ेह[64] फ़ितरी अमल क्यों क़रार दिया जाता है, जब कि यह रुजहान इंसान की फितरत में अज़ल से मौजूद है—कुछ भी हो, आप मुझे कमज़ोर कह लीजिए, रजअतपसंद बना दीजिए, लेकिन इन बातों के तसव्वुर ही से मुझे घिन आती है।

अर्सा हुआ, मैं बंबे से अपने किसी मुक़दमे के सिलसिले में लाहौर आया। उन दिनों रफ़ीक़ भी वहीं था। उससे मुलाकात सैयद सलामतुल्ला शाह के नीलामघर में हुई।

अल्लाह बख़्शे, शाह साहब बड़े रंगीले आदमी थे—मैंने उनसे रफीक़ का पूछा तो उन्होंने बताया कि अंदर कमरे में है और बहुत ख़ुश है।

लाहौर ही में मुझे मालूम हुआ कि वह अमृतसर में अनवरी के बत्न से अपनी बेटी जरीना अलमारूफ़ नसरीन से मुलाकात करके आया है—रफ़ीक़ ने ज़रीना का बचपन देखा था। उसकी जवानी देखने का इत्तिफ़ाक नही हुआ था—असल में अनवरी ने कोई ऐसा मौका ही नही आने दिया था कि ज़रीना अपने बाप को देख सकती। उससे यही कहा गया था कि वह बहुत बदसूरत और बदमाश है।

रफीक के दोस्तों ने मिलजुलकर मन्सूबा बनाया और बाप-बेटी की मुलाक़ात का इंतिजाम कर दिया—रफ़ीक अमृतसर पहुँचा और जरीना से मिला।

रफीक ने मुझसे कहा "मंटो, सरोक़द, बेहद ख़ूबसूरत, जवानी से भरपूर मैंने जब उसे अपने बाज़ुओं में भीचा तो ख़ुदा की कसम मज़ा आ गया।"

मैं रफ़ीक के इन अल्फाज़ पर कोई तब्सिरा नहीं करना चाहता।

रफीक़ ने मुझे बताया कि वह रुख़्सत होने ही वाला था कि अनवरी आन टपकी—उनमें हल्की-सी चख़ हुई।

रफ़ीक़ ने अनवरी से कहा . "ख़ामोश रह अनवरी शुक्रिया अदा कर कि तुझे एक सोने की कान का मालिक बना दिया है मैंने "

मालूम नहीं, रफीक़ ने ऐसी सोने की कानें किस-किसको अता की हैं—रोज़े-महशर[65] जब खुदाई होगी, उसी वक्त पता चल सकेगा—वैसे रफ़ीक ने एक बार मुझसे कहा था : "मालूम नही, मेरे बच्चे-बच्चियों की तादाद कितनी है •अल्लाह बेहतर जानता है कि वह सबसे बड़ा मर्दुमशुमार[66] है।"

रफ़ीक़ की एक 'सगी' बीवी भी थी, यानी सेहरे-जलवों की ब्याही यह ग़रीब शादी के तीन-चार साल बाद ही मर गई। इसके बत्न से एक लड़की ज़ाहेरा है, जो पहले फ़िल्म डायरेक्टर ज़िया सरहदी* की बीवी थी और अब तलाक़ लेकर कराची में अपने बाप के साथ रहती है। मुझे इस लड़की की ज़िंदगी की क़ब्ल अज़ वक़्त[67] तबाही का बहुत अफ़सोस है

---

* जिया सरहदी ने तकसीम के बाद दो अच्छी फिल्मे, 'हम लोग' (बलराज साहनी और नूतन) और 'फुटपाथ' (दिलीप कुमार और मीनाकुमारी) बनाई थी—'महबूब प्रोडक्शज' के लिए अपनी तीसरी फिल्म 'आवाज' बनाने के बाद जिया सरहदी गालिबन सन चव्वन मे पाकिस्तान चला गया था। — सपादक

और मैं समझता हूँ, इस तबाही में रफ़ीक़ का हाथ है, इसलिए कि वह हमेशा उसको अपनी ज़िंदगी का साँचा पेश करता था और कहता था . "तुम इसमें ढल जाओ।"

नतीजा इसका यह हुआ कि वह आज एक इब्रतअंग्रेज[68] ख़राबे में तब्दील हो चुकी है—उसकी शादी के मुताल्लिक बंबे मे एक झगड़ा-सा पैदा हो गया था, वह भी रफ़ीक़ की ग़फ़लत के बायस। उसको दूर करने के लिए उसने ज़ाहेरा से कहा : "देख पुत्तर, तू नज़ीर लुधियानवी से शादी नहीं करना चाहती, न कर ज़िया सरहदी से कर तजबज़ब[69] में है तो दोनों से कर अगर दोनों तुम्हें धोखा दे जाएँ तो कोई फिक्र न करना मैं तेरा सबसे बड़ा ख़ाविंद हूँ, तेरा बाप।"

नजीर लुधियानवी को ज़ाहेरा ने धोखा दिया और ज़ाहेरा को ज़िया सरहदी ने। अब वह अपने सबसे बडे ख़ाविंद, अपने बाप रफ़ीक गज़नवी के पास है। बीड़ियाँ पीती है और उनकी राख में अपनी जवानी की वह तमाम चुलबुलाहटें कुरेद-कुरेदकर निकालने की नाकाम कोशिश करती है, जो कोई मुस्तकिल[70] सजीदा शक्ल इख़्तियार कर सकती थीं।

मैं ज़ाहेरा के मुताल्लिक और कुछ नही लिखूँगा, इसलिए कि मेरे दुख मे इजाफा होगा।

रफ़ीक़ में खिलंदड़ापन इस उम्र में भी मौजूद है। छोटी-सी बात होगी और वह हँस-हँसकर अपना बुरा हाल कर लेगा। बहुत खुश होगा तो उछलना-कूदना शुरू कर देगा।

हम फ़िल्मिस्तान में 'चल चल रे नौजवान' बना रहे थे। हीरो अशोक कुमार और हीरोइन परी चेहरा नसीम-बानो‡ थी। रफ़ीक़ इस फ़िल्म मे एक रोल अदा कर रहा था—उसने मुझे बताया था कि वह नसीम की माँ छमियाँ यानी शमशाद को जानता है, जो किसी जमाने मे दिल्ली की क़यामतख़ेज़ तवाइफ थी।

दिल्ली में एक रात रफ़ीक़ को छमियाँ के बालाख़ाने पर जाने का इत्तिफ़ाक हुआ—छमियाँ गा रही थी और साथ-ही-साथ बिल्लौरी सुराही से जाम भर-भर के पेश कर रही थी। मुजरा सुननेवाले शहर के रईस थे—रफ़ीक की तरफ़ देखकर छमियाँ मुसकराई और उसे इशारे से अपने पास बुलाकर एक जाम पेश किया—शहर के रईस तो पी-पिलाकर चले गए और रफ़ीक पंद्रह रोज तक छमियाँ के बालाख़ाने में जेरे-हिरासत[72] रहा।

मैंने नसीम से उसका तआरुफ़ कराया—रफ़ीक ने नसीम को जब दिल्ली में देखा था तो वह छोटी-सी बच्ची थी, जो बक़ौल रफ़ीक़ हर वक़्त चुनरिया ओढ़े इधर-उधर फुदकती रहती थी।

नसीम भी रफीक को जानती थी। उनमें जो गुफ्तगू हुई, बहुत पुरतकल्लुफ़ थी। इसकी वजह यह थी कि नसीम अदब-आदाब और रख-रखाव मल्हूज[73] रखती है। उसने रफ़ीक़ को ऐसा कोई मौक़ा न दिया कि वह 'ढीली' क़िस्म की कोई बात कर सकता।

रफ़ीक़ इसी में ख़ुश था, इतना ख़ुश कि मेरे कमरे में पहुँचते ही उसने बेतहाशा नाचना

‡ नसीमबानो फ़िल्म 'पुकार' की नूरजहाँ—सायराबानो की माँ और दिलीप कुमार की सास।

शुरू कर दिया। नसीम के हुस्न की तारीफ़ में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाता वह मेज़ पर चढ़ा, फिर वहाँ से धम करके फ़र्श पर गिरा और लोटने लगा। लोटते-लोटते मेज़ के नीचे चला गया। उठा तो उसका सिर तड़ाक़ से मेज़ के साथ टकराया। इसकी परवाह न करते हुए वह मेज़ के नीचे से निकला और गाने लगा :

वह चले झटक के दामन मेरे दस्ते-नातवाँ[74] से
वह वह वह चले वह चले वह चले

मेरा ख़याल है, रफ़ीक़ चाहता था कि नसीमबानो से भी सिलसिला हो जाए, मगर अँगूर खट्टे थे, इसलिए उसने कोशिश फ़िज़ूल समझी और नसीम को देख-देखकर ही अपना जी पिशौरी करता रहा।

नूरजहाँ ग़ालिबन उसके हत्थे चढ़ जाती लेकिन वह बहुत बुरी तरह फिल्म डायरेक्टर सैयद शौकत हुसैन रिज़वी की मुहब्बत में गिरफ़्तार थी। मैं इसके मुताल्लिक किसी क़दर तफ़सील[75] से अपने मज़मून 'नूरजहाँ' में लिख चुका हूँ—अलबत्ता रक़्क़ासा सितारा बग़ैर रफ़ीक़ की ख़्वाहिश के और बग़ैर अपने इरादे के 'सरफ़राज़' हो गई।

पी एन अरोड़ा और सितारा का झगड़ा था और बीच में एक्टर नज़ीर भी फँसा हुआ था। इस तिगड्डम की गिरहें खोलते-खोलते रफ़ीक़ ने सितारा की गिरह भी खोल दी, कुछ इस तरह कि न रफ़ीक़ को पता चला और न सितारा को।

जिन दिनों सोहराब मोदी 'सिकंदर' बना रहा था, उन्हीं दिनों ज़हूर अहमद बंबई में जिस्मफ़रोशों की मंडी पवन पुल से एक नोवारिद और नौजवान तवाइफ़ मीना को ले उड़ा था और फिर उसने उस नौख़ेज़[76] को अपनी बीवी बना लिया था—मीना बाद में सोहराब मोदी के 'मिनरवा मोवीटोन' में मुलाज़िम हो गई।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी ने 'सिकंदर' के लिए एक मार्शल कोरस मुरत्तब किया। उसके बोल शायद यह थे :

ज़िंदगी है प्यार की, प्यार से बिताए जा
हुस्न के हुज़ूर में अपना सिर झुकाए जा

यह कोरस बहुत मक़बूल[77] हुआ। शायद इसी ख़ुशी में उसने मीना के हुस्न के हुज़ूर में अपना सर झुका दिया, मगर ज़्यादा देर तक झुकाए न रखा। बस तीन-चार सजदे किए और मुसल्ला[78] उठाकर चल दिया।

पवन पुल ही में हैदराबाद से दो बहनें ग़ालिबन शहज़ादा मुअज़्ज़म जा से अपनी जान छुड़ाकर आबाद हुईं। बड़ी का नाम अख़्तर था, छोटी का अनवर। इनका वतन दरअसल आगरा था—अनवर बाली उम्र की थी, यही कोई चौदह-पंद्रह बरस की। उसकी मिस्सी की रस्म अभी तक अदा नहीं हुई थी—दोनों बहनें मुजरा करती थीं—बड़ी बहन अख़्तर पर हमारे दिल्ली के एक दोस्त हलदिया साहब सौ जान से फ़िदा थे।

एक रात मुझे हलदिया साहब के साथ इन दो बहनों के बालाख़ाने पर जाने का इत्तिफ़ाक़ हुआ।

मुजरा सुनने के बाद बातें शुरू हुईं तो रफ़ीक़ ग़ज़नवी का ज़िक्र आ गया—मैंने कहा : "बड़ा हरामज़ादा है।"

छोटी अनवर ने एक तीखी-सी मुसकराहट के साथ मेरी तरफ़ देखा : "आपकी शक्ल उससे मिलती-जुलती है।"

मुझसे कोई जवाब बन न आया और मैं पेचो-ताब खा के रह गया।

इस वाक़े का ज़िक्र मैंने रफ़ीक़ से किया—वह उनको नहीं जानता था। मुझसे पता पूछकर उसने उनके यहाँ आना-जाना शुरू कर दिया—मेरा ख़याल है, यह सिलसिला कम-अज़-कम एक बरस तक जारी रहा।

रफ़ीक़ ने पेशगोई[79] की थी कि अनवर एक दिन बहुत बड़ी मुग़ैयना[80] बनेगी और ठुमरी गाने में उसका कोई जवाब न होगा—रफ़ीक़ की पेशगोई सही साबित हुई। जिन लोगों ने अनवर को सुना है, इसकी तस्दीक़ करेंगे।

बंबे के बाद मैंने अनवर बाई आगरेवाली को दिल्ली रेडियो स्टेशन में देखा, जहाँ मैं उन दिनों मुलाज़िम था—अनवर हड्डियों का ढाँचा थी।

अल्लाह अल्लाह क्या इन्क़िलाब था। चंद बरसों ही में यह क़ाया पलट—पवन पुल का वह चुलबुलापन, वह शरीर और तीखा ग़मज़ा[81] मालूम नहीं, कौन ज़ालिम उसके वुजूद से नोचकर ले गया था। अब वह एक लंबी आह था, बड़ी नाज़ुक, हवा के हल्के से हलकोरे से भी जिसके हज़ार टुकड़े हो सकते थे—माइक्रोफ़ोन के सामने गावतकिए का सहारा लेकर वह बैठ जाती, अपनी नहीफ़ गर्दन पर सर का सारा बोझ उठाती और तानपूरे के साथ अपना सुर लगा देती—उसकी आवाज़ सुननेवालों की रूह की गहराइयों में उतर जाती।

रफ़ीक़ गवैया कम है, मदारी ज़्यादा है—वह आपको अपना गाना सुनाने से पहले ही वज्द में ले जाएगा। बाजे के किसी सुर पर उँगली रखेगा और ख़ुद पर सर ता पा[82] रिक़्क़त तारी करके कहेगा : "हाय!" यह हाय बहुत लंबी होगी। फिर वह दूसरे सुर को दबाएगा और पहले से भी लंबी 'हाय' उसके हलक़ से निकलेगी, जो सामईन के रौंगटे खड़े कर देगी। इसके बाद वह बाजे में मज़ीद हवा भरेगा। उसकी आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ जाएँगी और एक जिगरदोज़[83] आह उसके सीने की गहराइयों से निकलेगी। और जब वह किसी और सुर पर उँगली रखेगा तो उस पर वज्द की कैफ़ियत तारी हो जाएगी। क़रीब होगा कि सुननेवाले अपने कपड़े फाड़ने और सर के बाल नोचने लगें, वह एकदम बेतहाशा हँसना शुरू कर देगा और फिर गाने लगेगा—आपको यूँ महसूस होगा कि प्यासी ज़मीन पर सावन की झड़ी खुलकर बरस जाने के बाद कोई माशकी अपनी मशक से छिड़काव कर रहा है।

गाते वक़्त वह बहुत बुरे-बुरे मुँह बनाता है। ऐसा लगता है कि उसे क़ब्ज़ है और उसके पेट में शिद्दत का दर्द है, जिसके बायस वह पेचो-ताब खा रहा है, कराह रहा है। उसको गाते देखकर, ख़ास तौर पर जब वह कोई पक्का गाना गा रहा हो, या तो ख़ुद आपको तकलीफ़ होगी, या उसकी हालत पर तरस आएगा और आप ख़ुलूसे-दिल से दुआ करेंगे कि ख़ुदा उसे इस करब से निजात दिलाए।

अज़रा मीर ने बंबे के बहुत से दौलतमंद यहूदियों के साथ मिलकर लाखों के सरमाए से

एक फिल्म कंपनी क़ायम की तो अपनी पहली फिल्म 'सितारा' के म्यूज़िक के लिए रफ़ीक़ ग़ज़नवी को मुंतखिब किया—इज़रा मीर ख़ूबसूरत है। उसके साथी, यहूदी सरमाएदार भी ख़ुशशक्ल और रोबदाबवाले थे—रफ़ीक़ जब उनके साथ खड़ा होता था तो बिलकुल अलग नज़र आता था। उसकी शान ही दूसरी थी।

रफ़ीक़ जब काम शुरू करता है तो बड़े ठाट से शुरू करता है—एक सौ साज़िंदे होंगे, जिनके झुरमुट में खड़ा वह सबको हिदायात दे रहा होगा। पंजाबी मिरासियों के साथ मीरासीपन चल रहा होगा, बात-बात पर फबती और जुगत। जो क्रिश्चियन होंगे, उनसे अंग्रेज़ी में मज़ाक़ हो रहे होंगे। जो यू. पी. के होंगे, उनसे उर्दू में 'शुस्ताकलामी'[84] हो रही होगी।

एक दिन रफ़ीक़ दफ्तर में इज़रा मीर के साथ बैठा फ़िल्म के किसी गाने के मुताल्लिक तबादला ख़यालात कर रहा था। मैं भी पास बैठा था। कोई बात करते-करते वह फ़ौरन रुक गया—दफ्तर से ज़रा दूर म्यूज़िक-रूम था। वहाँ साज़िंदे उसकी एक कंपोज़िशन की रिहर्सल कर रहे थे—रफ़ीक़ ने अपने कान का रुख उस तरफ़ किया, जहाँ से आवाज़ आ रही थी और नाक भौं चढ़ाकर बड़े अज़ीयत[85] भरे लहजे में कहा : "डैम इट एक वायलन आऊट ऑफ ट्यून है।" और उठकर म्यूज़िक-रूम की तरफ़ चला गया।

मुझे मौसीक़ी से कोई शग़फ नहीं, गो मैंने अपने वक्त के तमाम बड़े-बड़े गानेवालों और गानेवालियों को सुना है, लेकिन मैं राग विद्या न समझ सका।

रफ़ीक़ के मुताल्लिक मैं इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि वह सुरीला नहीं है—मौसीकी का इल्म वह कहाँ तक जानता है, इसके बारे में राय देना मेरी तरफ़ से बहुत बड़ी ज़्यादती होगी। अलबत्ता वह लोग जो ख़ुद मौसीकार हैं और जिनका मौसीक़ी के मैदान में काफ़ी नाम है, उनमें से अक्सर का यह कहना है कि रफ़ीक़ बेसुरा है और सुर से एक-एक दो-दो सूत्र हट के गाता है—वल्लाहो-आलम बिल्सवाब[86]।

थोड़े ही दिन हुए, नूरजहाँ से बातें हो रही थीं कि रफ़ीक़ का ज़िक्र छिड़ गया—मैंने नूरजहाँ से रफीक़ के बारे में दूसरों की मुंदरिजा बाला तनक़ीस[87] का ज़िक्र किया तो उसने जीभ दाँतों तले दबाकर और दोनों कानों को अपनी उँगली से छूते हुए कहा : "तौबा, तौबा वह उस्ताद है, अपनी तर्ज़ का वाहिद मालिक।"

लेकिन नूरजहाँ ने यह तस्लीम किया कि अब रफ़ीक़ की आवाज में वह पहली-सी चमक-दमक नहीं रही और यह महज़ उम्र का तक़ाज़ा है। जहाँ तक इल्म का ताल्लुक़ है, नूरजहाँ उसे गुनी कहती है।

उसके एक गुन का मैं भी मौतरिफ़[88] हूँ :

वह बेशर्म है, बेहया है, बेग़ैरत है—लेकिन औबाश[89] नहीं।

उसकी उफ़्ताद[90], आम आदमी की नहीं, एक आर्टिस्ट की उफ़्ताद है।

वह अगर शरीअत[91] का पाबंद नहीं तो मुरव्विजा क़वानीन[92] का पाबंद ज़रूर है।

वह अगर किसी का दोस्त नहीं तो किसी का दुश्मन भी नहीं।

वह अगर सही मानों में किसी औरत का शौहर नहीं तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, आज

तक उसने किसी औरत को मजबूर नहीं किया कि वह सही मानों में उसकी बीवी बने।

शरीफ़ औरते चूँकि उसके मतलब की नही, इसलिए वह उनका एहतिराम करता है। गैर शरीफ औरतें चूँकि उसको अच्छी लगती हैं, इसलिए वह उनकी बेहुर्मती[93] करता है—बैक में रुपया हो तो अच्छे और शानदार कपड़े पहनने की जरूरत महसूस नहीं करता। बैंक बैलेस ख़ाली हो तो अच्छे और शानदार कपडे पहनना जरूरी समझता है।

दिल्ली के एक मुअज़्ज़ज हिंदू ख़ानदान की एक तालीमयाफ्ता नौजवान दोशीजा को रफीक़ से मुहब्बत हो गई। वह देर तक उसको इश्किया खत लिखती रही!

रफीक बंबे मे था कि उस लडकी का एक ऐसा ख़त आया कि वह परेशान हो गया—मुझे बड़ी हैरत हुई कि रफीक़ और परेशानी दो मुतज़ाद[94] चीजें हैं?

उसने मुझे सारी रामकहानी सुनाई और कहा : "मटो, यह लडकी पागल हो गई है मैं एक हरजाई मर्द हूँ। मुझे इस अफ़लातूनी मुहब्बत से क्या वास्ता कहती है, घर से भागकर मेरे पास आ जाएगी आ जाए, ठीक है, लेकिन मैं कब तक उसकी शरीफ और पाकीज़ा मुहब्बत से चिपका रहूँगा ख़ुदा के लिए तमाम शरीफ़ औरतें अपने घर मे रहें, शादी करे, बच्चे जनें और जाएँ जहन्नम में मुझे उनका इश्क़ दरकार नही मेरी सारी उम्र गुज़र गई है खोटे सिक्के चलाते खरे सिक्के मुझसे न चल सकेंगे।"

चुनांचे रफ़ीक़ ने उस हिंदू दोशीज़ा को ऐसा दिलशिकन खत लिखा कि वह अपने इरादे से बाज़ आ गई।

रफीक पर मेरा यह मजमून तिश्ना[95] है, और मुझे इसका शदीद एहसास है—उस पर किसी अखबार, रिसाले या किताब के लिए जब भी कोई मजमून लिखेगा, तिश्ना ही रहेगा, इसलिए कि उसकी हज़ार पहलू शख़्सियत का अहाता चंद सफहात नही कर सकते। ज़िंदगी रही तो मैं अपने तास्सुरात[96] क़लमबद करके एक मुकम्मल किताब की सूरत मे पेश करूँगा।*

आख़िर में एक लतीफ़ा सुन लीजिए : "फिल्म 'चल चल रे नौजवान' के ज़माने में रफ़ीक़ ने प्रोड्यूसर एस. मुकर्जी, डायरेक्टर ज्ञान मुकर्जी, अशोक कुमार, पी.एल. सतोषी, शाहिद लतीफ़ और मेरी दावत की—हम सब रफ़ीक़ के मकान वाके शिवाजी पार्क पहुँचे। रफ़ीक़ हल्के-हल्के सुरूर में हारमोनियम सामने रखे फर्श पर बैठा था। पास ही शैदाँ थी और उसका भाई।

हम पहुँचे तो उसने हमारा इस्तिक़बाल किया—मेरा गालियो से और बाक़ियों का सलामो से।

शराब के दो-तीन दौर चले—दूसरों को उसने स्कॉच दी और मुझे अपनी हिंदुस्तानी सोलन—वह हस्बे-आदत बात-बात पर मुझे गालियाँ देता रहा—मैंने कोई जवाब न दिया।

खाना लगाया गया—हस्बे-मामूल उसने मुर्ग़े के गोश्त के अच्छे-अच्छे टुकडे

* अफसोस, ज़िंदगी न रही—यह 'चंद सफहात' लिखने के बाद एक बरस के अंदर मंटो मर गया और रफीक गजनवी की 'हजार पहलू शख़्सियत' वक़्त की गर्द तले दब गई। —संपादक

निकालकर अपनी प्लेट में रख लिए।

खाना खाने के बाद एक-एक करके सब चले गए—मैं बैठा रहा।

शैदाँ अंदर जा के सो गई—रफ़ीक़ ज़्यादा पीने का आदी नहीं। वह पहले ही से बंबई की ज़बान में 'चकार' था। मुरग़न[97] खानों मे उसकी आँखें मुँदने लगीं।

मैं चुपके से उठा, दूसरे कमरे में जाकर बड़े इत्मीनान से अलमारी खोली और स्कॉच की बोतल उठा लाया—आधी से कुछ कम थी। मैं आराम से पीता रहा और साथ-ही-साथ उसके साले को भी देता रहा—कभी-कभी मैं रफ़ीक़ को उकसा देता और वह गुनूदगी[98] के आलम में चंद लुकनतभरी गालियाँ मुँह से उगल देता।

अब जो मैंने मुग़लज़ात बकना शुरू कीं तो रफ़ीक़ बिलबिला उठा—मेरी गालियों की फ़ेहरिस्त कोई इतनी लंबी-चौड़ी नहीं। दो-तीन बार मुँह भरा तो गालियाँ ख़त्म हो गईं। मैंने यह उस्तादी की कि एक गाली आधी करता और दूसरी आधी गाली के साथ जोड़कर लुढ़का देता। इस तरकीब से भी ज़्यादा देर तक काम न चला—लेकिन मैंने सोचा, कमबख़्त को होश कहाँ है; जो अल्लमगल्लम मुँह में आए, निकाल बाहर फेंको—चुनांचे मैंने यही किया।

रफीक़ नशे में चूर पेचो-ताब खाता रहा—आख़िर उसने मुर्दा आवाज़ में कहा : "जाने दो मंटो, मेरी जान मैं थक गया हूँ मुझमें अब गालियाँ देने की सकत नहीं है "

मैं यही तो चाहता था कि उसमें सकत न हो—वर्ना मैं और उसके मुक़ाबले की जुरंत करता!

मैंने रफ़ीक़ ग़ज़नवी पर यह मज़मून लिखा है, जिसे पढ़कर वह यक़ीनन अपने मख़्सूस अंदाज में मुझे बड़ी नस्तालीक़[99] गालियाँ देगा—लेकिन मैं लाहौर में हूँ और वह कराची में—फ़िलहाल मैं महफ़ूज़ हूँ—वह लाहौर आएगा तो मैं उसकी मुग़लज़ात सुन लूँगा। फिर उसकी दावत करूँगा और जिमख़ाना व्हिस्की में स्प्रिट घोलकर ख़ुद पी लूँगा।

1. तुरत; 2 समानता; 3. मूर्तिभंजक; 4. पूर्वज; 5. लगाव, 6 याददाश्त, 7. परिचित, 8. मिलती-जुलती; 9. लालसा; 10. छायादार; 11 पलक झपकते ही; 12. विनोदी; 13. पारखियो, विशेषज्ञों; 14. दंत चिकित्सक; 15. उद्दंडतापूर्ण; 16. मास पिंड; 17. चिकित्सा, 18. बात से निकली बात, 19. उपेक्षा, 20. परिपक्वता; 21. अभिव्यक्ति; 22. सम्मिश्रण, 23. नैन-नक्श; 24. अच्छे लगनेवाले; 25. रास्ता; 26. सम्मानित; 27. उर्दू में एक छंद, 28. महमूद गज़नवी के गुलाम अयाज़ की ज़ुल्फें, 29. वाक्, 30. नाराज़; 31. विजयपूर्ण; 32. लुटेरों की तरह; 33. बगैर किसी शर्त के; 34. उल्लेखनीय; 35. औरस, वीर्य; 36. साम्यवादी, 37. रची गई, 38. दृश्य; 39. अनादिकाल; 40. चाल-ढाल; 41. बेपरवाही; 42. बातचीत करने का तरीका; 43. बगैर बोरिया-बिस्तर;

44. आगे-पीछे झूलनेवाला दरवाजा; 45. स्नान; 46. विख्यात नाम, 47. उस्तादी से भरी; 48. शौक़; 49. लोफ़र; 50. प्रमुख; 51. मनपसद; 52. दूसरी बात यह कि; 53 स्वाभिमानी; 54. आपत्तिकर्त्ता; 55. प्रमुख; 56. अवकाश के क्षणों; 57. गुप्त रूप से; 58. बूढ़ा; 59. चकित; 60. साढ़ू (दो बहनों के पतियों के बीच का रिश्ता); 61. वैवाहिक; 62. बुराई; 63. गुदा मैथुन; 64. परंपरा-विरुद्ध; 65. क़यामत के दिन; 66. जनगणना करनेवाला; 67. समय से पहले; 68. नसीहत उत्पन्न करनेवाली; 69. असमंजस; 70. स्थायी; 71. ऊपरी कमरा; 72. क़ैद; 73. ध्यान; 74. कमज़ोर हाथों; 75. विस्तार; 76. नवयुवती; 77. लोकप्रिय; 78. नमाज पढ़ने की चटाई; 79. भविष्यवाणी; 80. गायिका; 81. हावभाव; 82. सिर से पैर तक; 83. हृदय को छूनेवाली; 84. सभ्य वार्तालाप; 85. दर्दभरे; 86. पुण्यार्थ; 87. अपमान; 88. समर्थक; 89. लोफ़र; 90. चरित्रहीनता; 91. इस्लामी क़ानूनों; 92. प्रचलित रिवाजों; 93. बेइज़्ज़ती; 94. विलोम; 95. प्यासा; 96. विचारों; 97. तर-बतर; 98. ऊँघा, तंद्रा; 99. सभ्य।

नूरजहाँ

मैंने शायद पहली मर्तबा नूरजहाँ को फ़िल्म 'ख़ानदान' में देखा था—उस ज़माने में वह बेबी थी, हालाँकि पर्दे पर वह हरगिज़-हरगिज़ इस किस्म की चीज मालूम नहीं होती थी। उसके जिस्म में वह तमाम ख़ुतूत, वह तमाम क़ौसें मौजूद थीं, जो एक जवान लड़की के जिस्म में हो सकती हैं और जिनकी वह बवक़्ते-जरूरत नुमाइश कर सकती है।

नूरजहाँ उन दिनों फ़िल्मबीन लोगों के लिए फितना थी, लेकिन मुझे उसकी शक्लो-सूरत में ऐसी कोई चीज़ नज़र न आई। एक फ़क़त उसकी आवाज़ क़यामतख़ेज़ थी—सहगल के बाद मैं नूरजहाँ के गले से मुतास्सिर हुआ। इतनी साफ़-शफ़्फ़ाफ़ आवाज, मुरकियाँ[1] इतनी वाज़ेह, खरज[2] इतनी हमवार, पंचम इतना नुकीला—मैंने सोचा, अगर यह लड़की चाहे तो घंटों एक सुर पर खड़ी रह सकती है, उसी तरह जिस तरह बाज़ीगर तने हुए रस्से पर बग़ैर किसी लग़ज़िश[3] के खड़े रहते हैं।

नूरजहाँ की आवाज़ में अब वह लोच, वह रस, वह बचपना, वह मासूमियत नहीं रही, जो उसके गले की इम्तियाज़ी[4] ख़ुसूसियत थी, लेकिन फिर भी नूरजहाँ, नूरजहाँ है, गो लता मंगेशकर की आवाज़ का जादू आजकल हर जगह चल रहा है—अगर कभी नूरजहाँ की आवाज़ फ़ज़ा में बुलंद हो तो कान उससे बेएतिनाई नहीं बरत सकते।

नूरजहाँ के मुताल्लिक़ बहुत कम आदमी जानते हैं कि वह राग विद्या उतनी ही जानती है, जितनी कि कोई उस्ताद—वह ठुमरी गाती है, ख़याल गाती है, ध्रुपद गाती है और ऐसा गाती है कि गाने का हक़ अदा करती है। मौसीक़ी की तालीम तो उसने यक़ीनन हासिल की थी कि वह ऐसे घराने में पैदा हुई, जहाँ का माहौल ही ऐसा था—लेकिन एक चीज़ ख़ुदादाद भी होती है। मौसीक़ी के इल्म से किसी का सीना मामूर[5] हो, मगर गले में रस न हो तो आप समझ सकते हैं कि ख़ाली-ख़ूली इल्म सुननेवालों पर क्या असर कर सकेगा—नूरजहाँ के पास इल्म भी था और वह ख़ुदादाद चीज़ भी, जिसे गला कहते हैं। यह दोनों चीज़ें मिल जाएँ तो क़यामत का बरपा होना लाज़िमी है।

मैं यहाँ आपको एक दिलचस्प बात बता दूँ कि वह लोग, जिन पर ख़ुदा की मेहरबानी होती है, वह उससे नाजाइज़ फ़ायदा भी उठाते हैं—मेरा मतलब अभी आप पर वाज़ेह हो जाएगा।

चाहिए तो यह कि जो चीज़ ख़ुदा ने अता की हो, उसकी हिफ़ाजत की जाए ताकि वह

मसख़[6] न हो, लेकिन मैंने अक्सर देखा है कि लोग उसकी परवाह नहीं करते; बल्कि शऊरी या ग़ैर शऊरी तौर पर पूरी कोशिश करते हैं कि वह तबाहो-बर्बाद हो जाए।

शराब गले के लिए सख़्त ग़ैर मुफ़ीद[7] है, लेकिन सहगल मरहूम सारी उम्र बलानोशी करते रहे*—खट्टी और तेल की चीज़ें गले के लिए तबाहकुन[8] हैं और यह कौन नहीं जानता, मगर नूरजहाँ पाव-पाव-भर तेल का अचार खा जाती है और लुत्फ़ की बात यह है कि जब उसे फ़िल्म के लिए गाना होता है तो वह खास एहतिमाम से पाव-भर अचार खाएगी, उसके बाद बर्फ़ का पानी पिएगी, फिर माइक्रोफ़ोन के पास जाएगी—उसका कहना है कि इस तरह आवाज़ निखर जाती है।

यूँ आवाज़ क्योंकर निखरती है और गला कैसे साफ़ होता है, इसके मुताल्लिक नूरजहाँ ही बेहतर जानती है—यूँ मैंने अशोक कुमार को भी बर्फ़ इस्तेमाल करते देखा है। जब उसे गाने की सदाबंदी कराना होती थी, वह सारा वक़्त बर्फ के टुकडे चबाता रहता था।

जब तक रिकार्ड ज़िंदा हैं, सहगल मरहूम की आवाज़ कभी नहीं मर सकती—इसी तरह नूरजहाँ की आवाज़ भी एक अर्से तक ज़िंदा रहेगी और आनेवाली नस्लों के कानों में अपना शहद टपकाती रहेगी।

मैंने नूरजहाँ को सिर्फ़ पर्दे पर देखा था। मैं उसकी शक्लो-सूरत और अदाकारी का नहीं, उसकी आवाज़ का शैदाई था। वह कमउम्र थी, इसलिए मुझे हैरत थी कि वह क्योंकर इतने दिलफ़रेब तरीक़े पर गा सकती है!

उन दिनों दो आदमियों का दौरे-दौरा था, मरहूम सहगल का और नूरजहाँ का—यूँ तो उन दिनों ख़ुरशीद छाई हुई थी और शमशाद के भी चर्चे थे, मगर फिर नूरजहाँ की आवाज में सबकी आवाज़ें दब गईं।

सुरैया बाद की पैदावार है। मुझे अफ़सोस है कि सहगल और सुरैया इकट्ठे फ़िल्म में पेश हुए, लेकिन सहगल और नूरजहाँ दोनों अलग-अलग रहे। मालूम नहीं, प्रोड्यूसर के दिमाग़ में क्यों उनको यकजा करने का ख़याल पैदा न हुआ, या किसी और वजह से प्रोड्यूसर उनको एक फिल्म की कास्ट में इकट्ठा न कर सके। बहरहाल मुझे इसका अफ़सोस है और हमेशा रहेगा—अगर वह दोनों आमने-सामने हो जाते तो मौसीक़ी की दुनिया में निहायत ख़ुशगवार इन्क़िलाब पैदा हो जाता।

नूरजहाँ से मेरी पहली मुलाक़ात कैसे हुई, कब हुई, कहाँ हुई, यह एक लंबी दास्तान है।

मैं कई बरस बंबई की फिल्मी दुनिया में रहकर चंद वुजूह की बिना पर दिलबरदाश्ता[9] होकर दिल्ली चला गया और वहाँ मैंने आल इंडिया रेडियो में मुलाज़मत कर ली, मगर फिर वहाँ से भी दिल उचाट हो गया—बंबई से 'मुसव्विर' के एडिटर नज़ीर लुधियानवी और

---

* "शराब जिस्म के लिए सख़्त गैरमुफ़ीद है, लेकिन मंटो मरहूम सारी उम्र बलानोशी करते रहे।" हमने सहगल के लिए मंटो का जुमला ख़ुद मंटो के लिए इस्तेमाल किया है—ज़रा इस इत्तिफ़ाक पर ग़ौर कीजिए: दो फ़नकार, सहगल और मंटो—दोनों को शराब ने मार डाला—मरते वक़्त दोनों की उम्र तक़रीबन एक थी—दोनों पंजाब में मरे; एक सालिम हिंदुस्तान के पंजाब में, दूसरा तक़सीमशुदा हिंदुस्तान के पाकिस्तानी पंजाब में—दोनों अठारह जनवरी को मरे! एक 1947 में, दूसरा 1955 में। —संपादक

मुतादिदद[10] ख़ुतूत आए : "तुम वापस चले आओ 'ख़ानदान' के डायरेक्टर शौकत हुसैन रिज़वी यहाँ आए हुए हैं और मेरे पास ठहरे हुए हैं उनकी ख्वाहिश है कि तुम उनके लिए एक कहानी लिखो "

मैं देहली छोड़कर बंबई लौट गया—यह उस जमाने की बात है, जब 'क्रिप्स मिशन' फ़ेल हो चुका था।

मैं ग़ालिबन 7 अगस्त, 1940 को बंबई* पहुँचा और शौकत से मेरी पहली मुलाकात 17, एडल्फी चेंबर्स, क्लेयर रोड पर हुई जो दफ़्तर भी था और रिहायशी मकान भी।

शौकत बड़ा बाँका-छैला नौजवान था। गोरा रंग, गालों पर सुर्ख़ी, जॉन गिलबर्ट स्टाइल की मूँछें, घुँघराले बाल, लंबा कद, बहुत ख़ुशपोश, बेदाग पतलून, शिकनों से बेनियाज कोट, टाई की गिरह बहुत उम्दा; चाल में लटक—हम पहली मुलाक़ात ही में घुल-मिल गए। मैंने उसको बहुत मुख़्लिस[11] इंसान पाया।

मैं देहली से अपने साथ अपने पसंदीदा सिगरेटों, यानी 'करेवन ए' का काफी स्टाक लेकर आया था। जंग छिड़ी हुई थी, इसलिए बंबई में यह सिगरेट करीब-करीब नायाब थे—शौकत ने मेरे पास बीस-पच्चीस डिब्बे और पचास के करीब डिब्बियाँ देखीं तो बहुत ख़ुश हुआ।

हम दोनों का क़याम वही 17, एडल्फी चेंबर्स में था। दो कमरे थे जहाज़ी साइज़ के। एक में दफ़्तर था, दूसरे में रिहाइशी मामला, मगर हम रात को दफ़्तर में सोते थे—मिर्ज़ा मुशर्रफ वग़ैरह आ जाते थे—वह हमारी चारपाइयाँ बिछा देते थे।

जब तक शौकत वहाँ रहा, बड़े हंगामे रहे—'करेवन ए' के सिगरेट और नासिक की हिरन मार्का व्हिस्की, जो बड़ी वाहियात थी, लेकिन इसके सिवा और कोई चारा ही नहीं था—शौकत 'ख़ानदान' के बाद गो बहुत बड़ा डायरेक्टर बन गया था, मगर लाहौर से बंबई पहुँचने और वहाँ कुछ देर रहने के दौरान में वह सबकुछ ख़र्च कर चुका था, जो उसने लाहौर में फ़िल्म की हंगामी और इख़राजात[12] से पुर जिंदगी गुज़ारने के बाद पस अंदाज़ किया था। और मेरे पास तो सिर्फ़ चंद सौ थे, जो हिरन मार्का व्हिस्की में गर्क़ हो गए।

बहरहाल किसी-न-किसी हीले गुज़र होता रहा।

वह वक्त बहुत नाज़ुक था। मैं सात अगस्त को बंबई पहुँचा और नौ अगस्त की सुबह को जब मैंने कहीं टेलीफ़ोन करने की कोशिश की तो लाइन 'डैड' यानी मुर्दा थी। बाद में पता चला कि काँग्रेसी लीडरों की गिरफ्तारी चूँकि अमल में आ रही थी, इसलिए एहतियातन टेलीफ़ोन का सारा सिलसिला मुन्क़ता[13] कर दिया गया था—गाँधी जी, जवाहर लाल नेहरू और अबुलकलाम आजाद वग़ैरह सब गिरफ़्तार कर लिए गए और किसी नामालूम जगह मुंतक़िल कर दिए गए। शहर की फ़ज़ा बिलकुल ऐसी थी, जैसे भरी बंदूक। बाहर निकलने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। कई दिन हम हिरन मार्का शराब

* सही अगस्त 1940 में नहीं, अगस्त 1942 में देहली से बंबई पहुँचा था, तकरीबन उन्नीस महीने देहली में रहने के बाद। —संपादक

पीकर अपना वक्त काटते रहे। इस दौरान मे फ़िल्म इंडस्ट्री में भी इन्क़िलाब बरपा हो चुका था। हालात चूँकि ग़ैरयक़ीनी थे, इसलिए किसी नई फिल्म की तैयारी कौन करता। चुनांचे जिन लोगों से शौकत की बातचीत चल रही थी, एक मुतऐयिन[14] अर्से के लिए खटाई में पड़ गई और हम नज़ीर लुधियानवी के हाँ के पके हुए बदमज़ा खाने खाकर लंबी तानकर सोते रहे। फिर भी कभी-कभार ज़िंदगी के आसार पैदा हो जाते और हम कहानियों के मुताल्लिक़ सोचना शुरू कर देते।

इस दौरान में मुझे मालूम हुआ कि नूरजहाँ भी बंबई में है—लेकिन ठहरिए, मैं आपको बताता हूँ कि मुझे कैसे मालूम हुआ—मेरा हाफिज़ा जवाब दे गया था। असल में मुझे आठ अगस्त ही को मालूम हो गया था, जबकि मेरी मुलाक़ात शौकत से नहीं हुई थी।

मुझे माहिम जाकर अपने चंद रिश्तेदारों से मिलना था। इसके अलावा एक रेडियो आर्टिस्ट समीना* का पता लेना था—इस लड़की को मैंने आल इंडिया रेडियो, देहली से बंबई भेजा था कि उसको फ़िल्म में काम करने का शौक़ था। मैंने उसको पृथ्वीराज कपूर और ब्रिजमोहन के नाम तआरुफ़ी खत लिखकर दे दिए थे। अब मैं यह मालूम करना चाहता था कि आया वह फ़िल्मी दुनिया मे दाख़िल हो चुकी है या नहीं। लड़की ज़हीन थी; किरदारनिगारी[15] उसकी बहुत अच्छी थी; मुकालमे[16] बहुत रवानी के साथ अदा करती थी; शक्लो-सूरत की भी खासी थी; इसलिए मुझे यक़ीन था कि वह कामयाब हो गई होगी।

मुझे पता चला कि वह शिवाजी पार्क में कहीं रहती है, मगर शिवाजी पार्क इतनी बडी जगह है कि समीना खानून का पता लगाना बहुत मुश्किल था। चुनांचे मैं निजामी साहब के हाँ चला गया, जो पास ही कैडिल रोड पर रहते थे। मुझे उनका एड्रेस मालूम था, इसलिए कि वह अक्सर मुझे खत लिखते रहते थे—यह वही निज़ामी हैं, जिन्होंने मुम्ताज़ शांति को तर्बियत[17] दी, जिनके पास वली साहब बरसों पड़े रहे और आख़िर में मुम्ताज़ शांति को निज़ामी साहब के बनाए हुए उसूलों ही के मातहत ले उडे; यह वही निज़ामी साहब हैं, जिनकी बीवी गीता निजामी के नाम से मशहूर हुई और जिसने निज़ामी साहब के लात मारकर पै-दर-पै कई शादियाँ कीं, अदालतों में जिसके कई मुक़दमे चले और जो अब एक नई खूबसूरत लड़की के साथ डास पार्टी बनाकर शहर-ब-शहर पाकिस्तान का प्रचार कर रही है।

निज़ामी साहब से मेरी मुलाक़ातें सिर्फ खुतूत तक महदूद थीं और वह भी जो बड़े रस्मी थे—मैंने उनको पहली मर्तबा उनके फ्लैट ही पर देखा। मैं अगर उस मुलाकात को बयान

15. ''बाद में कृश्नचंदर से जिसके मरासिम रहे।''—मंटो। समीना खानून मंटो के देहली में कयाम के दिनों की बात है, कृश्न चंदर अक्सर अपने और समीना खानून के इश्क का जिक्र किया करता था—एक शाम मंटो चिढ़कर अपनी बीवी की ग़ैर मौजूदगी में समीना खानून को अपने घर ले गया। वहाँ उसने समीना खानून को कपड़े उतार देने को कहा। जब समीना ने कपड़े उतार दिए, तो मंटो ने उससे कहा कि वह कपड़े पहन ले और कृश्न चंदर से जाकर कह दे कि वह अपने इश्क का जिक्र न किया करे—मंटो की इस 'हरकत' के बारे में देवेंद्र सत्यार्थी ने कहा है और नसीर अनवर ने लिखा है। —संपादक

करूँ तो मेरा ख़याल है, दस-पंद्रह सफ़हे उसकी नज़र हो जाएँगे। इसलिए मैं इख़्तिसार से काम लूँगा।

निज़ामी साहब, जो कि धोती और बनियान पहने हुए थे, मुझे बड़े तपाक से मिले—उन्होंने मेरे आने का मक़सद पूछा, जो मैंने अर्ज़ कर दिया।

आपने कहा : "समीना ख़ातून अभी आपके क़दमों में हाज़िर हो जाएगी।"

उनका एक मरियल क़िस्म का हिंदू मैनेजर था। उसको आपने हुक्म दिया : "मंटो साहब के लिए फ़ौरन समीना ख़ातून को हाजिर करो" यह हुक्म देने के बाद वह मेरी तरफ़ मुतवज्जेह हुए और उन्होंने कहा कि वह मेरे लिए हर क़िस्म की ख़िद्मत के लिए हाज़िर हैं। चुनांचे उन्होंने फ़ौरन ज़बानी तौर पर मेरे लिए एक उम्दा फ़्लैट, बेहतरीन फ़र्नीचर और एक अदद कार का बंदोबस्त कर दिया।

ज़ाहिर है कि मैं बहुत ख़ुश हुआ। मैंने मुनासिब व मोज़ूं अल्फ़ाज़ में उनका शुक्रिया अदा किया, जिसकी उनको बिलकुल ज़रूरत नहीं थी, इसलिए कि वह मेरे अफ़सानों के गरवीदा[18] थे।

क़ारईन से मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि निज़ामी साहब ज़बानी जमा ख़र्च के बादशाह हैं।

निज़ामी कुछ भी हो, लोग उसे भड़वा कहते हैं, कंजर कहते हैं—कुछ भी हो, मुझे उसका हुदूदे-अर्बा[19] मालूम नहीं। लेकिन मेरा मुताला यह कहता है कि वह एक मुहिम-जू[20] इंसान है। वह अपने फ़न में पूरी-पूरी महारत रखता है।

मैंने उस रोज, यानी पहली मुलाक़ात के दिन देखा कि मुम्ताज़ शांति पर उसका इतना रोबदाब था जो किसी बाप का भी नहीं हो सकता, और वली साहब उसके सामने यूँ झुकते थे जैसे कोई साइस।

वह उस घर का बादशाह था, जिसको सब ख़िराज अदा करते थे—उसका काम सिर्फ़ प्रोड्यूसरों को खाने और शराब की दावतें देना था, ब्लैक मार्केट से पैट्रोल ख़रीदना था और मुम्ताज़ शांति को कामयाब होने के गुर बताना था : 'देखो अगर तुम यूँ मुसकराओगी तो फ़लाँ प्रोड्यूसर से तुम्हें कांट्रेक्ट ले देने का ज़िम्मा मैं लेता हूँ अगर तुम फ़लाँ सेठ से यूँ हाथ मिलाओगी तो इसका मतलब है कि दस हज़ार रुपए इसी रात हमारी जेब में होंगे'

मैं वहाँ बैठा था और हैरान हो रहा था कि मैं किस दुनिया में आ निकला हूँ—वहाँ हर चीज़ मस्नूई[21] थी—निज़ामी साहब के हुक्म पर वली साहब उनके स्लीपर उठा के लाए और उनके क़दमों में रख दिए। इसमें बनावट थी; ख़ुदा की क़सम, यकसर बनावट थी।

और मुम्ताज़ शांति दूसरे कमरे में मामूली लिबास में, निहायत मामूली लिबास में खिड़की के परदों के लिए कीलें ठोंक रही थी और निज़ामी मुझसे कह रहा था : 'मंटो साहब, यह बच्ची निहायत सादा है फ़िल्म लाइन में रहकर भी इसे आसपास की दुनिया का कुछ इल्म नहीं मर्दों की तरफ़ तो यह निगाह उठाकर भी नही देखती और यह सब मेरी तर्बियत का नतीजा है।"

मेरा दिल कह रहा था कि यह सब फ़्रॉड है, यह सब जाल है—लेकिन मुझे निज़ामी

साहब की उनके मुँह के सामने तारीफ़ करनी पड़ी। लेकिन बात नूरजहाँ की हो रही थी।

मुम्ताज़ शांति को सीधे रास्ते पर लगाने और उसको सालेह तर्बियत देने के मुताल्लिक़ बातें करते-करते निज़ामी साहब ने नूरजहाँ का ज़िक्र किया और मुझे बताया कि इन दिनों वह भी उनके ज़ेरे-साया है और मुम्ताज़ शांति ही की तरह तर्बियत हासिल कर रही है—आपने कहा : "मंटो साहब, अगर यह लड़की ज़्यादा देर लाहौर में रहती तो इसका बेड़ा गर्क़ हो जाता... मैंने उसे यहाँ अपने पास बुला लिया है... और समझाया है : 'देखो बेटा, सिर्फ़ फ़िल्म स्टार बनने से कुछ नहीं होगा... कोई सहारा भी होना चाहिए... अव्वल तो शुरू में इश्क़ लड़ाने की कोई ज़रूरत नहीं... बस इधर-उधर दोनों तरफ़ से ख़ूब कमाओ। जब बैंक में तुम्हारा काफ़ी रुपया जमा हो जाए तो किसी ऐसे आदमी से शादी कर लो जो सारी उम्र तुम्हारा ग़ुलाम बनके रहे...' आपका क्या ख़याल है मंटो साहब... आप तो बड़े दाना हैं।"

मैं क्या जवाब देता कि मेरी सारी दानाई तो निज़ामी साहब के फ़्लैट में दाख़िल होते ही नीचे फ़ुटपाथ पर चली गई थी—मैंने बस कह दिया : "आप जो कर रहे हैं, मसलहत के ख़िलाफ़ क्योंकर हो सकता है।"

वह बहुत ख़ुश हुए। चुनांचे उन्होंने आवाज़ देकर नूरजहाँ को बुलाया। मगर उसी वक़्त टेलीफ़ोन की घंटी बजी और चंद लम्हात के बाद नूरजहाँ की आवाज़ किसी कमरे से आई : "अभी आती हूँ... कमाल साहब का फ़ोन आया है।"

निज़ामी साहब ज़रा मुसकराए—वह कमाल, सैयद कमाल हैदर अमरोही थे, 'पुकार' के शोहरतयाफ़्ता।

निज़ामी साहब मुझसे मुख़ातिब हुए : "मैं अर्ज़ कर रहा था कि सहारा होना चाहिए... नूरजहाँ के लिए कमाल अमरोही से बेहतर सहारा और कौन हो सकता है... लेकिन मैं नूरजहाँ से साफ़-साफ़ कह चुका हूँ कि शादी-वादी का मामला ग़लत है... बस वह अपना उल्लू सीधा किए जाए... कमाल कमा सकता है। उसकी आधी कमाई अगर नूरजहाँ को मिल जाया करे तो क्या हर्ज है... असल में मंटो साहब, इन एक्ट्रेसों को रुपया कमाने के गुर आने चाहिएँ।"

मैंने मुसकराकर कहा : "आप गुरु जो मौजूद हैं।"

निज़ामी ख़ुश हो गया और उसने मुझे फ़ौरन एक फ़र्स्ट क्लास लैमन स्कवैश पिलाया।

तो वहाँ, निज़ामी साहब के फ़्लैट में नूरजहाँ की साइंटिफ़िक तरीक़े पर तर्बियत हो रही थी—उसको तमाम चिलत्तर निज़ामी साहब की निगरानी में सिखाए जा रहे थे।

मेरी नूरजहाँ से सरसरी मुलाक़ात हुई—और मेरा रद्दे-अमल यह था कि यह लड़की, जो अपनी जवानी की मंज़िलें बड़ी सुरअत[22] से तय कर रही है और जिसके होंठों पर मुसकराहट और हँसी तिजारती रंग इख़्तियार कर रही है और जो मोटापे की तरफ़ माइल है, अपने उस्ताद की बेहतरीन शागिर्द साबित होगी।

लेकिन क़ुदरत को कुछ और ही मंज़ूर था।

निज़ामी की दरअसल यह ख़्वाहिश थी कि जिस तरह मुम्ताज़ शांति उसके क़ब्ज़े में है

और उसका रोबदाब तस्लीम करती है, उसी तरह वह बूढ़ी नायिका की तरह नूरजहाँ को भी अपनी नौचीं[23] बना ले—मुम्ताज़ शांति की सारी आमदनी निज़ामी की तहवील में रहती थी। ज़ाहिर है कि मुम्ताज़ शांति के मुक़ाबले में नूरजहाँ की क़द्रो-क़ीमत बहुत ज़्यादा थी और निज़ामी का होशियार दिमाग़ अच्छी तरह जानता था कि नूरजहाँ का मुस्तिक़बिल[24] ख़ैराकुन है। चुनांचे वह उसको अपने जाल में फँसाने की तैयारियाँ मुकम्मल कर रहा था कि सैयद शौकत हुसैन रिज़वी बंबई पहुँच गया।

सैयद शौकत हुसैन रिज़वी—वह शौकत, वह रिज़वी जिससे नूरजहाँ का इश्क़ लाहौर के पंचौली स्टूडियोज़ में लड़ चुका था; मुक़दमेबाज़ी भी हो चुकी थी; और बचने की ख़ातिर नूरजहाँ ने अदालत में यह बयान दिया था कि शौकत साहब से उसका कोई नाजाइज़ ताल्लुक़ नहीं है और वह तो उन्हें अपना भाई समझती है।

नूरजहाँ का वह अदालती भाई अब बंबई में मौजूद था, वमी व अगीज़ बंबई में जो हिंदुस्तान का हालीवुड है।

जब मैंने शौकत को बताया कि मैं नूरजहाँ से मिला हूँ, उस वक्त मुझे उनके रोमान के मुताल्लिक़ कुछ मालूम नहीं था और न मैं यह जानता था कि दोनों के ताल्लुक़ात कशीदा[25] हैं—मैंने सिर्फ़ बर् सबीले तज़्किरा[26] शौकत को बताया कि नूरजहाँ से मेरी मुलाक़ात निज़ामी साहब के घर में हुई है।

हिरन मार्का शराब का गिलास ज़ोर से तिपाई पर रखकर उसने बड़ी तुंदी से कहा : "लानत भेजो उस पर।"

मैंने अज़ राहे-मज़ाक कहा : "मैं हज़ार बार इसके लिए तैयार हूँ, मगर भई, वह तो तुम्हारी 'ख़ानदान' की हीरोइन रह चुकी है।"

शौकत ज़हीन है—वह फ़ौरन समझ गया कि मैं लफ़्ज़ 'ख़ानदान' पर खेला हूँ और मैंने उस लफ़्ज़ को ज़ूमानी[27] इस्तेमाल किया है—वह मुसकराया : "मंटो, तुम बहुत शरीर हो... बात यह है कि मैं उसके मुताल्लिक़ कोई बात नहीं सुनना चाहता... मुझे मालूम है कि वह बंबई में है... साली मेरे पीछे-पीछे आई है, लेकिन मुझे अब उससे कोई सरोकार नहीं।"

मैंने कहा : "मैं समझ रहा था कि तुम उसके पीछे-पीछे यहाँ आए हो।"

मैंने जब शौकत को बताया कि नूरजहाँ को कमाल अमरोही का टेलीफ़ोन आया था और यह कि निज़ामी उन दोनों को क़रीब लाना चाहता है तो मैंने महसूस किया कि शौकत बज़ाहिर बेएतिनाई और बेपरवाई बरत रहा है मगर अंदरूनी तौर पर सख़्त बेचैन हो गया है।

उसने फ़ौरन ही हिरन मार्का व्हिस्की का एक और अद्धा मिर्ज़ा मुशर्रफ़ से मँगवाया और हम देर तक पीते रहे।

उन दिनों लंबे-लंबे वक़्फ़ों के बाद नूरजहाँ का ज़िक्र छिड़ जाता—मैंने शौकत की गुफ़्तुगू से यह नतीजा अख़्ज़[28] किया कि वह अभी तक नूरजहाँ की मुहब्बत में गिरफ़्तार है; भाईवाला मामला तो महज़ हिकमते-अमली[29] था; उसको वह रातें याद आती थीं, जब

नग़मों की नन्ही-मुन्नी शहज़ादी उसके आग़ोश में होती थी और जब ग़ालिबन दोनों एक-दूसरे से जुदा न होने की क़समें खाया करते थे।

मैंने एक दिन शौकत से पूछ ही लिया : "देखो यार   बताओ, सच-सच बताओ, क्या तुम्हें नूरजहाँ से मुहब्बत नहीं है?"

शौकत ने ज़ोर से अपने सिगरेट की राख झाड़ी और किसी क़दर खिसियानेपन से कहा : 'है यार, है   मगर लानत भेजो उस पर   मैं उसको आहिस्ता-आहिस्ता भूल जाऊँगा।"

लेकिन क़ुदरत ज़ेरे-लब मुसकरा रही थी। वह जो फ़ैसला कर चुकी थी, अटल था।

शौकत का कांट्रेक्ट वी.एम. व्यास से हुआ, जो इससे पहले एक फ़िल्म के लिए नूरजहाँ से मुआहदा[30] कर चुका था।

अब लगे हाथों सेठ वी.एम. व्यास के मुताल्लिक़ भी कुछ सुन लीजिए : एक काइयाँ आदमी है। शुरू-शुरू में तबलची था   फिर कैमरा क़ुली हुआ। आहिस्ता-आहिस्ता कैमरामैन बन गया। तरक्की के और जीने तय किए तो डायरेक्शन का मौक़ा मिल गया। यहाँ से छलाँग लगाई तो प्रोड्यूसर बन गया। अब डायरेक्टर और प्रोड्यूसर है और लाखो में खेल रहा है—बहुत मुनहनी किस्म का इंसान है, मुझसे भी कहीं पतला। इतना पतला कि उसे कमीज के नीचे एक मोटा ऊनी बनियान पहनना पड़ता है कि उसकी पसलियाँ लोगों को नज़र न आएँ। मगर बला का फुर्तीला है और बड़ा मेहनती है। उसके मुक़ाबले में पहलवान थक जाएँगे, मगर वह डटा रहेगा, जैसे मशक़्क़त उस पर असरअंदाज़ हो ही नहीं सकती—उसकी एक और ख़ूबी है कि वह अपने ज़ाती सरमाए से फ़िल्म नहीं बनाता। वह एक फ़िल्म तैयार करके और उसको ठिकाने लगाकर अपनी दूसरी फ़िल्म का ऐलान कर देता है। उस वक़्त के जितने ऊँचे सितारे होते हैं, वह अपनी कास्ट में जमा कर लेता है।

बस कोई-न-कोई फ़नांसर उसके दाम में आ जाता है और वह काली माता का नाम लेकर काम शुरू कर देता है।

नूरजहाँ बंबई में आई तो वी.एम. व्यास को पता चल गया। चुनांचे उसने फ़ौरन नूरजहाँ से कांट्रेक्ट कर लिया, इसलिए कि वह जानता था, 'ख़ानदान' और दूसरी फ़िल्मों की क़ाबिले-रश्क कामयाबी के बाद उसका नाम ही किसी फ़नांसर को फाँसने के लिए काफ़ी होगा—और जब उसको मालूम हुआ कि 'ख़ानदान' का डायरेक्टर भी बंबई में मौजूद है तो उसकी बाछें खिल गईं। उसने फ़ौरन अपने कारिंदे दौड़ाए, शौकत हुसैन रिज़वी से कई मुलाक़ातें कीं और एक फ़िल्म के लिए मुआहदा कर लिया।

फ़िल्म क्या होगी, कैसी होगी, कहानी क्या है, यह किसी को मालूम नहीं था—मगर सेठ वी.एम. व्यास ने जब किसी फ़नांसर को नूरजहाँ और शौकत हुसैन रिज़वी से अपनी सनराइज़ पिक्चर्ज़ के कांट्रेक्ट दिखाए तो उसे मत्लूबा[31] सरमाया किसी दिक्क़त के बग़ैर फ़ौरन मिल गया।

क़ुदरत भी अजीब खेल खेलती है—न शौकत को मालूम था कि नूरजहाँ सनराइज़ पिक्चर्ज़ में आ चुकी है और न नूरजहाँ को पता था कि उसका अदालती भाई शौकत उसका हमराही है—बस बड़ी लंबी दास्तान है और मैं इसे मुख़्तसर करना चाहता हूँ।

एक दिन यह 'राज' फ़ाश हो गया।

निज़ामी बहुत घबराया कि ऐसा न हो, उसका बना-बनाया खेल बिगड़ जाए—जो फ़िल्म शौकत को डायरेक्ट करना थी, उसकी हीरोइन नूरजहाँ थी और उन दोनों का पुनर्मिलन निज़ामी के लिए बड़ा अंदोहनाक[12] साबित हो सकता था—चुनांचे नूरजहाँ के वली की हैसियत से निज़ामी ने सेठ व्यास से कहा कि वह हरगिज़-हरगिज़ इस क़िस्म का सिलसिला बर्दाश्त नहीं करेगा। मगर सेठ व्यास उससे कुछ ज़्यादा ही काइयाँ निकला। उसने अपनी गुजराती हिकमते-अमली से, जो पंजाबी हिकमते-अमली के मुक़ाबले में बड़ी गहरी और धाँसू किस्म की होती है, निज़ामी को हमवार कर दिया—निज़ामी राज़ी हो गया कि नूरजहाँ हर हाल में शौकत की डायरेक्शन में काम करेगी, चाहे दुनिया इधर की उधर हो जाए। चुनांचे वहीं दफ़्तर में दोनों ने एक-दूसरे से मुआनका[13] किया, हाथ मिलाए और एक-दूसरे के भाई बन गए।

अब दोनों अपनी-अपनी जगह पर खुश थे। सेठ व्यास इसलिए कि उसने अपना उल्लू सीधा कर लिया था और निजामी इसलिए कि उसने एक फ़िल्मी सेठ की खुशनूदी[14] हासिल कर ली थी और उसको जेरे-एहसान कर लिया था।

सेठ व्यास कट्टर किस्म का वैष्णव था, वर्ना निजामी उसे उसी रात घर बुलाकर मुम्ताज शांति के हाथ के पके हुए मुर्ग और पुलाव से अपनी और उसकी दोस्ती ज़रूर मुस्तहकम[15] कर लेता, और अगर सेठ बोतल का रसिया होता तो निजामी अपने मरियल मैनेजर के ज़रिए दो अदद स्कॉच ब्लैक मार्केट से ज़रूर मँगवाता।

बहरहाल बात पक्की हो गई, क्योंकि निज़ामी सीने पर हाथ रखकर सेठ व्यास से कह चुका था : "सेठ, अब कि तुमने मुझे भाई कह दिया है, मैं तुमको वचन देता हूँ कि मेंह हो या आँधी या तूफ़ान, कुछ भी हो, तुम्हारी शूटिंग होगी तो बेबी नूरजहाँ वक़्त पर पहुँचेगी।"

अब एक लतीफ़ा सुनिए : बात पक्की हो गई थी और मेरा भी सेठ व्यास से एक कहानी के लिए कांट्रेक्ट हो गया था और 'पेशगियाँ' भी मिल चुकी थीं, इसलिए नासिक की हिरन मार्का व्हिस्की की फरावानी[16] थी। मैं और शौकत चूँकि कहानी का मोज़ूं तलाश करने में मसरूफ थे, इसलिए दौर-पर-दौर चल रहे थे—चावला और सहगल, जो अब बड़े डायरेक्टर बन चुके हैं, और मिर्ज़ा मुशर्रफ़ हमारी अर्दली में होते थे। ज़रा व्हिस्की खत्म हुई और चावला भागे नागपाड़े; किसी और चीज की ज़रूरत हुई तो मिर्ज़ा मुशर्रफ़ हाज़िर।

लतीफ़े से लतीफा निकलता है : मिर्ज़ा मुशर्रफ़ हमारे साथ होते थे। अजीब बात यह थी कि तीसरे पैग के बाद वह रोना शुरू कर देते थे। ज़ारो-क़तार रोते थे और शौकत के हाथ-पाँव चूमते थे। वह शकूक[17], जो शौकत के दिल में उनके बारे में कभी गुज़रे भी नहीं थे, उनका ज़िक्र करते थे और कहते थे कि वह सब ग़लत हैं। इसके बाद वह रो-रोकर अपनी नई ब्याहता बीवी को याद करने लगते थे और फिर गाना शुरू कर देते थे—यह सब फ्रॉड[ ], यानी जाल था, मगर फ़िल्मी दुनिया में इसके सिवा और होता भी क्या है।

अब मैं असल लतीफ़े की तरफ़ आता हूँ कि वह इस मज़मून का सबसे दिलचस्प हिस्सा है।

सेठ व्यास अपनी फिल्म की शूटिंग शुरू कर चुका था। जो सीन फ़िल्माए जा चुके थे, उनमें नूरजहाँ नहीं थी। दूसरे अल्फ़ाज़ में शौकत और नूरजहाँ की अभी तक सही मानों में मुलाक़ात नहीं हुई थी—एक रात नोटिस बोर्ड पर यह ऐलान चस्पाँ कर दिया गया कि नूरजहाँ सैट पर आ रही है। उसको बाज़ाबिता[38] तौर पर कंपनी की तरफ़ से मुत्तला कर दिया गया था।

उसी रात को मैं घूमता-घामता शिवाजी पार्क में रफ़ीक़ ग़ज़नवी के पास चला गया, उस मशहूर नग़मासाज़ और मौसीक़ार के पास जिसकी मुख़्तलिफ़ टाइयों की गिरहों में मुख़्तलिफ़ क़िस्म के रूमान बंधे हैं।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी मेरा दोस्त है। मेरे और उसके बड़े ही बेतकल्लुफ़ मरासिम हैं—मैं उसके फ़्लैट पर पहुँचा तो महफ़िल जमी हुई थी। मैं बेधड़क अंदर दाख़िल हो गया। क्या देखता हूँ कि एक सोफ़े पर उसकी ताज़ा तरीन बीवी ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा बैठी है और उसके साथ नूरजहाँ है। एक कुर्सी पर निज़ामी जी विराजमान हैं और फर्श पर हमारे रफ़ीक़ ग़ज़नवी साहब यूँ बैठे हैं, जैसे किसी सोमनाथ पर हमले की तैयारी कर रहे हैं।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी के मुताल्लिक़ मैं चंद सुतूरों या चंद सफहों में कुछ लिख नहीं सकता। उसका तशख़्ख़ुसो-किरदार[39] इतना वसी है कि उस पर अगर कोई ज़ख़ीम[40] किताब नहीं तो एक तवील मज़मून ज़रूर होना चाहिए—मैं अपने क़ारईन[41] से वादा करता हूँ कि यह क़र्ज़ एक-न-एक दिन ज़रूर चुका दूँगा।*

रफ़ीक़ मेरा दोस्त है—मैं अगर कल कलाँ मौत के आग़ोश में चला गया और वह भी कुछ देर बाद मेरी तरह मर गया तो हक़-रफ़ाक़त[42] कौन अदा करेगा। कौन इतने बड़े मौसीक़ार, इतने दिलचस्प किरदार की दास्ताने-हयात[43] बयान करेगा। इन्शाअल्लाह मैं करूँगा, वक़्त आने पर। ख़ैर यह जुमला मोतरिज़ा[44] था— रफ़ीक़ जैसे सोमनाथ पर अपने ताज़ा तरीन हमले की तैयारी कर रहा था। मैं नहीं कह सकता कि निज़ामी इससे ग़ाफ़िल था या नहीं। या नूरजहाँ को उसके इरादों का इल्म था, अल्लाह ही बेहतर जानता है।

मैं हैरान था कि उधर शूटिंग होनेवाली है और इधर स्कॉच के दौर चल रहे है—निज़ामी के हाथ में गिलास था। नूरजहाँ भी हौले-हौले ख़ुश रंग मश्रूब अपने होंठों के ज़रिए से चूस रही थी। ख़ुरशीद उर्फ अनुराधा तो ख़ैर पुख़्ताकार शराबियों की तरह घूँट भरती थी। और रफ़ीक़, ग़ज़ना का रफ़ीक़—उस ग़ज़ना का जिसने महमूद पैदा किया था और जो एक अयाज़[45] की मुहब्बत में गिरफ़्तार था—गिलास क़ालीन पर रखे मीरासियों के लतीफ़े सुना रहा था।

मैं जब अंदर दाख़िल हुआ तो उसने हस्बे-आदत इस्ति क़बाल के तौर पर एक भारी

* मंटो ने मरने से पहले यह क़र्ज़ चुका दिया था—इस किताब का अगला ख़ाका रफ़ीक़ गजनवी ही का है। चंद बरस पहले मंटो ने अपनी मशहूर और बड़ी कहानी 'बाबू गोपीनाथ' में मुहम्मद शफ़ीक़ तौसी के किरदार से रफ़ीक़ ग़ज़नवी को पेंट किया था।

भरकम गाली अपने मुँह से उगली। फिर फौरन ही शरीफाना लबो-लहजा इख्तियार करके मुझसे कहा "आइए-आइए, तशरीफ रखिए" फिर नूरजहाँ की तरफ देखकर उसने मुझसे कहा "जानते हो इनको?"

मैंने जवाब दिया "जानता हूँ।"

रफीक चार पैग पीने के बाद आमतौर पर शराबी हो जाता है—लुकनत भरे लहजे मे उसने मुझसे कहा "नही, तुम कुछ नही जानते मंटो यह नूर है नूरे-जहाँ है सरूरे-जाँ है खुदा की कसम, ऐसी आवाज पाई है कि बहिश्त मे खुशलहान से खुशलहान हूर भी सुने तो इसे मिंदर खिलाने के लिए जमीन पर उतर आए।

मैं जानता था कि वह तारीफ के पुल क्यो बाँध रहा है—दरअसल उन पुलो के जरिए ही से वह नूरजहाँ के जिस्म तक पहुँचना चाहता था।

मैंने महसूस किया कि नूरजहाँ को रफीक से कोई दिलचस्पी नही है—वह उसकी बाते सुनती थी और उसको खुश करने के लिए एक मस्नूई मुसकराहट अपने होंठो पर पैदा कर लेती थी।

रफीक अव्वल दर्जे का कजूस है, मगर उस दिन उसने गैरमामूली फैयाजी[46] का मुजाहिरा किया—उसने बोतल मे से मुझे एक बहुत बडा पैग इनायत किया और इसरार किया कि मै उसे एक ही जरए मे खत्म कर दूँ, ताकि एक दूसरा भी रहे।

सब पी रहे थे—नूरजहाँ का पैग बहुत हल्का था जिसे वह आहिस्ता-आहिस्ता होंठो के जरिए से चूस रही थी, जैसे मक्खियाँ फूलो से हौले-हौले शहद चूसती हैं।

रफीक गिलास हाथ मे थामे नूरजहाँ की तारीफो-तौसीफ के मजीद पल बाँध रहा था कि टेलीफोन की घटी बजी।

खुरशीद उर्फ अनुराधा ने अपने दुबले-पतले मगर खूबसूरत हाथ से टेलीफोन का चोंगा उठाया, कान के जरिए से दूसरी तरफ की आवाज सुनी, सिटपिटाई और फौरन चोंगे का मुँह बद करके नूरजहाँ से मुखातिब हुई "सेठ व्यास हैं।"

निजामी ने किसी किस्म की परेशानी का इजहार न किया और कहा बेटा, कह दो कि नूरजहाँ यहाँ नही है।"

खुरशीद उर्फ अनुराधा ने सेठ व्यास से मुनासिबो-मोजूँ अल्फाज मे कह दिया कि नूरजहाँ वहाँ नही है।

जब टेलीफोन का सिलसिला खत्म हुआ तो रफीक ने खुरशीद से कहा "शैदाँ, जाओ अदर से हारमोनियम ले आओ सेठ व्यास जाए जहन्नम मे।"

खुरशीद अदर गई और हारमोनियम की पेटी ले आई।

रफीक ने उसको खोला, उसका ढकना उठाया और हवा भरके अपने मख्सूस अदाज मे एक सुर छेडा और खुद ही झूमने लगा "हाय, सुब्हानल्लाह वाह!"

देर तक वह मुख्तलिफ सुरो को छेड-छेडकर 'हाय सुब्हानल्लाह' और 'वाह-वाह' करता रहा—मेरा खयाल है कि रफीक पर अल्लामा इकबाल का यह मिसरा सादिक आता है देते हैं सरूर अव्वल लाते हैं शराब आखिर।

गाने से पहले ही रफ़ीक़ सामईन[47] पर वज्द[48] तारी कर देने का आदी है— मगर उस दिन वह न गाया, इसलिए कि उसकी सारी तवज्जोह नूरजहाँ पर मकूज़[49] थी।

एक सुर छेड़कर उसने नूरजहाँ की तरफ़ अपनी मख्मूर[50] आँखों से देखा और दरख़्वास्त की : "नूर, बस हो जाए कोई चीज़ हाय कितना प्यारा और मधुर सुर है चलो गाओ।"

आप पर्दे पर एक्टर-एक्ट्रेसों के ड्रामे देखते हैं और उनकी किरदारनिगारी से मुतास्सिर होते हैं—मैं आपको उस ड्रामे की एक झलक दिखाता हूँ, जो उस रोज़ वहाँ, रफ़ीक़ ग़ज़नवी के हाँ खेला गया। जीते-जागते, सौ फ़ीसदी हक़ीक़ी ड्रामे की झलक।

नूरजहाँ हारमोनियम लेकर सोफ़े पर रख लेती है—उसके पास ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा व्हिस्की का गिलास लिए बैठी है। रफ़ीक़ ग़ज़नवी क़ालीन पर आलती-पालती मारे नूरजहाँ की तरफ़ अपनी इश्क़पेशा आँखों से देख रहा है और गाना शुरू होने से पहले ही झूम रहा है। दाएँ हाथ की कुर्सी पर श्री निज़ामी जी विराजमान हैं और उनके पास ही ख़ाकसार बैठा है जो अपना दूसरा पैग पी रहा है—नूरजहाँ गाना शुरू करती है। ग़ालिबन पीलू की ठुमरी है : 'मेरे नैन काजर बिन कारे' कि एक मोटर हौले से पोर्च में रुकती है। एक साहब उसके अंदर से निकलते हैं और सीधे अंदर कमरे में चले आते हैं। यह सेठ वी.एम. व्यास हैं—एक लहज़े के लिए सब बौखला जाते हैं, मगर निजामी फ़ौरन ही हालात पर क़ाबू पा लेता है। सेठ व्यास की आमद से गोया बेख़बर वह चिल्लाकर ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा से कहता है : "बेटा, यह क्या ज़ुल्म कर रही हो इसे इतनी तकलीफ़ है और तुम इसे गाने पर मजबूर कर रही हो देखो, एक बोल गाने के बाद इसका क्या हाल हो गया है" फिर वह नूरजहाँ से तश्वीशभरी आवाज़ में कहता है : "लेट जाओ नूरजहाँ, लेट जाओ" और आगे बढ़कर उसे लिटा देता है। नूरजहाँ ज़ोर-ज़ोर से कराहना शुरू कर देती है। रफ़ीक उठकर इंतिहाई तश्वीश का इज़हार करता है। निज़ामी किसी क़दर तेज़ लहजे में ख़ुरशीद से मुख़ातिब होता है : "उठ बेटी, क्या सोच रही है जा, जल्दी से गरम पानी की बोतल ला" ख़ुरशीद उठकर तेज कदमों से कमरे से बाहर निकल जाती है—निजामी कराहती हुई नूरजहाँ को पुचकारता है और फिर सेठ व्यास से मुख़ातिब होता है :

"भाईजान, वह वह तकलीफ़ है, वही जो औरतों को हुआ करती है" सेठ व्यास ख़ामोश रहता है। मैं भी दम-ब-ख़ुद हूँ—निजामी एक बार फिर कराहती हुई, दोहरी होती हुई नूरजहाँ को पुचकारता है और सेठ व्यास की तरफ़ देखकर कहता है : "कल से ग़रीब दर्द के मारे पेचो-ताब खा रही है मुझसे कहती थी : 'चचाजान, मुझसे शूटिंग न हो सकेगी' पर मैंने कहा : 'नहीं बेटा, यह बुरा शगुन है यहाँ बंबई में यह तुम्हारी पहली पिक्चर है और फिर शूटिंग का पहला दिन यह भी छोड़ो, सेठ व्यास मुझे अपना भाई कह चुका है तुम मर जाओ, मगर ज़रूर जाओ' हम इसीलिए यहाँ आए थे कि रफ़ीक़ से थोड़ी ब्रांडी ले लें और फिर उसकी कार लेकर स्टूडियो पहुँच जाएँ आप कुछ फ़िक्र न करें, आपका नुक़सान मेरा नुक़सान है आप मेरे भाई हैं नूरजहाँ अभी पहुँचती है" सेठ व्यास ख़ामोश रहता है। निज़ामी के सिवा और सब ख़ामोश रहते हैं रफ़ीक़ ग़ज़नवी दाँतों से अपने नाख़ून काटता है—मैं सोचता हूँ : 'यह सब क्या है कहानी मरी है। म्यूज़िक रफ़ीक़ ग़ज़नवी दे

रहा है शूटिंग चल रही है और हम हीरोइन के साथ रंगरलियाँ मना रहे हैं कि सेठ व्यास, हमारा आक़ा ऐन मौक़े पर पहुँच जाता है 'रंगरलियाँ ही तो थीं। व्हिस्की का दौर चल रहा था। नूरजहाँ गा रही थी : 'तोरे नैन काजर बिन कारे।' अच्छा-ख़ासा मुजरा हो रहा था—निज़ामी अपने मख़्सूस अंदाज़ में सेठ व्यास से कुछ और बातें करता है और यक़ीन दिलाता है कि जब वह दोनों एक-दूसरे को भाई कह चुके हैं तो फिर किसी क़िस्म के शको-शुब्हे की गुंजाइश ही नहीं रहती—तब ख़ुरशीद गर्म पानी की बोतल लेकर आ जाती है जो नूरजहाँ के पेट पर रख दी जाती है—नूरजहाँ कुछ सुकून का साँस लेती है—अब निज़ामी फिर सेठ व्यास से, जो अबुलहौल[51] बना खड़ा है, कहता है : "आप तशरीफ़ ले चलिए मैं और रफ़ीक़ थोड़ी ही देर में नूरजहाँ को साथ लेकर आते हैं मेरा ख़याल है, ख़ुरशीद भी साथ चले औरतें औरतों के सब मामलात जानती हैं" सेठ व्यास अपनी टोपी ठीक करता हुआ चला जाता है।

यह थी जीते-जागते, सौ फीसदी हकीकी ड्रामे की झलक।

सेठ वी.एम. व्यास के जाते ही सबकी जान में जान आई।

नूरजहाँ ने गर्म पानी की बोतल अलग की और निजामी से कहा : "निज़ामी चचा, आपने तो कहा था : 'मत जाना' "

निजामी संजीदा हो गया : "बेटा, वह मैंने तुम्हारे भले ही के लिए कहा था पहले ही दिन आदमी शूटिंग पर चला जाए और प्रोड्यूसर को फेरे न कराए तो वह सर पर सवार हो जाता है अपनी मुम्ताज ही से पूछ देखो। जब तक स्टूडियो से गाड़ी न आए, मजाल है जो वह शूटिंग मे जाए। और जब गाडी आती है तो मैं उसे कम-अज़-कम एक घंटा नीचे खडी रखता हूँ रायबहादुर चुन्नीलाल मेरे इतने दोस्त हैं, मगर मैं उनकी भी कोई परवा नहीं करता। बाज दफ़ा तो ऐसा भी हुआ कि वह ख़ुद अपनी गाड़ी में मुम्ताज़ को लेने आए बहरहाल अब सब ठीक है। ख़ुद आया है यहाँ चलकर और फिर तुम बीमार हो और बीमारी की हालत में जा रही हो सेठ व्यास को तुम्हारी बीमारी का ख़याल रहेगा " इसके बाद निज़ामी ने कुछ देर और प्रोड्यूसर और आर्टिस्ट के बाहमी[52] रिश्ते की बारीकियाँ बयान कीं और वह तमाम गुर बताए, जो आर्टिस्ट को इस्तेमाल करने चाहिएँ।

फिर गुफ्तगू आहिस्ता-आहिस्ता शौकत हुसैन रिज़वी में तहलील[53] हो गई।

निज़ामी अपनी बातों से ज़बरदस्ती नूरजहाँ के दिलो-दिमाग़ में यह ख़याल ठूँसना चाहता था कि अब उसको शौकत से कोई सरोकार नहीं; उसके दिल में अब शौकत के लिए कोई जगह नहीं; और यह कि उसे वही रास्ता इख़्तियार करना चाहिए, जिस पर मुम्ताज शांति उसकी हिदायत के मुताबिक़ इतने अर्से से चल रही है और इतना नाम और रुपया पैदा कर चुकी है।

अब उस गुफ़्तगू में मुझे भी हिस्सा लेना पड़ा कि शौकत से मेरी अच्छी-ख़ासी दोस्ती हो गई थी और वह मुझसे इस बात का इक़बाल भी कर चुका था कि उसे नूरजहाँ से मुहब्बत है। फिर मिर्ज़ा मुशर्रफ़ के ज़रिए से उसका जो सिलसिला जारी था, उससे क़तई तौर पर यह साबित होता था कि वह दूसरी औरतों की आग़ोश में नूरजहाँ की याद को दफ़न करना

चाहता है और हिरन मार्का-जैसी थर्ड क्लास व्हिस्की से अपना ग़म ग़लत करने की कोशिश कर रहा है।

असलन शौकत घड़ीसाज़ था और अपने फ़न में महारते-तामा[54] रखता था, इसलिए कि वह हर शै की नोकपलक दुरुस्त करता रहता था। उसकी तबीयत किसी उखड़े हुए पुर्ज़े, किसी टेढ़ी कील, किसी ग़लत वक़्त देनेवाली घड़ी, कपड़े में किसी शिकन और सलवट को बर्दाश्त नहीं कर सकती। उसकी जिबिल्लत[55] में एक नज़्म है, वही नज़्म जो एक अच्छी घड़ी में होता है—मगर नूरजहाँ के मामले में वह ख़ुद को बेबस समझता था। वह उस घड़ी के कल-पुर्ज़े कैसे दुरुस्त कर सकता था, जिसको दिल कहते हैं। अगर दिल कोई ऐसी चीज होती जिसे वह अपने सामने रखकर मौहद्दब[56] शीशे में देख सकता, उसकी बालकमानी और उसकी गरारियों का मुताला कर सकता तो यक़ीनन वह पेचकश लेकर उसे सबका-सब खोल देता—मगर वहाँ मामला दिल का था।

उधर नूरजहाँ भी, जो अपने गले से बारीक-से-बारीक सुर निकाल सकती थी, हैरान थी कि अपने दिल से शौकत की याद कैसे निकाले। वह ख़याल बड़े-बड़े उस्तादों की तरह गा सकती थी, मगर एक ख़याल उसके दिलो-दिमाग़ पर हर वक्त छाया रहता था और यह ख़याल उसके महबूब का था, बाँके छबीले शौकत का, जिसने उसको ज़िंदगी की बेहतरीन लज़्ज़त बख़्शी थी; जिसने उसके बदन में वह हरारत पैदा की थी, जो मौसक़ी-जैसी लतीफ़ चीज़ भी पैदा नहीं कर सकती—वह उसे कैसे भूल सकती थी, वह जो उसके जिस्म में एक अर्से तक डुबकियाँ लगाता रहा था।

शौकत के मुताल्लिक़ गुफ़्तगू शुरू हुई और नूरजहाँ ने ऊपरी दिल से उसके मुताल्लिक अपनी नफरत का इज़हार किया तो मुझसे न रहा गया—मैंने उससे कहा : "नूरजहाँ, जो कुछ तुमने कहा है, सब बकवास है और ख़ुदा की क़सम तुम्हारे दिल से नहीं निकला है और जो कुछ मैं उस ख़र ज़ात शौकत से सुनता हूँ, ख़ुदा की कसम, वह भी क़तअन झूठ होता है तुम दोनों एक-दूसरे पर मरते हो, मगर तुम दोनों ख़ुदफ़रेब हो अभी कल ही, 'मुसव्विर' के दफ़्तर में तुम्हारी बातें हो रही थीं कल शाम क्या, हर शाम जब मैं और शौकत पीना शुरू करते हैं तो वह किसी-न-किसी हीले तुम्हारी बात छेड देता है फिर ख़ुद ही कहता है : 'उसकी बात न करो ' यही हाल तुम्हारा है मैंने तुम्हारी याद में शौकत की आँखों में आँसू भी देखे हैं और मैं तुम्हें यह भी बता देता हूँ कि अगर वह तुमसे दूर रहा तो वह अपनी जवानी और अपनी मेहनत तबाह कर लेगा वह तुम्हारे बग़ैर जिंदा नहीं रह सकता मालूम नहीं, तुमने उस पर क्या जादू फूँक रखा है!"

नूरजहाँ पर सकता-सा तारी हो गया।

मैंने फिर कहना शुरू किया : "नूरजहाँ, ख़ुदफ़रेबी से काम न लो मैं मानता हूँ कि निज़ामी साहब बड़े जहाँदीदा आदमी हैं, लेकिन इश्क़ो-मुहब्बत में वह गुर कभी नहीं चलते जो ज़िंदगी के दूसरे बाज़ारों में चलते हैं यह सब खोटे सिक्के हैं।"

मैं एकदम निज़ामी साहब से मुख़ातिब हुआ : "क्यों निज़ामी साहब, क्या यह झूठ है?"

निजामी साहब कुछ ऐसे मेरी तकरीर मे गुम थे कि उन्होने जब नफी मे अपना सिर हिलाया तो उन्हे मुत्लक[57] इसका एहसास नही था। फिर जब एक धचके के साथ उन्हे अपनी गलती का एहसास हुआ तो मैं बहुत आगे निकल चुका था—मैं नूरजहाँ से, जिसकी आँखो मे अब आँसू तैर रहे थे, कह रहा था "तुम दोनो बेवकूफ हो। एक-दूसरे से मुहब्बत करते हो, मगर उसे छुपाए फिरते हो किनसे, यह दुनिया तो, माफ करना नूरजहाँ, किसी को भी मुहब्बत करते नही देख सकती लेकिन इसका यह मतलब तो नही कि लोग मुहब्बत करना छोड दे मुम्ताज शांति की जिंदगी वाकई काबिले-रश्क है। निजामी साहब-जैसे शफीक और होशियार चचा की सरपरस्ती मे वह यकीनन खुदा के फज्लो-करम[58] मे और भी तरक्की करेगी, लेकिन " मैं फिर निजामी साहब से मुखातिब हुआ "लेकिन निजामी साहब, आपसे यह मख्फी[59] नही होगा कि हर आदमी के लिए एक ही चचा काम नही दे सकता आपने जो हिदायात मुम्ताज शांति के लिए सोची थी, जाहिर है, वह नूरजहाँ के लिए कारआमद साबित नही हो सकती दोनो के मिजाज मे जमीन-आसमान का फर्क है। क्या मैं झूठ कहता हूँ?"

मैं अब निजामी को उस मकाम पर ले आया था, जहाँ वह मेरी कोई बात झुठला नही सकता था—मैंने मौका गनीमत जाना और बोलता चला गया।

मैंने नूरजहाँ के दिलो-दिमाग पर, जो गालिबन पहले ही से तैयार था, यह हकीकत अच्छी तरह मुत्तसम[60] कर दी कि वह और शौकत एक-दूसरे के लिए बने हैं, और यह जो वह खुदफरेबी से काम ले रहे हैं, बडी मोहूलिक[61] चीज है।

निजामी जब उठा तो वह कोई खुश आदमी नही था*—मगर अपनी फितरत से मजबूर वह मुझसे रूखेपन का इजहार न कर सकता था। चुनाचे उसने पहले नूरजहाँ से कहा कि वह गर्म पानी की बोतल लेकर खुरशीद के साथ स्टूडियो चली जाए और वहाँ वक्तन-फवक्तन दर्द का बहाना करती रहे। फिर उसने बडी खुदापेशानी[62] से मुझसे गुफ्तगू की और मुझे यकीन दिलाया कि उसने मेरे लिए फ्लैट और फर्नीचर वगैरह का मुकम्मल बदोबस्त कर रखा है, उसको हैरत थी कि मैं इतने दिनो कहाँ गायब रहा फ्लैट की चाबी उसके मैनेजर के पास है और वह मेरा कब से मुंतजिर है, मेरे लिए ब्लैक मार्केट से पैट्रोल हासिल करने के लिए भी उन्होने इंतिजाम कर रखा है, इसके अलावा उनकी दिली ख्वाहिश है कि मैं उनकी दावत कुबूल कर लूँ कि वह मेरी तवाजे अलावा मुर्गो के जानी वॉकर ब्लैक लेबिल से कर सके।

मैंने मुनासिब व मौजूं अल्फाज मे उनका शुक्रिया अदा किया—वह मसिर था कि मै जरूर उसकी दावत कुबूल करूँ। चुनाचे मैंने कुबूल कर ली। मगर मुझे यकीन था कि अगर मै उसके हाँ चला गया तो मुर्ग और जानी वॉकर ब्लैक लेबिल का जिक्र तक भी नही होगा।

खैर !

* इस जुमले मे अंग्रेजीपन है मगर यह मुझे पसंद है —मन्टो

निजामी साहब को छोडिए कि वह निजामी साहब हैं, मालूम नही, किस रिआयत मे। मुमकिन है, हसन निजामी देहलवी के मुरीद हो, या खुद-साख्ता निजामी हो—मुझे सिर्फ यह बताना है कि मेरी उस शाम की तकरीरनुमा गुफ्तगू ने न सिर्फ निजामी के तमाम प्लान दरहम-बरहम[63] कर दिए, बल्कि रफीक गजनवी के भी, जो नूरजहाँ के जिस्म तक पहुँचना चाहता था।

वक्त बीतने लगा।

मुझे मालूम हुआ कि नूरजहाँ अब कमाल अमरोही से कोई दिलचस्पी नही लेती, उसके टेलीफोन आते हैं मगर वह कोई जवाब नही देती, वह अपनी सैकेंडहैंड कार लेकर आता है तो वह किसी कमरे मे छुप जाती है और निजामी की हिदायत के मुताबिक अमल नही करती।

इन तमाम बातो की रिपोर्ट मेरे जरिए से शौकत तक पहुँच जाती थी। हमे इस बात का कामिल एहसास था कि नूरजहाँ मर्दे-तस्मा पा निजामी के शिकजे मे है और उसका वहाँ से निकलना मुश्किल है—चुनाचे हमने एक कान्फ्रेंस की जिसमे नजीर लुधियानवी एडिटर 'मुसव्विर' वीकली, मैं और शौकत शामिल थे। तय हुआ कि वही, निजामी के मकान के पास ही कैडल रोड पर कोई मकान हासिल किया जाए।

तो नजीर लुधियानवी की कोशिशो से कैडल रोड पर साहिल समदर के बिलकुल करीब ग्राउंड फ्लोर पर एक निहायत उम्दा फ्लैट मिल गया जिसमे तीन गुस्लखाने, कई कमरे और एक वसीओ-अरीज[64] ड्राइगरूम था।

नजीर ने, जो कि 17, एडेलफी चेंबर्ज-जैसे वाहियात फ्लैट मे रहते-रहते उकता गया था, शौकत से कहा कि वह शिरकत करने के लिए तैयार है, दोनो इकट्ठे रहेंगे—चुनाचे फौरन फ्लैट हासिल कर लिया गया। किराया गालिबन एक सौ पिचहत्तर रुपए या दो सौ रुपए माहवार था। फर्नीचर और दूसरे साजो-सामान से चद दिन के अदर-अदर यह जहाजी फ्लैट सजा दिया गया—शौकत का बेडरूम समदर की तरफ था।

इधर से अगर पाँच सौ कदम का फासला तय किया जाता तो निजामी का फ्लैट आता था—मतलब यह है कि अब नूरजहाँ और शौकत के दर्रमियान सिर्फ इतने ही कदम का फासला बाकी रह गया था।

मेरे जिम्मे जो काम तज्वीज किया गया था, वह मैं खुश उस्लूबी से निभा रहा था—मैं कभी-कभी निजामी के हाँ जा निकलता और अगर नूरजहाँ वहाँ मौजूद होती तो उसको बता देता कि शौकत ने इतनी आहे उसके लिए भरी हैं और रात को पीने के बाद वह कितनी मर्तबा उसके फिराक मे रोया है।

नूरजहाँ को मेरे जरिए यह भी मालूम हो चुका था कि शौकत उसके पडौस मे मुकीम[65] है और यह कि वह सिर्फ पाँच सौ कदम साहिल के साथ-साथ चलकर उसके पास पहुँच सकती है—सैर-की-सैर और दीदारे-यार भी।

मैंने कितनी ही दफा महसूस किया कि जो काम मैं कर रहा हूँ, किसी बूढ़ी कुटनी का है—मगर दोस्त के लिए आदमी क्या कुछ नही करता।

यहाँ मैं आप पर वाजेह कर दूँ कि मैं नूरजहाँ और शौकत की शादी के सख्त खिलाफ था—एक्ट्रेस से शादी का सिलसिला ही मेरे नजदीक बडी गलत बात है—दोनो एक-दूसरे के साथ रहे, बस ठीक है जब उकता जाएँ तो अपना-अपना रास्ता पकड ले।

मगर शौकत पट्टा लिखवाने का कायल था कि जमीन सारी उम्र उसी की मिल्कियत रहे—मैंने उसे बहुत समझाया। वह मान गया कि अगर नूरजहाँ से उसका मिलाप हो गया तो वह उससे शादी नही करेगा।

मुझे जो करना था, कर चुका था—मै अब अपनी कहानी का, जिसका उनवान नौकर तज्वीज हुआ था, मजरनामा लिखने मे बेतरह मसरूफ हो गया। इसके अलावा कैडल रोड और बाई कल्ला मे कई मील हाइल थे, इसलिए शौकत के हाँ मेरा आना-जाना कम हो गया।

उन दिनो अच्छी बीयर नायाब थी। इत्तिफाक से एक रोज अमरीकी बीयर की चार फर्बेहअदाम[66] बोतले मुझे मिल गई—मै बोतले साथ लेकर कैडल रोड पहुँचा। सुबह का वक्त था और मैं चाहता था कि वह मश्रूब[67] नाश्ते ही से शुरू किया जाए।

जब वहाँ पहुँचा तो देखा कि फ्लैट सुनसान है—नजीर लुधियानवी नहा-धोकर और नाश्ता करके दफ्तर रवाना हो चुका है और शौकत सो रहा है।

मै उसकी ख्वाबगाह के पास पहुँचा और दस्तक दी। कोई जवाब न मिला। फिर मैंने जरा जोर से दरवाजा खटखटाया।

अदर से शौकत की ख्वाब आलूद आवाज आई "कौन है?"

मैंने जवाब दिया "मटो।"

शौकत ने कहा "ठहरो।"

मै ठहरा रहा।

कोई तीन मिनट के बाद दरवाजा खुला और मैंने देखा, कमरे के इकलौते पलग पर नूरजहाँ लेटी हुई है—मैंने नूरजहाँ को देखते ही नारा लगाया "इन्किलाब जिदाबाद!"

नूरजहाँ की आँखे, ऐसा मालूम होता था, अभी-अभी लाड़ी मे धुल के आई हैं।

मैंने शौकत की तरफ देखा—वह मुज्महिल[68] था।

मैने उससे पूछा "तो चित्तौडगढ फतह हो गया?"

शौकत मुसकरा दिया—उसकी मुसकराहट इत्मीनान-भरी थी।

उसने कहा "आओ बैठो।"

मै पलग के पास ड्रेसिग टेबिल के स्टूल पर बैठ गया और शौकत से मुखातिब हुआ "क्यो भाई, यह मोहतरिमा कैसे तशरीफ लाई?"

शौकत ने फातेहाना नजरो से नूरजहाँ को देखा, जो पलग पर चादर से खुद को अच्छी तरह ढाँप रही थी 'बस कच्चे धागे मे बँधी आई हैं।'

मालूम नही, नूरजहाँ कच्चे धागे मे बँधी आई थी, या पक्के धागे मे बँधी आई थी—पर मैं इतना जरूर कह सकता हूँ कि वह धागा जैसा भी था, उसकी तख्लीक[69] हाथो से नही दिलो मे हुई थी। वह धागा बडे उम्दा तरीके पर बटा हुआ था, वर्ना वह पाँच सौ कदमो का

फ़ासला इतनी जल्दी और इतनी ख़ूबी से पाटा न जा सकता।

क़िस्सा मुख़्तसर यह कि शौकत के बेडरूम में जिस फ़र्नीचर की कमी थी, वह पूरी हो गई थी। अब वह मुकम्मल तौर पर सज गया था।

उधर निज़ामी के फ़्लैट में एक बत्ती बुझ गई थी, वह बत्ती जो एक पूरे बिजलीघर में तब्दील हो सकती थी।

निज़ामी ने नूरजहाँ को बहुत समझाया-बुझाया—नूरजहाँ के भाई ने उसको बहुत धमकियाँ दीं—पर जब इश्क़ का भूत सर पर सवार हो तो कानों के सारे दरवाज़े बंद हो जाते हैं; धमकियाँ और भभकियाँ, पंदो-नसाह[70] कतअन असरअंदाज़ नहीं होते।

एक रोज़ शौकत ने मुझसे कहा : "मंटो, मेरा ख़याल है, मैं साली से शादी कर लूँ।"

मैंने कहा : "यह तुम्हारी मर्ज़ी है कि तुम इसके मालिक हो लेकिन मेरी ईमानदाराना राय यही है कि तुम्हारा यह इक़्दाम[71] दुरुस्त नहीं होगा क्या तुमने इस बारे में अपने घरवालों से मश्वरा किया है?"

मेरे सवाल का जवाब शौकत गोल कर गया—बहरहाल मुझे यक़ीन था कि वह सोच-समझकर इक़्दाम उठाएगा और उजलत[72] से काम न लेगा।

बंबई में एक बुज़ुर्ग हकीम अबू मुहम्मद ताहिर अश्क अज़ीमबादी के नाम से थे। वह एक अजीब शै थे। उम्र आपकी पिचहत्तर बरस के करीब थी, मगर दिल जवान था और आँखों की बीनाई बिलकुल दुरुस्त थी। दाँत उनके सलामत थे। वह हर नई फिल्म का पहला शो देखते थे। पाँच जबानें बोलते थे। उर्दू, फ़ारसी, अरबी, अंग्रेज़ी और पंजाबी। बडे मार्के के आदमी थे। नबाबत[73] से शगफ़ था और शेरो-शाइरी से भी—शौकत से मैंने उनकी मुलाक़ात कराई तो वह उनका गरवीदा हो गया और उनको चचाजान कहने लगा।

हकीम साहब ने शौकत से दूर दराज का कोई रिश्ता भी पैदा कर लिया। उनके कहने के मुताबिक़ वह शौकत के ख़ानदान से बहुत पुराने मरासिम[74] रखते थे।

जैसा कि मैं इससे पहले अर्ज़ कर चुका हूँ, शौकत के हाँ मेरा आना-जाना बहुत कम हो गया था, इसलिए कि बाई कल्ला और कैडल रोड में फ़ासला काफ़ी था। इसके अलावा मैं कहानी की मंज़रनवीसी में मशगूल था।

चंद दिन गुज़रे तो हकीम साहब तशरीफ़ लाए—मुझे उनसे बड़ी अकीदत थी कि मेरी ज़बान दुरुस्त करने में आपने ग़ैरशऊरी तौर पर मेरी बहुत मदद की थी। उनको भी मुझसे मुहब्बत थी कि मैं उनकी ख़िदमत के लिए हर वक़्त तैयार रहता था। बातों-बातों में आपने मुझे बताया : "शौकत बेटे का निकाह नूरजहाँ से हो गया है।"

मैं बहुत हैरान हुआ कि मुझे इसकी ख़बर तक न हुई—जब मैंने अपनी हैरत का इजहार किया तो हकीम साहब ने सारा मामला गोल करने की कोशिश की।

जब वह नाकाम रहे तो उन्होंने मुझसे कहा : "देखो सआदत, यह सबकुछ ख़ुफिया तौर पर हुआ है, ताकी लोगों में चर्चा न हो मैंने तुमसे जिक्र कर दिया कि तुम भी शौकत की तरह मेरे बेटे हो बस अब यह राज़, राज ही रहे।"

वह राज कब तक राज़ रह सकता था?

मै पिचहत्तर बरस के बुड्ढे से क्या वहम करता—मुझे गुस्सा सिर्फ इस बात का था कि शौकत ने मुझसे निकाह की बात क्यो छुपाए रखी। अगर उस निकाह करना ही था तो मेरी शमूलियत[75] उसमे क्यो जरूरी न समझी। मुझे क्यो नाश की गड्डी मे से जोकर समझकर अलग कर दिया गया—मेरे दिल मे तकद्दुर[76] था, लेकिन शौकत से मैने उसका जिक्र न किया कि इससे मेरी और उसके ताल्लुकात यकीनन कशीदा हो जाते।

दिन गुजरते गए।

निजामी थक-हारकर बैठ गया—सैयद कमाल हैदर अमरोही ने हजारहा मर्तबा टेलीफोन किया, सैकडो मर्तबा अपनी सैकेडहैड मोटर कार मे निजामी के फ्लैट के चक्कर काटे और आखिर नाउम्मीद होकर दूसरे मशागिल मे मसरूफ हो गया।

शौकत का बेडरूम आबाद था—वहाँ हँसी के छींटे उड रहे थे। नूरजहाँ के गले मे नूर बरस रहा था—रफीक गजनवी से जिस किस्म की धुने बनवाना होती थी, उनकी रिहर्सले होनी थी—बस दो जवानियाँ कैडल रोड के उस फ्लैट मे खेल खेल रही थी।

अब मैं आपको एक लतीफा सुनाता हूँ मेरे भाईजान सईद हसन*, बैरिस्टर जजायर फिजी, एक मुद्दत के बाद अमृतसर जाने के लिए बबई तशरीफ लाए—उन्होने मुझे इत्तिला दी थी कि वह बजरिया हवाई जहाज आ रहे हैं—उन दिनो मै माहिम मे रहता था और हमारा फ्लैट बहुत ही छोटा था—मैंने अपनी बीवी से मश्वरा किया। 'मुसव्विर' के एडिटर नजीर लुधियानवी भी मौजूद थे—तय यह हुआ कि भाईजान को कैडल रोड के उस फ्लैट मे ठहराया जाए, जहाँ नजीर और शौकत इकट्ठे रहते हैं।

वह फ्लैट, जैसा कि मै अर्ज कर चुका हूँ, बहुत बडा था—नजीर छडा छटाँक था। शौकत था और उसकी नूरजहाँ थी। और उनको तो बस हर वक्त फकत एक बेडरूम चाहिए था। बाकी कमरो मे उन्हे कोई दिलचस्पी नही थी—इसलिए भाईजान के लिए, जो योरपी तर्जे-रिहाइश के आदी थे, एक अलहदा कमरे और गुस्लखाने का इतजाम बडी आसानी मे हो सकता था—चुनाचे जब वह चद रोज के लिए बबई तशरीफ लाए तो मैं उन्हे कैडल रोड पर ले गया।

वह फ्लैट देखकर बहुत खुश हुए।

इमारत करीब-करीब नई थी, जदीद[77] तर्ज की—दो मजिला थी। ऊपर की मजिल मे साहबे-मकान रहते थे। पिछली तरफ यानी जिधर समदर का साहिल था, कोई दो सौ कदम के फासले पर एक छोटा-सा बागीचा था। उसमे बच्चो के खेलने के लिए झूले थे और वह भी जिन्हे अग्रेजी मे 'सी सा' कहते हैं और फिसलनेवाले तख्ते।

समदर की मर्तब[78] हवा हर वक्त आती रहती थी। बाज औकात वह इस कदर तेज होती थी कि फ्लैट के वह तमाम दरवाजे वह तमाम खिडकियाँ बद रखनी पडती थी, जिनका रुख समदर की तरफ था कि चीजे अपनी जगह सलामत रहे।

उस फ्लैट मे भाईजान अपने मुख्तसर से असबाब के साथ उतरे और बहुत खुश

* मटो के सौतेले बड़े भाई।

हुए—लेकिन चंद ही रोज़ में एक ट्रेजिडी वक़ूअपज़ीर[79] हो गई।

शौकत दुबारा नूरजहाँ को पाकर बहुत ख़ुश हुआ था। इस ख़ुशी का निकाम किसी-न-किसी सूरत में नफ़सियाती तौर पर होना ही चाहिए था—फिर मिर्ज़ा मुशर्रफ़ मौजूद था, शौकत की देग का बहुत बड़ा चमचा। चावला था, महगल था और दूसरे थे जो शौकत की फ़िल्म में शरीक होने के लिए बेक़रार थे।

फ़िल्मी दुनिया असल में रात की दुनिया है—दिन-भर सब अपने-अपने कामों मे मशगूल रहते थे और सरे-शाम शौकत के यहाँ जमा हो जाते थे—व्हिस्की के दौर चलते थे, सूक़ियाना[80] क़िस्म के हँसी-ठट्ठे होते थे, गाने गाए जाते थे, कहानियाँ सुनाई जाती थीं और बाज़ औक़ात इतना शोर बरपा होता था कि ऊपर की मंज़िलवालों को पुकार-पुकारकर कहना पड़ता था "बाबा ख़ामोश रहो बाबा ख़ामोश रहो।"

एक रात शौकत ने ग़ालिबन एम.ए. मुगनी को, जो परी चेहरा नसीमबानो के ढिंढोरची की हैसियत से मशहूर थे, अपने हाँ मदऊ किया। मिर्ज़ा मुशर्रफ़ भी था, मैं भी था, मेरी बीवी भी थी। दावते-तआम से फ़ारिग होकर मैं और मेरी बीवी फ़ौरन चले गए कि हमें एक जरूरी काम से कहीं जाना था।

भाईजान एक साहब शौकत अली के बेटे ज़ाहिद के हाँ मदऊ थे। वह देर से लौटे—जब उन्होंने हॉल में क़दम रखा तो देखा कि रिंदी व सरमस्ती बाल खोले नाच रही है और वह हाउ हू है कि कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं देती—मालूम नहीं, उन्होंने और क्या देखा कि सुबह उठते ही अपना सामान बँधवाकर ख़िलाफ़त हाऊस चले गए—मुझे और मेरे दोस्तों को उन्होंने इस क़दर तेज़ व तुंद लहजे में बुरा-भला कहा कि अब जब वह वाक़ा मुझे याद आया है, मुझे यूं महसूस हुआ है कि मेरे कानों में पिघला हुआ सीसा उतरा है।

भाईजान ने असल में अपनी सारी ज़िंदगी कानून की किताबों में गुजारी थी। वह सारी उम्र मुक़दमे लड़ते रहे थे, लाहौर में, बंबई में, मशरिक़ी अफ़्रीका में, जज़ायर फिजी में—उनको क्या मालूम कि फ़िल्मी दुनिया क्या होती है और उसके आशिक़ और माशूक़ किस क़िस्म के होते है। यही वजह है कि वह पाँव सर पर रखकर भागे और उन्होंने ख़िलाफ़त हाऊस में जाकर पनाह ली—लुत्फ़ की बात यह है कि ख़िलाफ़त हाउस एक ऐसी गली मे वाक़े है, जिसका नाम 'लव लेन' है, यानी मुहब्बत की गली।

यह क़िस्सा तो ख़ैर ज़मनन आ गया कि ज़ेबे-दास्तान के लिए किसी हद तक ज़रूरी था।

अब मैं नूरजहाँ की तरफ़ लौटता हूँ, जिसकी बड़ी बहन वहीं कैडल रोड पर पास ही अपने भाई के ज़रिए पेशा कराती थी, मगर प्राइवेट तौर पर—मुझे मालूम नहीं कि दोनों बहनें आपस में मिलती थीं, या नहीं। जहाँ तक मैं समझता हूँ, शौकत ने इसकी इजाज़त नूरजहाँ को कभी न दी होगी।

नूरजहाँ का भाई परले दर्जे का जुआरी था। वह सट्टा खेलता था, ताश के पत्तों पर दाव लगाता था, रेसों में जाता था। उसको, ज़ाहिर है, नूरजहाँ और शौकत का मिलाप सख़्त शाक़[81] गुज़रा था। जैसा कि मैं इससे पेशतर अर्ज़ कर चुका हूँ, उसने चचा निज़ामी

के साथ मिलकर बहुत कोशिश की कि वह फिर एक-दूसरे से जुदा हो जाएँ और नूरजहाँ उन दोनों की रोज़ी का ठीकरा बन जाए, मगर यह बेल मंढे न चढ़ी।

शौकत को हर क़िस्म की धमकियाँ दी गईं, मगर वह भी एक दबंग आदमी है, उसने उनकी कोई परवाह न की। और नतीजा इसका यह निकला कि मुख़ालफ़त का वह महाज़[82] बिलकुल ख़ामोश हो गया।

फ़िल्म 'नौकर' की शूटिंग जारी थी। रफ़ीक़ ग़ज़नवी उसकी मौसीक़ी मुरत्तिब[83] कर रहा था। बज़ाहिर वह अपने काम में पूरे इन्हिमाक[84] से दिलचस्पी ले रहा था, मगर मैं साफ़ महसूस कर रहा था कि वह हर वक़्त एक उलझन-सी महसूस करता है, इसलिए कि उसकी नाक के ऐन नीचे एक और शख़्स उस लौंडिया को उड़ा ले गया था, जिस पर उसकी इश्क़ पेशा आँख थी।

बहरहाल फ़िल्म 'नौकर' की तकमील उफ़्ताँ व ख़ीज़ाँ[85] जारी रही।

इस दौरान में मुझे मालूम हुआ कि शौकत हुसैन रिज़वी फ़िल्मसाज़ी के मामले में बेहद मुतलव्विन[86] मिज़ाज है। उसको एक आदमी का काम पसंद नहीं आता, बल्कि यूँ कहिए कि वह फ़क़त एक आदमी के काम से मुतमइन नहीं होता—मैंने उसको 'नौकर' की कहानी का मंज़रनामा मय मुकालमों के लिखकर दे दिया था और उसने पसंद भी किया था, मगर बाद में मुझे पता चला कि वह ख़ुफ़िया तौर पर कई आदमियों से मुकालमे लिखवा रहा है। उनमें हमारे बुज़ुर्ग अश्क अज़ीमाबादी भी थे—मुझे बहुत ताव आया। जहाँ तक अश्क साहब का ताल्लुक़ था, मुझे क्या एतिराज़ हो सकता था, मगर दूसरों को मैं क़त्अन बर्दाश्त नहीं कर सकता था। मैंने चुनांचे बड़े गर्म अल्फ़ाज़ में शौकत से अपनी शिकायत का इज़हार किया।

आदमी समझदार है। हिकमते-अमली से काम लेकर उसने मेरे दिमाग़ पर बर्फ़ की कई सिलें रख दीं, मगर मैं दिल बर्दाश्ता हो चुका था कि कहानी भी मेरी मर्ज़ी के मुताबिक़ नहीं लिखी गई थी—कहानी के हर कोने और हर मोड़ पर शौकत ने अपनी मनमानी की थी।

मैं बड़ा हठधर्म और ज़िद्दी आदमी हूँ, लेकिन शौकत के सामने मेरी कोई पेश न चलती थी—इसके अलावा मैंने चंद दिन उसके साथ काम करके क़तई तौर पर जान लिया था कि यह शख़्स जो मेरे साथ हिरन मार्का व्हिस्की और करेवन ए के सिगरेट पीता रहा है और मेरी हर बात मानता रहा है, फ़िल्मसाज़ी के मामले में वही करेगा जो इसका घड़ीसाज़ दिमाग़ मुनासिब समझेगा—चुनांचे यही हुआ।

मैंने फ़ैसला कर लिया कि दबे पाँव फ़िल्म 'नौकर' की प्रोडक्शन से बाहर निकल जाऊँगा।

मैंने ऐसा ही किया—शौकत मेरे अड़ियल मिज़ाज से वाक़िफ़ था, इसलिए उसने मेरे फ़रार को अपने सुकून के लिए अच्छा ही समझा। बहुत मुमकिन था कि अगर मैं किसी नुक़्ते पर अड़ जाता तो फ़िल्म की शूटिंग महीनों खटाई में पड़ी रहती।

मुझे उससे शिकायत थी और उसको भी अपनी जगह यक़ीनन होगी, मगर हमारे

दोस्ताना ताल्लुक़ात में कोई फ़र्क़ न आया।

मैं इससे पेशतर अर्ज़ कर चुका हूँ कि मुल्क में सियासी गड़बड़ के बायस फिल्म इंडस्ट्री की हालत बिलकुल छुईमुई की-सी थी—कोई स्टूल पर चढ़कर इन्क़िलाब : ज़िंदाबाद का नाग लगाता था तो कई फ़िल्मों का इस्क़ात[87] हो जाता था। यूँ भी उन दिनों जंग के बायस ख़ाम माल क़रीब-क़रीब नायाब था। हालात चूँकि ग़ैर यक़ीनी थे, इसलिए बहुत कम फ़िल्म डायरेक्टरों की माली हालत अच्छी थी। प्रोड्यूसरों के पास एक घड़ा-घड़ाया माकूल बहाना मौजूद था : "रुपया कहाँ से लाएँ जंग शुरू है आज क्रीट की लड़ाई है तो कल फ़िनलैंड की और परसों जापान के हमले का ख़तरा है " मगर सच पूछिए तो यही वह ज़माना था, जब प्रोड्यूसरों और सरमाया लगानेवाले मारवाड़ियों ने झोलियाँ भर-भर के कमाया।

शौकत का इस दौरान में एक और जगह कांट्रेक्ट हुआ, ग़ालिबन सेठ जवेरी* से—सेठ ज़वेरी एक बड़ा बरख़ुद ग़लत क़िस्स का इसान था। बड़े अदना दर्जे से ताल्लुक़ रखता था, मगर जंग ने उसको सेठ बना दिया था और अब वह खुल-खेलना चाहता था। चुनांचे उसने एक फ़िल्म कंपनी खड़ी कर दी थी। दो-चार मोटरें ले ली थीं—ऊँची जगहों पर तो उसका हाथ नहीं पहुँचता था. मगर वह एक्सट्रा लडकियों को फाँसने में कामयाब हो जाता था।

उस सेठ से शौकत का कांट्रेक्ट हुआ तो उसने शौकत को तीन हजार रुपए दिए। उम वक्त मैं मौजूद था।

जब चेक कैश हो गया तो मैंने शौकत मे रुपए ले लिए और कहा : "चलो डाकख़ाने चलो।"

डाकख़ाने पहुँचकर मैंने मबके-मब रुपए शौकत के घर रजिस्ट्री और बीमा कराके भेज दिए—मेरा ख़याल है, नूरजहाँ को मेरी यह हरकत यक़ीनन नागवार गुज़री होगी।

उमी दौरान में शौकत को मैंने मजबूर किया कि वह अपनी जिंदगी का बीमा करा ले। वह मेरी बहुत कम बातों को रद्द करता था। फ़ौरन मान गया। चुनांचे दस हजार रुपए की पालिसी ले ली गई—मालूम नहीं, मैं यह मबकुछ क्यो कर रहा था। अब मोचता हूँ तो मझे अपनी यह तमाम हरकात बुज़ुर्गाना होने के बजाय तिफ़लाना[88] मालूम होती हैं। माफ 'गैरो को नसीहत और ख़ुद मियाँ फ़मीहत'[89] वाला मामला था।

नूरजहाँ अब ख़ूब निखर गई थी—मर्द की क़ुर्बत भी औरत के हुस्न के लिए कितनी ज़रूरी होती है—उसके जिस्म के ख़ुतूत अब वाजेह शक्ल इख़्तियार कर चुके थे। वह तमाम ख़ाली जगहें, जो लाहौर में पुर न हुई थीं, वहाँ बंबई में पुर हो गई थी। उस पर जिस्म की लज्ज़तों के क़रीब-क़रीब तमाम इमरार मुन्कशिफ़[90] हो चुके थे—नूरजहाँ गो अब भी लोगों की ज़बान पर बेबी नूरजहाँ थी, मगर वह इश्क़ो-मुहब्बत का झूला झूलकर उन तमाम झोंटों से आश्ना हो चुकी थी जो उसकी रस्सियों में पोशीदा होते हैं।

एक दिन आउट डोर शूटिंग थी—बंबई के मज़ाफ़ात[91] में किसी का एक ख़ूबसूरत बाग़

---

* बंबई की ज़बान में 'जौहरी' की बिगड़ी हुई शक्ल।—मंटो

था, जिसको शौकत ने मुंतख़िब किया था। कैमरे के लैंस के साथ रेड फ़िल्टर लगाकर मंज़रकशी करना थी कि दिन की बजाय रात मालूम हो और जो धूप हो, चाँदनी नज़र आए।

शौकत ने इसरार किया कि मैं उसके साथ ज़रूर चलूँ—मुझे देर हो गई, इसलिए मैं सेठ व्यास की गाड़ी में वहाँ पहुँचा।

नूरजहाँ को मैंने लोकेशन पर देखा तो मेरी आँखों को ज़बर्दस्त धक्का लगा—वह अजीबो-ग़रीब लिबास पहने हुए थी। उसके लिबास की वज़े क़ते मेरे लिए नई नहीं थी कि मामूली शलवार-क़मीस थी, मगर उनमें आँखों के लिए बड़ी ख़ुराश पैदा करनेवाली हिद्दत थी—शलवार जाली की थी, जिसे अंग्रेज़ी में 'नेट' कहते हैं—आमतौर पर यह कपड़ा खिड़कियों के परदों के लिए इस्तेमाल होता है—मालूम नहीं, यह नूरजहाँ की उपज थी या सैयद शौकत हुसैन रिज़वी की, मगर वह यह लाखों खिड़कियोंवाली शलवार पहने हुए थी, जिसमें से उसकी टाँगें बग़ैर किसी तकल्लुफ़ के छन-छनकर बाहर आ रही थीं। क़मीस भी उसी कपड़े की थी—अब आप ख़ुद ही अंदाज़ा लगा लीजिए कि उस मलबूस[92] ने नूरजहाँ को ढाँकने की कितनी कोशिश की होगी।

शोभना समर्थ भी मौजूद थी—नूरजहाँ को उस लिबास में देखकर मैं तो वल्लाह बौखला गया। ऐसा लिबास और फिर रोशनी के पेशमंज़र में—मैंने अपनी ज़ख़्मी निगाहें उधर से हटाईं और शोभना समर्थ के पास चला गया कि वह मस्तूर[93] थी।

शोभना समर्थ तालीमयाफ़्ता औरत है। गुफ़्तुगू का सलीक़ा रखती है। चूँकि अच्छे मरहटा ख़ानदान की है, इसलिए उसमें हलकटपन* नहीं। बड़ी बातमीज़ औरत है—वह भी उस फ़िल्म में काम कर रही थी। मैं उसके साथ घास के एक तख़्ते पर बैठ गया और अपनी वह कोफ्त, अपना वह तकद्दुर दूर करता रहा जो नूरजहाँ का खिड़कियोंवाला लिबास देखकर मेरे दिलो-दिमाग़ में पैदा हुआ था।

जैसा कि मैं इससे पहले बयान कर चुका हूँ, मुझे फ़िल्म 'नौकर' से कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। शौकत अपनी मनमानी कर रहा था और मैं उसमें दख़ल देने से कतराता था कि मुबादा[94] उसके और मेरे ताल्लुकात ख़राब हो जाएँ।

नूरजहाँ से कैडल रोडवाले फ़्लैट में कई मर्तबा मुलाक़ातें हुईं—मैंने जब उसका और ग़ौर से मुताला[95] किया तो मुझे महसूस हुआ कि वह जिस तबक़े से ताल्लुक़ रखती है, उस तबक़े की ख़ुसूसियात उसमें बदरजा-ए-अतम मौजूद हैं। उसकी हर हरकत एक बनावटी अदा थी और एक नख़रा था, जिसे संजीदा निगाहें शायद ही क़ुबूल कर सकें।

मुझे ताज्जुब है—शौकत ठेठ हिंदुस्तानी† और नूरजहाँ ठेठ पंजाबी; एक लिहाज़ से जटनी; गाँव की मुटियार—लेकिन दोनों बहुत ख़ुश थे।

शौकत पंजाबीनुमा उर्दू बोलने की कोशिश करता और नूरजहाँ उर्दूनुमा पंजाबी—और

* बंबई की ज़बान में—मंटो

† यानी यू पी का बाशिंदा—मंटो

यह ख़ासी दिलचस्प चीज़ थी।

फ़िल्म 'नौकर' ख़त्म हुई तो शौकत और मेरे दरमियान फ़ासला बढ़ गया—वह इश्क़ के झूले झूलकर अब कारोबारी धंधों में मश्ग़ूल हो गया और मैं अपने कामों में—गाहे-बगाहे किसी फ़िल्म के दफ़्तर में या सड़क पर उससे मुलाक़ात हो जाती; वह भी चंद मिनटों की; ख़ैर-ख़ैरियत दरयाफ़्त की जाती और अपनी-अपनी राह ली जाती।

फ़िल्म इंडस्ट्री की हालत अब बेहतर थी—जंग का ख़ौफ़ प्रोड्यूसरों के सर से उतर चुका था और फ़िल्म इंडस्ट्री के तमाम मुताल्लिक़ीन[96] को मालूम हो चुका था कि यह ज़माना कमाने का है। चुनांचे लाखों रुपए इधर-से-उधर आ-जा रहे थे।

शौकत ज़हीन होने के अलावा कारोबारी आदमी भी है—उसने मौक़े से फ़ाइदा उठाया और कुछ अर्से के बाद उसने अपनी ज़ाती फ़िल्म कंपनी क़ायम कर ली और एक बड़ी कामयाब फ़िल्म बनाई। यूँ तो उसकी साख वैसे ही क़ायम थी कि फ़िल्म इंडस्ट्री के लोग उसे एक क़ाबिल डायरेक्टर और एक माहिर एडिटर मानते थे, लेकिन जब उसने अपनी ज़ाती कंपनी खोली तो इंडस्ट्री के हलक़ों में उसका विक़ार[97] और भी बढ़ गया।

आमतौर पर डायरेक्टर या प्रोड्यूसर फिल्मी दुनिया में किसी एक्ट्रेस से सिर्फ़ इसलिए शादी करते हैं कि वह उनकी किश्ती-ए-हयात में पतवार का काम दे—मालूम नहीं, शौकत ने नूरजहाँ से क्या इसी मक़सद के पेशे-नज़र शादी की थी, लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर वह नूरजहाँ से शादी न भी करता तो भी उसकी आमदनी में रोज अफ़ज़ूँ तरक़्क़ी होती रहती, इसलिए कि वह अपने फ़न को जानता है और मज़दूरों की तरह मशक़्क़त कर सकता है।

मुझे मालूम नहीं, शौकत बंबई छोड़कर पाकिस्तान क्यों आया। शायद इसकी वजह यह हो कि वह बड़ा कट्टर क़िस्म का मुसलमान है। अगर वहाँ बंबई में किसी ने मुसलमानों के ख़िलाफ़ एक जुमला भी कह दिया होता तो मुझे यक़ीन है, वह उसकी खोपड़ी पेचकश से खोल देता और उसकी इस्लाह[98] करने की नाकाम कोशिश करता—और यह भी हो सकता है कि नूरजहाँ ने उसे मजबूर किया हो कि नूरजहाँ को लाहौर बहुत प्यारा है, क्योंकि पंजाबियों के कहने के मुताबिक़ 'लाहौर, लाहौर है।'

बंबई में शौकत बहुत कामयाब था। उसने एक-दो फ़िल्में ऐसी बनाई थीं, जिनसे उसकी धाक बैठ गई थी। वह करोड़ों रुपए वहाँ पैदा कर सकता था, लेकिन उसने पाकिस्तान को अपना घर बनाया।

शौकत का घड़ीसाज़ दिमाग़, जो सुई की ख़फ़ीफ़-सी हरकत बर्दाश्त नहीं कर सकता, यहाँ पाकिस्तान की फ़िल्म इंडस्ट्री के लिए, जो हालते-नज़ा[99] में थी, काम आया।

उसने शौरी का जला हुआ, सड़ा हुआ, निहायत शकिस्ता स्टूडियो हासिल किया और उसे एक आलातरीन निगारख़ाने में तब्दील कर दिया।

आपमें से बहुत कम हज़रात जानते होंगे कि शाह नूर स्टूडियो में जो भी कील ठुकी है, उसमें शौकत हुसैन रिज़वी का अपना हाथ है, जो पेच भी लगा है, उस पर शौकत का पेचकश का निशान है—शाह नूर स्टूडियो में छोटे-से बूटे से लेकर लेबॉरट्री की भारी

भरकम मशीनरी तक सब उसके हाथ की लगी है।

यह बहुत बड़ा वस्फ है, इतना बड़ा कि उसके और दूसरों के लिए नुक़सानदेह साबित हुआ है। हर बात में दख़ल देने से उसने कई गड़बड़ घोटाले किए हैं।

यूँ वह बड़े ठाठ से रहता है, लेकिन मैं आपको एक पुरलुत्फ़ क़िस्सा सुनाता हूँ : यहाँ लाहौर में आकर भी वह मेरा दोस्त है। मेरी अक्सर मदद करता रहता है—एक बार मैं उसके पास गया। उसकी बेदाग सफेद कमीस के बटन मौजूद नहीं थे। मैंने अपनी हैरत का इज़हार किया कि यह क्या क़िस्सा है।

शौकत ने मुसकराकर कहा : "क्या बताऊँ यार, पैसे ही नहीं हैं कि बटन ख़रीद सकूँ।"

मैंने जब उससे सिगरेट तलब किया तो उसने मुझे बताया कि वह दस रोज से सिगरेट उधार ले रहा है।

यह उस शख़्स की हालत थी, जिसके स्टूडियो में लोगो को रैफ़्रिजिरेटर का ठंडा पानी मिलता है; जहाँ फूल खिलते हैं और जहाँ कई माली काम करते है; जहाँ सैकड़ों मज़दूर हैं; जहाँ नूरजहाँ है जो आला से आला कपड़े पहनती है और मोटरो में घूमती है।

नूरजहाँ के मुताल्लिक़ कई अफवाहें मशहूर हैं। बहुत मुमकिन है कि उनमें से कुछ हकीकत पर मबनी[100] भी हो—मैं तो इतना जानता हूँ कि वह दो निहायत प्यारे बच्चों की माँ है जो चीफ्स कॉलेज के साफ-सुथरे माहौल मे तालीम हासिल कर रहे हैं और वह उनसे प्यार करती है।

पिछले दिनो चीफ्स कॉलेज मे एक जलसा था, जिसमें नन्हे-मुन्ने बच्चों ने हिस्सा लिया था। वहाँ एक ड्रामा हुआ था, राधा-कृष्ण डास—नूरजहाँ का बडा लडका एक गोपी बना था। उस निस्वानी[101] लिबास मे वह बहुत प्यारा दिखाई दे रहा था। उसका रक़्स भी बहुत ख़ूब था।

नूरजहाँ यकीनन रक्स जानती है—मालूम नही, उसने अपने अकबर को ख़ुद तालीम दी है, या अकबर ने ख़ुद-ब-ख़ुद ख़ून के ज़रिए से यह सबकुछ सीखा है। बहरहाल अब देखना है कि अकबर और असगर, जो चीफ्स कॉलेज में तालीम हासिल कर रहे हैं, आगे चलकर क्या बनते हैं?

क्या यह संगीत और पृथ्वीराजो का ख़ानदान बनेगा, फ़िलहाल हम इसके मुताल्लिक कुछ नही कह सकते।

नूरजहाँ ज़रा बददिमाग है—उसको अपने हुस्न पर तो नाज नहीं होना चाहिए कि ऐसी कोई चीज उसमें नहीं है। एक फकत आवाज़ है। गला है, जो नूर से भरा है। इस पर अगर उसे नाज है तो बजा है—मगर बददिमाग होने का यह फिर भी कोई सही जवाज़[102] नहीं।

मुझे याद है, एक मर्तबा मेरी बीवी ने बंबई में मुझसे कहा : "आप नूरजहाँ को अच्छी तरह जानते हैं वह हमारे घर कई मर्तबा आ चुकी है। क्या वह अब नहीं आ सकती मेरी चंद सहेलियाँ उससे मिलना चाहती हैं।"

मैंने कहा : "क्यों नहीं आ सकती हज़ार मर्तबा आ सकती है।"

मैंने शौकत से कहा तो उसने दूसरे ही रोज़ नूरजहाँ को भेज दिया।

मैंने बहुत-सी एक्ट्रेसें देखी हैं, बड़े ऊँचे पाये की, बहुत मशहूर, बहुत मारूफ़[103] मगर उनमें मुझे वह तकल्लुफ़ नज़र न आया, जो नूरजहाँ में है—वह बनती है। उसकी मुसकराहट, उसकी हँसी, उसका सलाम, उसकी मिज़ाजपुरसी, सब मस्नूई ही होती है। मालूम नहीं, यह चीज़ उसकी तबीयत में कैसे दाख़िल हुई—बाज़ औक़ात जब मैं उसकी और शौकत की इज़्दवाजी[104] ज़िंदगी का तसव्वुर करता हूँ तो मुझे वह भी मस्नूई-सी दिखाई देती है।

ख़ैर—नूरजहाँ आई और सबसे बड़े पुरख़ुलूस तपाक से, जिसे मैं अब भी मस्नूई समझता हूँ, मिली—मैं चाहता था, औरतों को छोड़कर चला जाऊँ कि वह आजादाना तौर पर गुफ़्तगू कर सकें, मगर मेरी बीवी की एक सहेली ने इसरार किया कि मैं मौजूद रहूँ और नूरजहाँ से कहूँ कि वह गाना गए।

मैंने चुनांचे फ़ौरन बड़े बेतकल्लुफ़ अंदाज़ में नूरजहाँ से कहा : "भई, एक-दो गाने हो जाएँ...यह लोग तुम्हारी आवाज़ का ज़िंदा नाच-गाना सुनना और देखना चाहती हैं।"

नूरजहाँ ने एक पुरतकल्लुफ़ अदा से जवाब दिया : "नहीं मंटो साहब, फिर कभी मेरा गला ठीक नहीं।"

मैं कबाब हो गया—उसका गला बिलकुल ठीक था। उसका गला फौलाद का है जो कभी ख़राब नहीं हो सकता—वह सरीहन[105] नख़रे कर रही थी।

मैंने फिर कहा : "नूरजहाँ, यह बहाना यहाँ नहीं चलेगा तुम्हें गाना पड़ेगा मैं तो तुम्हें हज़ार मर्तबा सुन चुका हूँ, मगर इन लोगों को इश्तियाक़[106] है, इसलिए तुम्हें अच्छे-बुरे गले के साथ ही गाना पड़ेगा।"

बहुत देर तक उधर से इनकार, इधर से इसरार होता रहा।

मेरी बीवी ने कहा : "जाने भी दीजिए जब वह नहीं गाना चाहती तो आप इस कदर ज़ोर क्यों दे रहे हैं।"

मैं भी एक ज़िद्दी हूँ। नूरजहाँ के पीछे पड़ गया।

आख़िर उसने फ़ैज़ की यह ग़ज़ल गाई : 'आज की रात साज़े दर्द न छेड़।'

कमबख़्त ने क्या धुन बनाई थी और क्या आवाज़ थी कि अब इतने बरस गुज़र जाने पर भी मेरे कान उस शहद भरी आवाज़ को सुन सकते हैं!

नूरजहाँ के कई आशिक़ होंगे—मैं ऐसे कई बावर्चियों को जानता हूँ जो चूल्हे के पास नूरजहाँ की तसवीरें लगाकर अपने साहिबों और मेमसाहबों का खाना पकाते हैं और उसके गाए हुए गीत अपनी कनसुरी आवाज़ों में गाते हैं।

घरों के उन नौकरों को भी मैं जानता हूँ जो निम्मी, नरगिस और कामनी कौशल को पसंद नहीं करते, लेकिन नूरजहाँ के वाला व शैदा हैं। जहाँ कहीं उसकी तसवीर मिल जाए, काटकर अपने टूटे हुए ट्रंक में रख लेते हैं और फ़ुर्सत के वक़्त उसे देख-देखकर अपनी आँखें सेंकते हैं। और नूरजहाँ को अगर कोई बुरा कहे तो लड़ने-मरने पर तैयार हो जाते हैं।

और मेरे घर में उसका एक आशिक़े-ज़ार मौजूद है। वह हर ख़ूबसूरत लड़की, हर दुल्हन, हर सुर्ख़पोश औरत को नूरजहाँ कहता है। उसको नूरजहाँ के गाए हुए गाने

क़रीब-क़रीब मब याद हैं—वह ख़ुद बड़ा हमीन है, लेकिन जाने उसे नूरजहाँ की कौन-मी अदा भा गई है कि वह दिन-रात उमी का ज़िक्र करता है।

वह मेरा क़रीबतरीन अज़ीज है—वह मेरी माली और मेरे भानजे का लड़का है। उमका नाम शाहिद जलाल है। हम मब उसे प्यार से टाको कहते हैं—उसको हम सब बहुत ममझा चुके हैं : "देखो, तुम नूरजहाँ का ख़याल छोड़ दो वह एक ब्याहता औरत है और उसके कई बच्चे हैं तुम्हारी और उसकी शादी नहीं हो मकती " मगर वह नहीं मानता।

वह फ़िल्म देखता है और अगर उसमें नूरजहाँ न हो तो उसे बहुत कोफ़्त होती है—यह कोफ़्त वह घर आकर नूरजहाँ के गाए हुए गाने गाकर दूर करता है और अपनी माँ और अपने बाप से कहता है . "मुझे और कोई नहीं चाहिए, सिर्फ़ नूरजहाँ चाहिए।"

पिछले दिनों उमके दादा मियाँ जलालुद्दीन एक काम से शौकत हुसैन रिज़वी के पास गए थे—उन्होंने शौकत से कहा : "देखो, तुम्हारी बीवी का एक आशिक़ पैदा हो गया है जो बुरी तरह उस पर लट्टू है ऐसा न हो कि वह किसी रोज़ तुम्हारी बीवी को ले उड़े और तुम मुँह देखते रह जाओ।"

शौकत बहुत हैरान हुआ, इसलिए कि मियाँ साहब मौसूफ़ ने यह बात उसे बताई थी—पहले तो वह झेंपा, फिर उसने पूछा : "मियाँ साहब, वह कौन शख़्स है ?"

मियाँ साहब ने मुसकराकर कहा : "मेरा पोता।"

शौकत ने पूछा : "आपका पोता ? क्या उम्र है उसकी ?"

मियाँ साहब ने जवाब दिया : "यही कोई पाँच बरस के क़रीब।"

और यह हाल ही की बात है कि नूरजहाँ ने जब यह सारी बात सुनी तो वह बहुत महज़ूज़[107] हुई और उसने कहा : "मैं ख़ुद अपने आशिक़ के पास जाऊँगी और उससे शादी करूँगी।"

शाहिद जलाल बहुत ख़ुश है। वह उस दिन का बड़ी बेताबी से इंतज़ार कर रहा है, जब नूरजहाँ ख़ुद उसके पास चलकर आएगी और वह उसे अपनी दुल्हन बनाएगा।

पिछले दिनों नूरजहाँ के एक और आशिक़ का क़िस्सा सुनने में आया था, मगर वह आशिक़ पाँच बरस का नहीं था। वह अच्छा-ख़ासा जवान था और ग़ालिबन नाई, यानी हज्जाम था। वह हर वक़्त नूरजहाँ के गाए हुए गाने गाता रहता था और उसी की बातें करता था।

एक दोस्त ने उस हज्जाम से पूछा · "क्या वाक़ई तुम्हें नूरजहाँ से मुहब्बत है ?"

हज्जाम ने बड़े पुरख़ुलूस अंदाज़ में जवाब दिया : "इसमें क्या शक है !"

उसके दोस्त ने उसका इम्तिहान लेना चाहा : "अगर तुम्हें नूरजहाँ से सच्ची मुहब्बत है तो क्या महिवाल की तरह तुम अपना गोश्त दे सकते हो कि कबाब बनाकर उसे भेजे जाएँ।"

हज्जाम ने तेज़ उस्तरा निकालकर अपने दोस्त के हाथ में दे दिया और कहा : "लो, जहाँ से चाहो, मेरा गोश्त काट लो।"

उसका दोस्त, मालूम नहीं, किस क़िस्म का इंसान था—उसने हज्जाम के बाज़ू से पाव

भर गोश्त का टुकड़ा उस्तरे से काटकर अलग कर दिया और फिर घबराकर भाग गया।

हज्जाम साहब उस कुर्बानी के बाद ख़ून के बहाव के बायस बेहोश हो गए—उस आशिक़े-ज़ार को जब हस्पताल में दाख़िल किया गया और जब उसको थोड़ा-मा होश आया तो उसकी ज़बान पर नूरजहाँ का नाम था।

सैयद शौकत हुसैन रिज़वी की बेगम और अकबर और असग़र की माँ नूरजहाँ का ताज़ा इश्क़ बहुत ज़्यादा रुसवाकुन साबित हुआ है—वाक़िफ़कार हलकों का बयान है कि नूरजहाँ एक अर्से से क्रिकेट के मशहूर खिलाड़ी नज़र मुहम्मद* की जवानी और वजाहत[108] से बेहद मुतास्सिर नज़र आती थी और उनकी मुलाक़ातें अक्सर शको-शुब्हे की नजरों से देखी जाती थीं—और बारहा उन मुलाक़ातों की वजह से शौकत और नूरजहाँ की ज़िंदगी में शदीद[109] बदमज़गी पैदा हो चुकी थी।

इस जोड़े के हालात से दिलचस्पी रखनेवाले, मुमकिन है, नजर और नूरजहाँ के रूमान को इसलिए वक़अत न देते हों कि अब नूरजहाँ दो बच्चों की माँ बन चुकी है और जिंदगी के मुताद्दिद पुरशबाब साल शौकत की बीवी की हैसियत से बसर कर चुकी है, लेकिन इसे क्या कहिए कि मियाँ-बीवी की ज़िंदगी में एक और औरत ने दाख़िल होकर क़यामत बरपा कर दी।

शाह नूर स्टूडियो में एक नई लड़की निगहत सुलताना एक्ट्रैस बनने के लिए आई—शौकत हुसैन रिज़वी उसके हुस्नो-जमाल से बेहद मुतास्सिर हुआ।

नूरजहाँ उन दोनों की बाहमी दिलचस्पी में ख़तरा महसूस करने लगी—चुनांचे मामला जब कुछ और आगे बढ़ा तो कमर की जट्टी नूरजहाँ ने एक दिन निगहत सुलताना को चुटिया से पकड़कर ऐसे-ऐसे हाथ दिखाए कि अगर हीरोइन और शौकत हुसैन रिजवी की महबूबा बनकर शाहनूर स्टूडियो पर हुकूमत करने का ख़्वाब देखनेवाली इस नई एक्ट्रैस के एक-दो हमदर्द हिम्मत से काम लेकर उसे न छुड़ाते तो उस रोज उसका जनाज़ा ही धूमधाम से निकलता।

इस हादिसे से बच निकलने के बाद निगहत सुलताना अदालत में जा पहुँची।

वाक़ा चूँकि शाह नूर स्टूडियो में हुआ था, जहाँ आज की मैडम और कल की बेबी नूरजहाँ बेताज मलिका की मानिंद हुकूमत करती है, इसलिए इस्तिग़ासा नाकाम रहा।

इस हादिसे ने शौकत और नूरजहाँ के दिलों में ज़हर भर दिया—दोनों एक-दूसरे से खिंचे-खिंचे रहने लगे।

इस वाक़े से नूरजहाँ के पुराने महबूब नज़र मुहम्मद को नूरजहाँ के क़रीब आ जाने का मौक़ा मिल गया और दोनों की नए सिरे से मुलाक़ातें शुरू हो गईं।

नूरजहाँ और नज़र की इश्क़बाज़ी का यह सिलसिला न जाने कब तक जारी रहता और

* 1952-53 में जब कारदार की कप्तानी में पहली पाकिस्तानी क्रिकेट टीम भारत में आई थी तो नजर मुहम्मद ओपनिंग बैट्समैन के तौर पर उस टीम में शामिल था और उसने लखनऊ टेस्ट में सैंचुरी बनाई थी—मुदस्सर नजर, आज का मशहूर पाकिस्तानी खिलाड़ी, नजर मुहम्मद का बेटा है। —संपादक

यह इंतिक़ामी मुहब्बत न मालूम क्या सूरत इख़्तियार कर लेती कि नूरजहाँ की ज़ाती ख़ादिमा ने शौकत को दोनों की मुलाक़ातों से आगाह करके सबकुछ चौपट कर दिया।

एक दिन जब कि नूरजहाँ अपने इशरत कदा[110] में नज़र की आग़ोश में मचल रही थी, शौकत ने दोनों को रंगे हाथों पकड़ लेने के लिए छापा मारा।

इस बेजा मुदाख़लत[111] पर जब नूरजहाँ और नज़र ने ख़तरा महसूस किया तो नज़र अपनी जान की परवाह किए बग़ैर दूसरी मंज़िल की खिड़की में से कूद पड़ा।

अनजानी जगह और उजलत के अंदाज़े की ग़लती के बायस नज़र अपने-आपको सँभाल न सका और दाएँ हाथ की कलाई की हड्डी तुड़वा बैठा—यूँ नूरजहाँ के इश्क़ में क्रिकेट का नामवर खिलाड़ी हमेशा के लिए क्रिकेट के खेल से महरूम हो गया।

और नूरजहाँ बदस्तूर शौकत के लिए सुरूरे-जाँ बन गई—

नूरजहाँ का ख़ाविंद, बाँका छबीला सैयद शौकत हुसैन रिज़वी मौजूद है

उसकी ख़ूबसूरत औलाद मौजूद है

लाहौर का वह हज्जाम मौजूद है जो उसके लिए अपनी रान का नहीं तो अपने बाज़ू का गोश्त दे सकता है

उसका पाँच बरस का आशिक़ शाहिद जलाल उर्फ़ टाको मौजूद है जो हर वक़्त उसको दुल्हन बनाने के ख़्वाब देखता रहता है

वह बावर्ची मौजूद हैं जो उसकी तसवीर चूल्हे के पास रखकर खाना पकाते हैं; जो बर्तन माँजते वक़्त उसके गाए हुए गाने अपनी कनसुरी आवाज में गाते हैं और यूँ अपनी मशक़्क़त का बोझ हल्का करते हैं—

एक मैं हूँ, जो उसकी वाहियात अँगिया देखकर अपनी आँखें बंद कर लेता हूँ—मालूम नहीं, वह इतनी उठान में क्या ख़ूबसूरती देखती है। और सैयद शौकत हुसैन रिज़वी उसको इस ज़्यादती की इजाज़त क्यों देता है, जो बाज़ौक़[112] निगाहों पर बहुत गराँ गुज़रती है?

---

1 स्वर का उतार-चढ़ाव, 2. उच्चारण, 3 माधुर्यपूर्ण, चिकनी; 4. बेहतर; 5. परिपूर्ण; 6. विकृत; 7. हानिकारक; 8. नष्ट करनेवाली, 9. दिल उचटना; 10. अनेक; 11. हितैषी; 12. खर्चे; 13 समाप्त; 14. निश्चित, 15. अभिनय, 16. मवाद; 17. प्रशिक्षण; 18. प्रशंसक; 19. भौगोलिक ज्ञान; 20. संघर्षशील, 21. कृत्रिम; 22. शीघ्रता, 23. प्रेमिका 24. भविष्य; 25. तनावपूर्ण, 26. यूँ ही बातों-बात में; 27. द्वयर्थक. 28. निकालना; 29. नीति, 30. समझौता; 31. वांछित; 32. दुखदायी; 33. आलिंगनबद्ध; 34. कृपा; 35 सुदृढ़; 36. बहुतायत; 37. संदेह; 38. नियमपूर्वक; 39. पात्र की सदृढ़ता, 40. मोटी; 41. पाठकों, 42. मित्रता का हक़; 43. जीवनी; 44. बाह्य प्रसंग;

45. महमूद गजनवी के प्रेमपात्र गुलाम का नाम ; 46. दानशीलता ; 47 श्रोताओ ; 48. आत्म-विस्मृति, 49. केंद्रित ; 50. नशीली ; 51. हौल का अब्बा ; 52. पारस्परिक, 53. विलीन ; 54. सिद्धहस्तता : 55. स्वभाव, 56. उमग हुआ ; 57. बिलकुल ; 58. दया से ; 59 दिया हुआ ; 60. अंकित, 61. हानिकारक ; 62. स्मित मुख ; 63. अस्त-व्यस्त ; 64. लंबा-चौडा ; 65. ठहरा ; 66. स्थूलकाय, 67. पेय ; 68. शिथिल ; 69. रचना, निर्माण ; 70. शिक्षा व उपदेश ; 71. किसी कार्य में आगे कदम बढ़ाना, 72. जल्दबाजी ; 73. चिकित्सा, 74. सबध ; 75. उपस्थिति, शामिल होना ; 76. उदासी, 77. आधुनिक ; 78. आर्द्र ; 79. घटित ; 80. बाज़ार ; 81. असहय ; 82. युद्ध-स्थल ; 83. क्रमबद्ध ; 84. एकाग्रता ; 85. जैसे-तैसे ; 86. चंचल चित्त ; 87. गर्भपात, नष्ट होना ; 88. बचकानी : 89. स्वयं अमल में न लाकर दूसरों को उपदेश देना ; 90. व्यक्त ; 91. मुख्य शहर से सलग्न बस्तियाँ ; 92. वस्त्र ; 93. वस्त्र पहने हुए ; 94. कहीं ऐसा न हो ; 95. अध्ययन ; 96. संबंधित कर्मचारी ; 97. मान-मर्यादा ; 98. सुधार ; 99. बिगड़ी हुई स्थिति, 100. आधारित ; 101. ज़नाना, स्त्रियों के ; 102. औचित्य ; 103. प्रसिद्ध ; 104. वैवाहिक ; 105. स्पष्ट रूप से ; 106., अत्यधिक उत्कंठा ; 107. प्रसन्न ; 108. प्रतिष्ठा ; 109. अत्यधिक ; 110. शयनकक्ष ; 111. हस्तक्षेप, 112. रसिक ।

परीचेहरा नसीम बानो

मेरा फिल्म देखने का शौक़ अमृतसर ही में ख़त्म हो चुका था। इस क़द्र फ़िल्म देखे थे कि अब उनमें मेरे लिए कोई कशिश ही न रही थी—यही वजह है कि जब मैं हफ्तावार 'मुसव्विर' को एडिट करने के सिलसिले में बंबई पहुँचा तो महीनो किसी सिनेमा का रुख़ न किया। पर्चा फ़िल्मी था और हर फ़िल्म का पास मिल सकता था, मगर तबीयत उधर रागिब ही न थी।

बंबे टाकीज का फ़िल्म 'अछूत कन्या' उन दिनों एक सिनेमा में हफ़्तों से चल रहा था। जब उसकी नुमाइश का बाइसवाँ हफ्ता शुरू हुआ तो मैंने सोचा : इस फ़िल्म में क्या है जो इतनी देर से चल रहा है। इसे देखना चाहिए।

बंबई में यह मेरा पहला फिल्म था। मैंने इसमें पहली मर्तबा अशोक कुमार और देविका रानी को देखा। अशोक कुमार का एक्टिंग ख़ाम था, मगर देविका रानी का काम बहुत मंझा हुआ था। फ़िल्म मज्मूई तौर पर कामयाब था। एक खास बात जो मैंने नोट की, यह थी कि उसमें मूक़ियानापन नहीं था। एक सीधी-सादी कहानी थी जो बड़े साफ़-सुथरे अंदाज में पेश की गई थी—मैंने अब गाहे-गाहे फ़िल्म देखने शुरू कर दिए।

उन दिनों एक्ट्रेसों मे एक एक्ट्रेस नसीम बानो ख़ास मशहूर थी। उसकी ख़ूबसूरती का बहुत चर्चा था। इश्तिहारो में उसे परीचेहरा नसीम कहा जाता था। मैंने अपने ही अख़बार मे उसके कई फोटो देखे थे। ख़ुशशक्ल थी। जवान थी। ख़ासतौर पर आँखे बडी पुरकशिश थी और जब आँखे पुरकशिश हो तो सारा चेहरा पुरकशिश बन जाता है।

नसीम के ग़ालिबन दो फ़िल्म तैयार हो चुके थे जो सोहराब मोदी ने बनाए थे और अवाम मे काफ़ी मकबूल हुए थे। यह फ़िल्म मै न देख सका। मालूम नहीं क्यों—अर्सा गुज़र गया। अब मिनर्वा मोवी टोन की तरफ से उसके शानदार तारीख़ी फ़िल्म 'पुकार' की इश्तिहार बाज़ी बड़े ज़ोरों पर हो रही थी। परी चेहरा नसीम उसमे नूरजहाँ के रूप में पेश की जा रही थी और सोहराब मोदी ख़ुद उसमें एक बड़ा अहम किर्दार अदा कर रहे थे।

फ़िल्म की तैयारी में काफ़ी वक़्त सर्फ़ हुआ। इस दौरान में अख़बारों और रिसालों में जो 'स्टल' शाया हुए बडे शानदार थे। नसीम, नूरजहाँ के लिबासे-फाख़ा में बड़ी पुरवकार दिखाई देती थी।

'पुकार' की नुमाइशे-उज़्मा पर मैं मदऊ था। जहाँगीर के अदलो-इन्साफ़ का एक

मनघड़ंत क़िस्सा था जो बड़े जज़्बाती और थेटरी अंदाज़ में पेश किया गया था। फ़िल्म में दो बातों पर बहुत ज़ोर था : मुकालमों पर और मलबूसात पर—मुकालमे गो ग़ैर फ़ित्री और थेटरी थे। लेकिन बहुत ज़ोरदार और पुरशिकोह थे, जो सुननेवालों पर असर-अंदाज़ होते थे। चूँकि ऐसा फ़िल्म इससे पहले नहीं बना था, इसलिए सोहराब मोदी का 'पुकार' सोने की कान साबित होने के अलावा हिंदुस्तानी सन्अते-फ़िल्म साज़ी में एक इन्क़िलाब पैदा करने का मूजिब हुआ।

नसीम की अदाकारी कमज़ोर थी लेकिन उसकी कमज़ोरी को उसके ख़ुदादाद हुस्न और नूरजहाँ के लिबास ने, जो उस पर ख़ूब सजता था, अपने अंदर छुपा लिया था—मुझे याद नहीं रहा, पर ख़याल है कि 'पुकार' के बाद नसीम ग़ालिबन दो-तीन फ़िल्मों मे पेश हुई, मगर यह फ़िल्म कामयाबी के लिहाज़ से 'पुकार' का मुक़ाबला न कर सके।

इस दौरान में नसीम के मुताल्लिक़ तरह-तरह की अफ़्वाहें फैल रही थीं। फिल्मी दुनिया में स्कैंडल आम होते हैं। कभी यह सुनने में आता था कि सोहराब मोदी नसीम बानो से शादी करनेवाला है। कभी अख़बारों में यह ख़बर शाया होती थी कि निज़ाम हैदराबाद के साहबज़ादे मुअज़्ज़म जाह साहब, नसीम बानो पर डोरे डाल रहे हैं और अनक़रीब उसे ले उड़ेगें। यह ख़बर दुरुस्त थी, क्योंकि शहज़ादे का क़ियाम उन दिनों अक्सर बंबई में होना था, और वह कई बार नसीम के मकान वाके मैरीन ड्राइव पर देखे गए थे।

शहज़ादे ने लाखों रुपए ख़र्च किए, बाद में जिनका हिसाब देने के सिलसिले में उन्हे बडी उलझनों का सामना करना पड़ा। लेकिन यह बाद की बात थी। आप रुपए के जोर से नसीम की वालिदा शमशाद उर्फ़ छमिया को रज़ामंद करने में कामयाब हो गए। चुनाचे परीचेहरा नसीम का इलतिफ़ात ख़रीदकर आप उसे उसकी वालिदा समेत हैदराबाद ले गए।

थोडे ही अर्से के बाद जहाँदीदा छमिया ने यह महसूस किया कि हैदराबाद एक कैदख़ाना है जिसमे उसकी बच्ची का दम घुट रहा है। आरामो-आसाइश के तमाम सामान मौजूद थे, मगर फ़ज़ा में घुटन-सी थी। फिर क्या पता था कि शहजादे की लाउबाली तबीयत मे एकाएकी इन्क़िलाब आ जाता और नसीम बानो इधर की रहती न उधर की। चुनाचे छमिया ने हिकमते-अमली से काम लिया। हैदराबाद से निकलना बहुत मुश्किल था, मगर वह अपनी बच्ची नसीम के साथ वापस बंबई आने में कामयाब हो गई।

उसकी मदद पर काफ़ी शोर मचा। बड़ी पोस्टरबाजी हुई। दो पार्टियाँ बन गई थीं। एक शहज़ादा मुअज़्ज़म शाह के कासा लेसों की, दूसरी नसीम बानो के हमदर्दों की। बहुत देर तक कीचड़ उछाली गई। इसके बाद यह मामला ख़ामोश हो गया।

मैं अब फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हो चुका था। कुछ देर 'मुंशी' की हैसियत से इंपीरियल फ़िल्म कंपनी में काम किया, यानी डायरेक्टरों के हुक्म के मुताबिक़ उलटी-सीधी ज़बान में फ़िल्मों के मुकालमे लिखता रहा, साठ रुपए माहवार पर। तरक़्क़ी की तो हिंदुस्तान सिने टोन में सेठ नानो भाई डेसाई के यहाँ सौ रुपए माहवार पर मुलाज़िम हो गया। यहाँ मैंने अपनी पहली फ़िल्मी कहानी 'मड' के उनवान से लिखी। इसका उर्फ

'अपनी नगरिया' था। कहना यह है कि फिल्मी हल्के अब मेरे नाम से वाकिफ हो चुके थे।

इस दौरान मे एक ऐलान नजरो से गुजरा कि कोई साहब अहसान हैं और उन्होने एक फिल्म कपनी ताज महल पिक्चर्ज के नाम से काइम की है। पहला फिल्म 'उजाला' होगा, जिसकी हीरोइन परीचेहरा नसीम बानो है।

इस फिल्म के बनानेवालो मे दो मशहूर हस्तियाँ थी। 'पुकार' का मुसन्निफ कमाल अमरोही और 'पुकार' ही का पब्लिसिटी मैनेजर एस ए सुगनी। फिल्म की तैयारी के दौरान मे कई झगडे खडे हुए। अमीर हैदर कमाल अमरोही और एस ए सुगनी की कई बार आपस मे चख हुई। यह दोनो हजरात गालिबन अदालत तक भी पहुँचे, मगर 'उजाला' अन्जामे-कार मुकम्मल हो गई। कहानी मामूली थी, मौसीकी कमजोर थी, डायरेक्शन म कोई दम न था, चुनाचे यह फिल्म कोई कामयाब न हुआ और अहसान साहब को काफी खसारा उठाना पडा। नतीजा यह हुआ कि उनको अपना कारोबार बद करना पडा। मगर इस कारोबार मे वह अपना दिल नसीम बानो को दे बैठे। अहसान साहब के लिए नसीम अजनबी नही थी। उनके वालिद खान बहादुर मौहम्मद सुलेमान चीफ इन्जीनियर नसीम की वालिदा ... छमिया के परस्तार थे, बल्कि यूँ कहिए कि एक लिहाज से वह उनकी दूसरी बीवी थी। अहसान साहब को यकीनन नसीम से मिलने का इत्तिफाक हुआ होगा। फिल्म की तैयारी के दौरान मे तो खैर वह नसीम के बिलकुल करीब रहे थे लेकिन लोगो का बयान है कि अहसान अपनी झेपू और शर्मीली तबीयत के बाइस नसीम से पूरी तरह खुल नही सके थ। सैट पर आते तो खामोश एक कोने मे बैठे रहते। नसीम से बहुत कम बात करते। कुछ भी हो, आप अपने मकसद मे कामयाब हो गए क्योंकि एक दिन हमने सुना कि परीचेहरा नसीम ने मिस्टर अहसान से दिल्ली मे शादी कर ली है और यह इरादा जाहिर किया है कि वह अब फिल्मो मे काम नही करेगी।

नसीम बानो के परस्तारो के लिए यह खबर बडी अफसोसनाक थी। उसके हुस्न का जल्वा क्योंकि सिर्फ एक आदमी के लिए वक्फ हो गया था।

अहसान और नसीम का इश्क तमाम मराहिल तय करके शादी की मंजिल तक कैसे पहुँचा, मुझे इसका इल्म नही, लेकिन इस सिलसिले मे अशोक कुमार का बयान बहुत दिलचस्प है—अशोक एक साहब कैप्टिन सिद्दीकी का दोस्त था। यह मिस्टर अहसान के करीबी अजीज थे। 'उजाला' मे उन्होने काफी रुपया लगाया था।

अशोक करीब-करीब हर रोज कैप्टिन सिद्दीकी के यहाँ जाया करता था। कुछ दिनो से वह महसूस कर रहा था कि कैप्टिन साहब के घर की फजा बदली हुइ है। शुरू-शुरू मे तो वह कुछ समझ न सका, लेकिन एक दिन उसकी नाक ने महसूस किया कि हवा मे बहुत ही उम्दा सैंट की खुश्बू बसी हुई है। अशोक ने अज-राहे-मजाक कैप्टिन सिद्दीकी से उस खुश्बू के माखज के बारे मे पूछा लेकिन वह गोल कर गए।

एक दिन जब अशोक, सिदिदकी साहब के घर गया तो वह मौजूद नही थे, लेकिन वह खुश्बू मौजूद थी। बडी लतीफ लेकिन बडी शरीर—अशोक ने सूँघ-सूँघ कर नाक के जरिए से मालूम कर लिया कि वह ऊपर की मंजिल से आ रही है। सीढियाँ तय करके वह

ऊपर पहुँचा। कमरे के किवाड़ थोड़े-से खुले थे। अशोक ने झाँककर देखा। नसीम बानो पलंग पर लेटी थी और उसके पहलू में एक साहब बैठे उससे हौले-हौले बातें कर रहे थे। अशोक ने पहचान लिया—वह मिस्टर अहसान थे जिनसे उसका तआरुफ़ हो चुका था।

अशोक ने जब कैप्टिन सिद्दीकी से उस मामले के मुताल्लिक़ बात की तो वह मुस्कराए: "यह सिलसिला काफ़ी अर्से से जारी है।"

अशोक के इस बयान से नसीम और अहसान के इस मुआश्के पर जो रौशनी पड़ती है, उस पर किसी तब्सिरे की ज़रूरत नहीं? इश्क़ो-मुहब्बत में जो कुछ होता है, हुआ होगा। मुझे इतना इल्म है कि अहसान की वालिदा और बहनें सख़्त ख़िलाफ़ थीं कि वह नसीम से शादी करे। चुनाँचे इस सिलसिले में बहुत झगड़े हुए, मगर ख़ान बहादुर मोहम्मद सुलेमान साहब को कोई एतिराज़ नहीं था, इसलिए यह शादी अमल में आ गई और नसीम फ़िल्मी दुनिया से दूर दिल्ली में रहने लगी, जहाँ उसने अपने बचपन के दिन गुज़ारे थे।

शादी पर और शादी के बाद कुछ देर अख़बारों में हंगामा रहा, मगर फिर नसीम फ़िल्मी हल्क़ों से ओझल हो गई।

इस दौरान में फ़िल्मी दुनिया में कई इन्क़िलाब आए। कई फ़िल्म कंपनियाँ बनीं, कई टूटीं। कई सितारे उभरे, कई डूबे। हिमांसू राय की अफ़्सोस-नाक मौत के बाद बंबे टाकीज़ में तवाइफ़ुल-मलूकी फैली हुई थी। देविका रानी[1] और राय-बहादुर चुनी लाल[2] में बात-बात कर चलती थी। नतीजा यह हुआ। कि रायबहादुर अपने ग्रुप के साथ बंबे टाकीज़ से अलाहिदा हो गए। इस ग्रुप में प्रोड्यूसर एस मुकर्जी, मशहूर हीरो अशोक कुमार, कवि प्रदीप, साउंड रिकार्डिस्ट एस वाचा, कामेडियन वी एच डेसाई, मुकालमे निगार शाहिद लतीफ़ और संतोषी शामिल थे। बंबे टाकीज़ से निकलते ही इस ग्रुप ने एक नई फ़िल्म कंपनी 'फ़िल्मस्तान' के नाम से काइम की। प्रोडक्शन कंट्रोलर एस. मुकर्जी मुकर्रर हुए, जो एक सिल्वर जुबली फ़िल्म बनाकर बहुत शोहरत हासिल कर चुके थे। कहानी-वहानी लिखी गई। स्टूडियो नए साजो-सामान से आरास्ता हो गया। सब ठीक-ठाक था, मगर प्रोड्यूसर एस. मुकर्जी सख़्त परेशान थे। बंबे टाकीज़ से अलाहिदा होकर वह देविका रानी को ख़ार देने के लिए कोई सनसनी फैलानेवाली बात पैदा करना चाहते थे, और यह बात हीरोइन के इंतिख़ाब के मुताल्लिक़ थी।

बैठे-बैठे एक दिन एस. मुकर्जी को यह सूझी कि नसीम बानो को वापस खींचकर लाया जाए। यह वह ज़माना था, जब उसे अपने ऊपर पूरा एतिमाद था। पे-दर-पे कई कामरानियों के बाद उसको यह महसूस होने लगा था कि वह जिस काम में हाथ डालेगा, पूरा कर लेगा। चुनांचे फ़ौरन ही नसीम बानो तक पहुँचने के रास्ते सोच लिए गए।

अशोक की वजह से एस. मुकर्जी के भी कैप्टिन सिद्दीकी से बड़े अच्छे ताल्लुक़ात थे। इसके अलावा रायबहादुर चुनी लाल के अहसान के वालिद ख़ान बहादुर मोहम्मद सुलेमान से बहुत बेतकल्लुफ़ मरासिम थे। चुनांचे दिल्ली में नसीम तक रसाई हासिल करने में ग़म

1. मिसिज़ हिमांसू राय; 2 बंबे टाकीज़ के जनरल मैनेजर।

मुकर्जी को किसी मुश्किल का सामना न करना पड़ा, लेकिन सबसे बड़ा मरहला पहले अहसान को और फिर नसीम को रज़ामंद करना था।

मुकर्जी की ख़ुद-एतिमादी काम आई। अहसान ने पहले तो साफ़ जवाब दे दिया, लेकिन आख़िरकार रजामंद हो गया। फ़तहमद होकर जब वह वापस बंबई आया तो अख़बारों में यह ख़बर बडे ठाट से शाया कराई कि 'फिल्मिस्तान' के पहले फिल्म 'चल-चल रे नौजवान' की होरोइन परीचेहरा नसीम बानो होगी। फिल्मी हल्कों में सनसनी फैल गई, क्योंकि नसीम फ़िल्मी दुनिया से हमेशा के लिए अलाहिदगी इख़्तियार कर चुकी थी।

यह उस जमाने की बात है जब मैं डेढ़ बरस आल इंडिया रेडियो दिल्ली के साथ मुन्सलिक रहकर वापस बंबई आया था और सैयद शौकत हुसैन रिजवी के लिए एक कहानी लिखने में मसरूफ़ था।

यह कहानी लिखी गई। चंद और कहानियाँ भी लिखी गई। इस दौरान मे घर से निकलना बहुत कम हो गया था। मेरी बीवी मेरे इस घरेलूपने से तंग आ गई थी। उसका ख़याल था कि मैं यूँ अपनी सेहत ख़राब कर रहा हूँ।

शाहिद लतीफ से मेरे मरासिम अलीगढ़ यूनिवर्स्टी से चले आ रहे थे। 'फ़िल्मिस्तान' के कामों से जब भी फरागत मिलती, वह मेरे यहाँ जरूर आता—एक दिन आया तो मेरी बीवी ने उससे कहा : "शाहिद भाई, इनसे कहिए, कहीं मुलाजमत कर ले। घर बैठकर इनका काम करना मुझे अच्छा नहीं लगता। सेहत खराब कर रहे हैं। कहीं मुलाज़मत कर लेंगे तो घर से बाहर कदम तो रखा करेंगे।"

चंद रोज के बाद मलाड से शाहिद लतीफ़ का फोन आया कि प्रोड्यूसर एस मुकर्जी मुझसे इन्टरव्यू करना चाहते हैं, क्योंकि सिनेरियो डिपार्टमेंट के लिए उन्हें एक आदमी की जरूरत है।

मुलाजमत की मुझे कोई ख्वाहिश नही थी। सिर्फ़ स्टूडियो देखने के लिए मैं 'फिल्मिस्तान' चला गया। फजाँ बड़ी अच्छी थी, जैसे किसी यूनिवर्सिटी की। उसने मुझे बहुत मुतास्सिर किया। मुकर्जी से मुलाकात हुई तो वह मुझे बेहद पसंद आए। चुनांचे वही कंट्रेक्ट पर दस्तख़त कर दिए। तन्खाह बहुत थोडी थी। कुल तीन सौ रुपए माहवार। और फासला भी काफ़ी था। इलैक्ट्रिक ट्रेन से एक घंटे के करीब लगता था, गोरे गाँव पहुँचने मे। लेकिन मैंने सोचा : ठीक है, तन्खाह थोडी है लेकिन मैं इधर-उधर से कमा लिया करूँगा।

शुरू-शुरू मे तो 'फिल्मिस्तान' में मेरी हालत अजनबी की-सी थी लेकिन बहुत जल्द मैं तमाम स्टाफ के साथ घुल-मिल गया। एस. मुकर्जी से तो मेरे ताल्लुक़ात दोस्ताना हद तक पहुँच गए।

इस दौरान में नसीम बानो की सिर्फ़ चंद झलकियाँ देखने का इत्तिफ़ाक़ हुआ। चूँकि सिनेरियो लिखा जा रहा था, इसलिए वह चंद लम्हात के लिए मोटर में आती और वापस चली जाती थी।

एस. मुकर्जी बड़ा मुश्किल पसंद वाक़े हुआ है। महीनो कहानी की नोक-पलक दुरूस्त करने में लग गए। ख़ुदा-ख़ुदा करके फ़िल्म की शूटिंग शुरू हुई, मगर यह वह सीन थे

जिनमें नसीम बानो नहीं थी। बिलाआख़िर उससे एक रोज़ मुलाक़ात हो गई। स्टूडियो के बाहर फ़ोल्डिंग कुर्सी पर बैठी थी। टाँग पर टाँग रखे थर्मोस से चाय पी रही थी। अशोक ने मेरा उससे तआरुफ़ कराया। ख़ंदा-पेशानी से पेश आई और बड़ी बारीक आवाज़ में कहा : "मैंने इनके मज़ामीन और अफ़साने पढ़े हैं।"

थोड़ी देर रस्मी गुफ़्तगू हुई और यह पहली मुलाक़ात ख़त्म हुई। चूँकि वह मेकअप में थी, इसलिए मैं उसके असली हुस्न का अंदाज़ा न कर सका। एक बात जो मैंने ख़ासतौर पर नोट की, वह यह थी कि बोलते वक़्त उसे कोशिश-सी करनी पड़ती थी। यूँ कहिए कि जब वह बोलती थी तो मुझे यूँ महसूस होता था कि वह थोड़ी-सी मशक़्क़त कर रही है।

'पुकार' की नसीम में और 'चल-चल रे नौजवान' की नसीम में ज़मीनो-आसमान का फ़र्क़ था। उधर वह मलिका नूरजहाँ के लिबासे-फ़ाख़ा में मलबूस और इधर भारत सेवा दल की एक रज़ाकार की वर्दी में। नसीम बानो को तीन-चार मर्तबा मेकअप के बग़ैर देखा तो मैंने सोचा, आराइशे-महफ़िल के लिए इससे बेहतर औरत और कोई नहीं हो सकती। वह जगह, वह कोना, जहाँ वह बैठती या खड़ी होती, एकदम सज जाता।

लिबास के इंतिख़ाब में वह बहुत मोहतात है, और रंग चुनने के मामले में जो सलीका और क़रीना मैंने उसके यहाँ देखा है, और कहीं नही देखा। ज़र्द रंग बड़ा ख़तरनाक है, क्योंकि ज़र्द रंग के कपडे आदमी को अक्सर ज़र्द मरीज़ बना देते हैं, मगर नसीम कुछ इस बेपर्वा बेतकल्लुफ़ी मे यह रंग इस्तेमाल करती थी कि मुझे हैरत होती थी।

नसीम का महबूब लिबास साड़ी है। ग़रारा भी पहनती है, मगर गाहे-गाहे। शलवार कमीस पहनती है मगर सिर्फ़ घर में। वह कपड़े पहनती है, इस्तेमाल नहीं करती। यही वजह है कि उसके पास बरसों के पुराने कपड़े बड़ी अच्छी हालत में मौजूद हैं।

नसीम को मैंने बहुत मेहनती पाया। बड़ी नाज़ुक-सी औरत है, मगर सैट पर बराबर डटी रहती थी। मुकर्जी को मुतमइन करना आसान काम नहीं। कई-कई रिहर्सलें करना पड़ती थीं। घंटों झुलसा देनेवाली रौशनी के सामने उठक-बैठक करना पड़ती थी, लेकिन मैंने देखा कि नसीम उकताती नहीं थी। मुझे बाद में मालूम हुआ कि उसको अदाकारी का बहुत शौक़ है। हम शूटिंग के साथ-साथ रशेज देखते थे। नसीम बानो का काम बस गवारा था। उसमें चमक नहीं थी। वह सन्जीदा आदाएँ मुहैया कर सकती है, अपने मुग़लई ख़दोख़ाल की हसीन झलकियाँ पेश कर सकती है, लेकिन नाक़िदाना निगाहों के लिए अदाकारी का जौहर पेश नहीं कर सकती। फिर भी 'चल-चल रे नौजवान' में उसका एक्टिंग पहले फ़िल्मों के मुक़ाबले में कुछ बेहतर ही था।

मुकर्जी उस में करख़्तगी और दुरुश्तगी पैदा करना चाहता था, मगर यह कैसे पैदा होती। नसीम बेहद सर्द मिज़ाज है। चुनांचे नतीजा यह हुआ कि 'चल-चल रे नौजवान" में नसीम का कैरेक्टर गडमड हो के रह गया।

फ़िल्म रिलीज़ हुआ। रात को 'ताज' में एक शानदार पार्टी दी गई। फ़िल्म में नसीम जैसी भी थी, ठीक है, मगर 'ताज' में वह सबसे अलग नज़र आती थी, पुरवक़ार बाअज़मत मुग़लिया शहज़ादियों की-सी शान और इन्फ़िरादीयत लिए।

चल-चल रे नौजवान' की तैयारी में दो बरस, दो उकता देनेवाले बरस लग गए थे। जब फ़िल्म तवक़्क़ोआत के मुताबिक़ कामयाब और मक़बूल न हुआ तो हम सब पर अफ़्सुर्दगी तारी हो गई। मुकर्जी तो बहुत बेदिल हुआ, मगर कन्ट्रैक्ट के मुताबिक़ चूँकि उसे ताजमहल पिक्चर्ज़ के एक फ़िल्म की निगरानी करना थी, इसलिए कमरबस्ता हो कर काम शुरू करना पड़ा।

फ़िल्म 'चल-चल रे नौजवान' की तैयारी के दौरान में अहसान से मुकर्जी के ताल्लुक़ात बहुत बढ़ गए थे। जब ताजमहल पिक्चर्ज के फ़िल्म का सवाल आया तो अहसान ने उसकी प्रोडक्शन का सारा बोझ मुकर्जी के कंधों पर डाल दिया। मुकर्जी ने मुझसे मश्वरा किया। आख़िर यह तय हुआ कि 'बेगम' के उनवान से मैं एक ऐसी कहानी लिखूँ, जिसमें नसीम की ख़ूबसूरती को ज्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल किया जा सके।

मैंने एक ख़ाका तैयार किया। मुकर्जी ने उसमें कुछ तबदीलियाँ कराईं। जब फ़िल्म तैयार हुआ तो मैंने बड़ी हैरत से यह महसूस किया कि जो कहानी मैंने सोची थी, वह तो रद्दी काग़जों पर है और जो पर्दे पर चल रही है, वह महज़ उसका हल्का-सा साया है।

कहानी का क़िस्सा छोड़िए, मुझे कहना यह है कि 'बेगम' लिखने के दौरान में मुझे नसीम बानो को बहुत करीब से देखने के मवाक़े मिले। मैं और मुकर्जी दोपहर का खाना उनके घर पर खाते थे और हर रोज़ रात को देर तक कहानी में तर्मीमो-तन्सीख़ करने में मसरूफ़ रहते थे।

मेरा ख़याल था, नसीम बड़े आलीशान मकान में रहती है, लेकिन जब मैं घोड बंदर रोड पर उसके बँगले में दाख़िल हुआ तो मेरी हैरत की कोइ इंतिहा न रही। बंगला निहायत शिकस्ता हालत में था। बड़ा मामूली क़िस्म का फ़र्नीचर था जो ग़ालिबन किराए पर लाया गया था। घिसा हुआ कालीन, दीवारें और फ़र्श सील-जदा।

इस पस-मंज़र के साथ मैंने परीचेहरा नसीम बानो को देखा। बँगले के बरआमदे मे वह गुवाले से दूध के कूपनों के मुताल्लिक़ बात-चीत कर रही थी। उसकी दबी-दबी आवाज़ जो ऐसा मालूम होता था, कोशिश के साथ हलक़ से निकाली जा रही है, गुवाले से क़ुबूलवा रही थी कि उसने आध सेर दूध का हेर-फेर किया है। आध सेर दूध और परी चेहरा नसीम बानो, जिसके लिए कई फ़रहाद, दूध की नहरें निकालने के लिए तैयार थे—मैं चक्रा गया।

आहिस्ता-आहिस्ता मुझे मालूम हुआ कि 'पुकार' की नूरजहाँ बड़ी घरेलू क़िस्म की औरत है और उसमें वह तमाम ख़ुसूसियात मौजूद हैं, जो एक ग़ायत दर्जा घरेलू औरत में होती हैं। उस की पिक्चर 'बेगम' की प्रोडक्शन शुरू हुई तो मलबूसात का सारा काम उसने संभाल लिया। अंदाज़ा था कि दस बारह हज़ार रुपए उस मद पर उठ जाएँगे, मगर नसीम ने दर्जी घर में बैठाकर अपनी पुरानी साड़ियों, क़मीसों और ग़रारों से तमाम लिबास तैयार करवा लिए।

नसीम के पास बेशुमार कपड़े हैं। मैं इससे क़ब्ल कह चुका हूँ कि वह लिबास पहनती है, इस्तेमाल नहीं करती। उस पर हर लिबास सजता है। यही वजह है कि 'बेगम' में एस

मुकर्जी ने उसको कश्मीर के देहात की एक अल्लहड लड़की के रूप में पेश किया। उसको कलोपितरा बनाया। हीर का लबा कुर्ता और लाचा पहनाया। मोडर्न लिबास में भी पेश किया।

यक़ीने-वासिक़ था कि सिर्फ मलबूसात के तनव्वो ही के बाइस 'बेगम' बेहद मकबूल साबित होगी, मगर अफ़सोस कि निकम्मी डायरेक्शन और कमजोर म्यूजिक की वजह से उसने दरमियाने दर्जे के फ़िल्मों का बिज़नस किया।

हम सबने इस फिल्म की तैयारी पर बहुत मेहनत की थी, खासतौर पर मुकर्जी ने। हम सब देर तक, बाज़ औक़ात रात के तीन-तीन बजे तक बैठे काम करते रहते। मैं और मुकर्जी कहानी की नोक-पलक दुरुस्त करते रहते और नसीम और अहसान जागने की कोशिश करते रहते। जब तक अहसान साहब की टाँग हिलती रहती, वह मेरी और मुकर्जी की बाते सुनते रहते। लेकिन जूं ही उनकी टाँग हिलना बंद हो जाती, हम सब समझ जाते कि वह गहरी नीद सो गए हैं।

नसीम को इससे बडी झुंझलाहट होती थी कि उसका शौहर नींद का ऐसा माता है कि कहानी के निहायत ही दुश्वार-गुजार मोड़ पर लंबी तान कर सो जाता है। मैं और मुकर्जी अहसान को छेड़ते थे तो नसीम बहुत ही जुज़बुज होती थी। वह उनको अपनी तरफ से झझोड कर जगाती थी, मगर ऐसा मालूम होता कि लोरी देकर उन्हे और गहरी नीद सुला रही है—जब नसीम की आँखें भी मुंदने लगतीं तो मुकर्जी रुख्सत चाहते और चले जाते।

मेरा घर घोड बदर से बहुत दूर था। बर्की ट्रेन करीब-करीब पौन घटे मे मुझे वहाँ पहुँचाती थी। हर रोज निस्फ़ शब के बाद घर पहुँचता। एक अच्छा खासा अजाब था। मैंने जब इसका जिक्र मुकर्जी से किया तो यह तय हुआ कि मैं कुछ अर्से के लिए नसीम के ही यहाँ उठ आऊँ।

अहसान बेहद झेंपू हैं। कोई बात कहना हो तो बरसो लगा देते हैं। उन्हें मेरी आसाइश का खयाल था। वह चाहते थे कि जिस चीज की मुझे जरूरत हो, मैं उनसे बिला-तकल्लुफ कह दिया करूँ, मगर तकल्लुफ की यह हद थी कि वह हर्फे-मुद्दआ जबान पर ला ही नही पाते थे। आखिर एक रोज उनके इशारे पर नसीम ने मुझसे कहा . "तहानूं जिस चीज दी ज़रूरत होवे दस दिया करो।"

नसीम फस्ट क्लास पंजाबी बोलती थी। 'चल-चल रे नौजवान' के जमाने मे जब मैंने रफीक़ ग़ज़नवी से, जो उस पिक्चर में एक अहम रोल अदा कर रहा था, जिक्र किया कि नसीम पंजाबी बोलती है तो उसने अपने मखसूस अंदाज़ में मुझसे कहा : "तुम बकते हो " मैंने उसको यक़ीन दिलाने की कोशिश की, मगर वह न माना।

एक रोज शूटिंग के दौरान जब नसीम और रफ़ीक़ दोनों मौजूद थे, और अशोक अंग्रेजी के "ज़बान मरोड़" फ़िक्रे नसीम से कहलवाने की कोशिश कर रहा था तो मैंने रफीक से पूछा : "लाले, अद्धड़ोंजा किसे कहते हैं ?"

रफ़ीक़ ने जवाब दिया : "यह किस ज़बान का लफ़्ज़ है ?"

मैंने कहा : "पंजाबी का·· ? बताओ इसका क्या मतलब है ?"

रफ़ीक़ ने अपने मख़सूस अंदाज़ में कहा : "मैनूं मालूम नईं, ओ अद्धड़ोंजे दे पुत्तर।"

नसीम ने गर्दन में हल्का-सा ख़म देकर रफ़ीक़ की तरफ़ देखा और मुस्कराकर पंजाबी में उससे पूछा सच्ची, तहानूं मालूम नईं।"

रफ़ीक़ ने जब नसीम के मुँह से पंजाबी सुनी तो बक़ौल-शख़्से, वह अपनी पश्तो भूल गया। लुक्नंत भरे लहजे में उसने नसीम से उर्दू में कहा : "आप पंजाबी जानती हैं ?"

नसीम ने उसी तरह मुस्करा कर कहा : "जी हाँ।"

मैं नसीम से मुख़ातिब हुआ : "तो आप बताइए, अद्धड़ोंजे का मतलब क्या है ?"

नसीम ने कुछ देर सोचा . "वह लिबास जो घर में इस्तेमाल किया जाता है।"

रफ़ीक़ ग़ज़नवी अपनी पश्तो और ज़्यादा भूल गया।

नसीम की नानी अमृतसर की कश्मीरन थी। पंजाबी ज़बान उसने ग़ालिबन उसी से सीखी थी। उर्दू इसलिए बहुत शुस्ता व रफ़्ता बोलती है कि दिल्ली में अपनी माँ के साथ रही। अंग्रेज़ी जानती है, इसलिए कि कोन्वेन्ट में पढ़ती थी। मौसीक़ी से शग़फ़ रखती है, इसकी तालीम माँ ही से पाई, मगर माँ जैसा सुरीला गला न पाया। फ़िल्मों में अपने गाने ख़ुद ही गाती है, मगर उनमें रस नहीं होता। लेकिन अब मैंने सुना है कि उसने ख़ुद गाना तर्क कर दिया है।

नसीम के इर्द-गिर्द जो एक ख़ैराकुन हाला था, आहिस्ता-आहिस्ता ग़ाइब हो गया। मुझे उनके बँगले के ग़ुस्लख़ाने में पहली बार नहाने का इत्तिफ़ाक़ हुआ तो मुझे बड़ी नाउम्मीदी हुई। मेरा ख़याल था कि वह जदीद साज़ो-सामान से आरास्ता होगा। मुतादि्दद क़िस्म के नहानेवाले नमक होंगे, नायाब साबुन होगा, टब होगा। वह तमाम ऊट-पटाँग चीज़ें होंगी, जो हसीन औरतें और एक्ट्रेसें अपने हुस्न की अफ़्ज़ाइश के लिए इस्तेमाल करती हैं, मगर वहाँ सिर्फ़ एक जस्त की बाल्टी थी, एल्यूमीनियम का एक डोंगा और मलाड के कुएँ का भारी पानी कि साबुन घिसते रहो और झाग पैदा न हो।

लेकिन नसीम को जब भी देखो, तरो-ताज़ा और निखरी-निखरी नज़र आती थी। मेकअप करती थी मगर हल्का—शोख़ रंगों से उसे नफ़रत है। वह सिर्फ़ वही रंग इस्तेमाल करती है, जो उसके मिज़ाज़ के मुआफ़िक़ हों यानि मौतदिल।

इत्रयात से उसको इश्क़ है, चुनांचे अनवाओ-इक़्साम की ख़ुशबुआत उसके पास मौजूद रहती हैं। बाज़ सैंट तो बहुत ही क़ीमती और नायाब हैं। ज़ेवर एक से एक आला और बेश-क़ीमत है, मगर उनमें लदी-फंदी नहीं होती। कभी हीरे का एक कंगन पहन लिया, कभी जड़ाऊ चूड़ियाँ और कभी मोतियों का हार।

उनका दस्तरख़्वान मैंने कभी पुर-तकल्लुफ़ नहीं देखा। अहसान को दमे की शिकायत रहती है और नसीम को ज़ुकाम की। दोनों परहेज़ की कोशिश किया करते थे, नसीम मेरी हरी मिर्चें ले उड़ती थी और अहसान नसीम की प्लेट पर हाथ साफ़ कर देते थे। दोनों में खाने पर क़रीब-क़रीब हर रोज़ एक अजीब बचकाना क़िस्म की चख़ होती थी। दोनों की

निगाहें जब इस दौरान में एक दूसरे से टकरातीं तो देखनेवालों को साफ़ पता लग जाता कि वह मुहब्बत आशना हैं।

नसीम को जब मेरी बीवी ने अपने यहाँ मदऊ किया तो उसे सालनों में इस्तेमाल किया हुआ घी बहुत पसंद आया। खाने की मेज ही पर उसने पूछा: "यह घी आप कहाँ से मँगवाती हैं?"

मेरी बीवी ने जवाब दिया: "बाज़ार से पोल्सन का घी है आम मिलता है।"

नसीम ने कहा: "दो डब्बे मुझे मँगवा दीजिए।"

मैंने नौकर से कहा—वह फ़ौरन पासवाले स्टोर से, जिसके साथ मेरा हिसाब चलता था, दो डब्बे ले आया।

इसी तरह वह दो-दो करके आठ डब्बे ले गई—एक दिन मुझसे कहने लगी: "आप वह घी का हिसाब तो कर लीजिए।"

मैंने कहा: "इसकी क्या ज़रूरत है?"

लेकिन जब उसने इसरार किया तो मैंने कहा: "कुल आठ डब्बे होते हैं आप हिसाब कर लीजिए।"

नसीम ने कुछ देर सोचने के बाद कहा: आठ मेरा खयाल है, सात डब्बे आए हैं।"

"सात ही होंगे।"

"होंगे क्या, आप कहते हैं तो आठ ही होंगे।"

"आपने भी होंगे ही कहा।"

काफ़ी देर तक सात और आठ का हेर-फेर रहा। नसीम के हिसाब के मुताबिक डब्बे सात थे और मेरे और स्टोरवाले के हिसाब के मुताबिक आठ। फैसला यूँ ही हो सकता था कि हम में से एक, दूसरे का हिसाब मान ले, मगर जब बात हिसाब की थी तो कौन मानता—आख़िर नसीम ने अपने मुलाज़िम से कहा कि खाली डब्बे इकट्ठे करे। जब यह इकट्ठे करके नसीम के रूबरू पेश किए गए तो उनकी तादाद सात थी—नसीम ने फ़तेहाना अंदाज़ में मेरी तरफ़ देखा और कहा, "गिन लीजिए, सात हैं।"

मैंने फिर कहा: "सात ही होंगे, लेकिन मेरे हिसाब के मुताबिक आठ होते हैं।"

मुलाज़िम, नसीम से मुख़ातिब हुआ: "जी हाँ, आठ ही होते हैं एक भंगन ले गई थी।"

मैं उनसे पाँच सौ रुपए माहवार लेता था। हर महीने उसकी पाई-पाई का हिसाब होता था, लेकिन उसमें कभी सात और आठ का हेर फेर न हुआ। मियाँ-बीवी दोनों मेरे काम से मुतमइन थे, लेकिन मिस्टर अहसान किसी हद तक मेरी तेज तबीयत से नालाँ थे और उसका इज़हार वह अपनी हद से बढ़ी हुई पुरतकल्लुफ तबीयत के बाइस मुझ पर कभी न कर सके।

बज़ाहिर मिस्टर अहसान बहुत दबील क़िस्म के इन्सान हैं, मगर अपनी बीवी के मामले में बहुत सख़्तगीर वाक़े हुए हैं। नसीम को सिर्फ़ ख़ास-ख़ास लोगों से मिलने की इजाज़त है। आम एक्ट्रों और एक्ट्रेसों से नसीम को बात-चीत की मुमानअत है। वैसे

नसीम भी छिछोरों से नफ़रत करती है। शोरो-ग़ुल बर्पा करनेवाली पार्टियों से वह ख़ुद भी दूर रहती है—लेकिन एक दफ़ा उसे एक बहुत बड़े हंगामे में हिस्सा लेना पड़ा।

यह हंगामा, होली का हंगामा था। जिस तरह अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्स्टी की एक ट्रेडिशन बरखा के आग़ाज़ पर "मड पार्टी" है, उसी तरह बंबे टाकीज़ की एक ट्रेडिशन होली की रंग पार्टी थी। चूँकि फ़िल्मस्तान के क़रीब-करीब तमाम कारकुन बंबे टाकीज के मुहाजिर थे, इसलिए यह ट्रेडिशन यहाँ भी क़ाइम रही।

एस. मुकर्जी उन रंग पार्टी के लीडर थे। औरतों की कमान उनकी मोटी और हँसमुख बीवी[1] के सुपुर्द थी—मैं शाहिद लतीफ़ के हाँ बैठा था। शाहिद की बीवी इस्मत चुग़ताई और मेरी बीवी सफ़ीया, दोनों ख़ुदा मालूम क्या बातें कर रही थीं कि एकदम शोर बर्पा हुआ। इस्मत चिल्लाई: "लो सफ़ीया वह आ गए, लेकिन मैं भी "

इस्मत इस बात पर अड़ गई कि वह किसी को अपने ऊपर रंग फेंकने नहीं देगी। मुझे डर था कि उसकी यह ज़िद कहीं दूसरा रंग इख़्तियार न कर ले, क्योंकि रंग पार्टी वाले सब होली डे मूड में थे। ख़ुदा का शुक्र है कि इस्मत का मूड ख़ुद-बख़ुद बदल गया और वह चंद लम्हात ही में रंगो में लतपत भुतनी बनकर दूसरी भुतनियों में शामिल हो गई। मेरा और शाहिद लतीफ का हुलिया भी वही था जो होली के दूसरे भुतनों का था।

पार्टी में जब कुछ और लोग शामिल हुए तो शाहिद लतीफ ने बआवाजे-बुलंद कहा "चलो, परीचेहरा नसीम के घर का रुख करें।"

रंगों में ममल्लह गिरोह घोड बंदर रोड की ऊँची-नीची तारकोल लगी सतह पर बेढगे बेल-बूटे बनाता और शोर मचाता नसीम के बँगले की तरफ़ रवाना हुआ। चंद मिन्टों ही में हम सब वहाँ थे। शोर सुनकर नसीम और अहसान बाहर निकले। नसीम हल्के रँग की जारजट की साडी में मलबस और मेकअप की नोक-पलक निकाले जब हुजूम के सामने बरआमदे में नुमूदार हुई तो शाहिद ने बजन का हुक्म दिया, मगर मैंने उसे रोका: "ठहरो, पहले उनसे कहो, कपडे बदल आएँ।"

नसीम स कपड़े तबदील करने के लिए कहा गया तो वह एक अदा के साथ मुस्कराई: "यही ठीक हैं।"

अभी यह अल्फ़ाज उसके मुँह ही में थे कि होली की पिचकारियाँ बरस पड़ीं। चंद लम्हात ही में परी चेहरा नसीम बानो एक अजीबो-ग़रीब क़िस्म की ख़ौफ़नाक चुड़ेल में तबदील हो गई। नीले-पीले रंगो की तहों में जब उसके सफ़ेद और चमकीले दाँत और बड़ी-बड़ी आँखें नज़र आतीं तो ऐसा मालूम होता कि बहज़ादा बर्मानी की मुसव्विरी पर किसी बच्चे ने सियाही उंडेल दी है।

रंग बाज़ी ख़त्म होने पर कबड्डी शुरू हुई। पहले मर्दों का मैच शुरू हुआ, फिर औरतों का। यह बहुत दिलचस्प था। मिस्टर मुकर्जी की फर्बे बीवी जब भी गिरती, क़हक़हों का तूफ़ान बर्पा हो जाता। मेरी बीवी ऐनक पोश थी। शीशे रंग आलूद होने के बाइस उसे

1. अशोक कुमार की बहन

बहुत कम नजर आना था, चुनाँचे वह अक्सर गल्तन मस्त दौडने लगती। नसीम से भागा नहीं जाना था या वह यह ज़ाहिर करना चाहती थी कि वह इस मशक़्क़त की आदी नहीं। बहरहाल वह बराबर खेल में दिलचस्पी लेती रही।

नसीम और उसके मियाँ बड़े मज़हबी क़िस्म के आदमी हैं। मेरा मतलब उस क़िस्म के मज़हबी आदमियों से है जो उर्दू के अखबारों के पुर्ज़े उठाकर चूमते हैं और सर-आँखों पर लगाते हैं। शाम को एक सितारा देखते हैं तो और दो देखने के लिए सारा आसमान खँगालना शुरू कर देते हैं। दोनों तवह्हम-परस्त हैं, ख़ासतौर पर मियाँ अहसान। रेसकोर्स पर उनकी यह हालत देखनेवाली होती है। पास बहुत अच्छी टिप है। क़रीब है कि उस पर रुपया लगा दें कि एक काना आदमी पास से गुज़र गया। बस वहीं रुक जाएँगे। टिप का घोडा विन आ जाएगा तो नसीम से उलझ पड़ेंगे : "तुमने क्यों कहा था कि इस घोड़े पर न लगाना   नहीं आएगा।"

ऐसी हल्की-हल्की चख उनमें आम होती रहती थी, जो उनकी इज़्दिवाजी ज़िंदगी में रंग भरती रहती है।

नसीम के दो बच्चे हैं जो अकसर नानी के पास रहते हैं। वह उनको स्टूडियो की फज़ा से दूर रखना चाहती है। उसको अपने मर्हूम बाप से बहुत प्यार है। उनका फोटो हर वक्त उसके वेनिटी बैग में मौजूद रहता है—मुझे औरतो के बैग चोरी-चोरी देखने का बहुत शौक है। एक रोज़ मैं हस्बे-आदत नसीम का बैग खोलकर यह फोटो देख रहा था कि वह आ गई। मैंने उससे कहा : "माफ कीजिएगा, यह मेरी बहुत बुरी आदत है   बताइए, यह किसका फोटो है ?"

नसीम ने फोटो हाथ में लेकर उसको प्यार भरी नज़रों से देखा और कहा : "मेरे अब्बा जी का।"

मुझे ऐसा महसूस हुआ कि एक छोटी-सी बच्ची है, जो मुझसे यूँ कह रही है : "मेरे अब्बा जी का और किसका ?"

मैंने उससे यह न पूछा कि वह कौन हैं, कहाँ हैं—क्या यही काफी न था कि वह उस के बाप हैं   नहीं, उसके अब्बाजी हैं।

जेल का यह वाक़िआ बयान करने के बाद मैं यह मज़्मून खत्म करूँगा :

'बेगम' लिखने के दौरान में मिस्टर मुकर्जी के साथ एक मन्जर पर बहसो-तम्हीस करते-करते बहुत देर हो गई। रात के दो बजे थे। सुबह की पहली गाडी साढ़े तीन बजे मिलती थी। मेरी बीवी साथ थी। जब हमने रुख्सत चाही तो नसीम ने कहा : "नहीं सफीया, यहीं ठहर जाओ   यह भी कोई वक्त है जाने का ?"

हमने बहुत कहा कि कोई बात नहीं, मौसम अच्छा है, कुछ देर प्लेटफार्म पर टहलेंगे, इतने में गाड़ी आ जाएगी। मगर नसीम और अहसान ने बहुत इसरार किया कि हम ठहर जाएँ। मुकर्जी चले गए, इसलिए कि उनके पास मोटर थी और उन्हें बहुत दूर भी नहीं जाना था। मैं बाहर बरआमदे में सो गया। अहसान वहीं कमरे में सोफे पर लेट गए।

सुबह नाश्ता करके जब मैं और सफ़ीया घर चले तो रास्ते में सफ़ीया ने मुझे यह बात

सुनाई जो दिलचस्पी से ख़ाली नहीं।

जब सफ़ीया और नसीम सोने के लिए कमरे में दाख़िल हुई तो वहाँ एक पलँग था। सफ़ीया ने इधर-उधर देखा और नसीम से कहा : "आप सो जाइए।"

नसीम मुस्कराई और पलँग पर नई चादर बिछाकर कहने लगी . "कपड़े तो बदल लें।" कहकर उसने एक नया स्लिपिंग सूट निकाला : "यह तुम पहन लो बिलकुल नया है।"

"बिलकुल नया" पर ज़ोर था, जिसका मतलब मेरी बीवी समझ गई और लिबास तबदील करके बिस्तर पर लेट गई। नसीम ने इत्मीनान से आहिस्ता-आहिस्ता शब-ख़्वाबी का लिबास पहना। जब उसने चेहरे का मेकअप उतारा तो सफ़ीया ने हैरतज़दा होकर कहा : "हाय, तुम कितनी पीली हो नसीम!"

नसीम के फीके होंठो से मुस्कराहट नमूदार हुई · "यह सब मेकअप की कारस्तानी है।"

मेकअप उतारने के बाद उसने चेहरे पर मुख़्तलिफ़ रोग़नयात मले और हाथ धोकर कुरान उठाया और तिलावत शुरू कर दी।

मेरी बीवी बेहद मुतास्सिर हुई। बेइख़्तियार उसके मुँह से निकला : "नसीम, ख़ुदा की क़सम, तुम तो हम लोगों से कहीं अच्छी हो।"

इस अहसास से कि यह बात उसने ढँग से नहीं कही, सफ़ीया एकदम ख़ामोश हो गई।

कुरान की तिलावत करने के बाद नसीम सो गई।

परीचेहरा नसीम—'पुकार' की नूरजहाँ—मलिकाए-हुस्न—अहसान की रौशन—छमियाँ की बेटी और दो बच्चों की माँ!

नर्गिस

अर्सा हुआ, नवाब छतारी की साहबजादी तस्नीम[1] ने मुझे एक खत लिखा था

"तो क्या ख़याल है आपका अपने बहनोई के मुताल्लिक? वह जो अंदाजा आपकी तरफ़ से लगाकर लौटे हैं, उससे तो मुझे अपने लिए शादी मर्ग का अंदेशा हुआ जाता है। अब मैं आपको तफ़सील से बता दूँ कि यह हजरत मुझे आपके नाम से छेड़ा करते थे। और उनका ख़याल था कि जब वह मेरे नादीदा भाई से मिलेंगे तो न जाने क्या-क्या हिमाकतें सरज़द होंगी और मुझे शर्मिंदगी होगी—और अब परसों से मुसिर हैं कि बंबई चलकर मंटो से मिलो। मंटो बहुत ही दिलचस्प आदमी है—और इस तरह कहते हैं, गोया मंटो मेरे बजाए उनका भाई है। और मैं हमेशा से कहती थी कि देखना यह हजरत कैसे निकलते हैं—जबरदस्ती तो मुलाहिज़ा कीजिए—बहरहाल बहुत खुश हैं कि मेरा इंतिख़ाब बहुत खूब रहा—हमारे बिरादरे-मोहतरम यानि इब्न भाई, सलीम से क़ब्ल ही पहुँच गए थे और उन्होंने सबसे क़ब्ल यही बात बताई कि वह आपसे नियाज़ हासिल करके आए हैं। नर्गिस का ज़िक्र अमदन गोल करके बाक़ी सब तफ़सील से बता दिया। फिर जब सलीम आए तो उन्होंने न सिर्फ़ दास्ताने-जब्बामाई बताई बल्कि आपकी और नख़शब की जंग का वाक़िआ भी दिलचस्पी से बयान किया। इस सिलसिले में सलीम माफ़ी ख़्वाह हैं। दोबारा जद्दन बाई के यहाँ जाने के मुहर्रिक शमशाद भाई थे, जो आपसे मिल चुके हैं। उनसे मुमकिन होता तो आपसे अलावा न जाते। और यह तो आप भी जानते हैं कि सलीम को अगर इश्क हुआ है तो लीला चिटनिस से। वर्ना ऐसे बदनज़र भी नहीं।

मैं बहुत मसरूफ़ था, जब सलीम मेरे यहाँ आए। उनसे मेरी पहली मुलाक़ात थी, और बक़ौल तस्नीम के वह मेरे बहनोई थे, इसलिए उनकी ख़ातिरदारी के सिवा और कोई चारा नहीं था। घर में जो हाज़िर था उनकी और उनके मुसाहिबों की ख़िदमत में पेश कर दिया। फ़िल्म से मुताल्लिक़ लोगों के पास एक नाहक़ की चीज़ "शूटिंग" होती है, चुनांचे वह भी उनको श्री साउंड स्टूडियो में दिखा दी गई। गालिबन 'फ़न' की थी जिसे डायरेक्टर धर्म यानि आसिफ़ बना रहा था।

सलीम और उनके साथियों को बज़ाहिर मुतमइन हो जाना चाहिए था, मगर ऐसा

1. मिसेज़ तस्नीम सलीम छतारी [illegible]

मालूम होता है कि वह अपना प्रोग्राम बनाकर बंबे पहुँचे थे—सलीम , बरसबीले-तज्किरा मुझसे पूछा "क्यो साहब, नर्गिस कहाँ होती है आजकल ?"

मैंने अजराह-मजाक कहा "अपनी माँ के पास।"

मेरा मजाक गैर तबुइ मौत की गोद मे चला गया, जब मेरे मेहमानो मे से एक ने बडी नव्वाबाना सादा लोही से कहा "जद्दन बाई के पास ?"

"जी हाँ।"

सलीम ने पूछा "क्या उससे मुलाकात हो सकती है मेरा यह मतलब है कि मेरे यह दोस्त उसको देखने के बहुत मुश्ताक हैं क्या आप उसको जानते हैं ?"

मैंने जवाब दिया "जानता हूँ, मगर मामूली सा।"

एक साहब ने बडे बेढब अंदाज मे सवाल किया "क्यो ?"

इसलिए कि उसे और मुझे अभी तक किसी फिल्म मे इकट्ठे काम करने का मौका नही मिला।"

सलीम ने यह सुनकर कहा "तो छोडिए हम आपको ख्वाहमख्वाह तकलीफ देना नही चाहते।"

लेकिन मै खुद नर्गिस के हाँ जाना चाहता था। कई दफा इरादा किया था, मगर अकेला जाना मुझे पसंद नही था। साथ मिलता तो था मगर निहायत ही बेहूदा, यानि दीदे फाड-फाड कर घूरनेवाला। अब मौका था। आदमी सादा लोह थे। महज अय्याशी के तौर पर नर्गिस को एक नजर देखना चाहते थे ताकि वापस अपनी जागीरो और रियासतो मे जाकर अपने दोस्तो और मुसाहिबो को मशहूर फिल्म स्टार नर्गिस के चश्मदीद हालात सुनाएँ—चुनांचे मैंने सलीम से कहा "तकलीफ की कोई बात नही। चलते हैं, मुमकिन है मुलाकात हो जाए।"

मै नर्गिस से क्यो मिलना चाहता था ? बंबे मे इतनी एक्ट्रेसे थी, जिनके हाँ मैं जब चाहता, आ जा सकता था, मगर खासतौर पर नर्गिस से मिलने का मतलब क्या था ? मेरा खयाल है, इसका जवाब देने से पहले मैं आपको एक दिलचस्प वाकिआ सुना दूँ।

मै फिल्मिस्तान मे मुलाजिम था। सुबह जाता तो शाम को आठ के करीब लौटता। एक रोज इत्तिफाक से वापसी जल्दी हुई, यानि मैं दोपहर ही के करीब घर पहुँच गया। अंदर दाखिल हुआ तो सारी फजा मुतंइश नजर आई, जैसे कोई साज के तार छेडकर खुद छुप गया है। ड्रेसिंग टेबिल के पास मेरी दो सालियाँ खडी बजाहिर अपने बाल गूँध रही थी, मगर उनकी उँगलियाँ हवा मे चल रही थी। होठ दोनो के फडफडा रहे थे, मगर आवाज नही निकलती थी। दोनो मिल जलकर घबराहट की ऐसी तस्वीर पेश कर रही थी जो अपनी घबराहट छुपाने की खातिर बेमतलब दोपट्टा ओढने की कोशिश कर रही हो। मुलहिका कमरे के दरवाजे का पर्दा अंदर की तरफ दबा हुआ था।

मै सोफे पर बैठ गया। दोनो बहनो ने एक दूसरे की तरफ कुसूरवार निगाहो से देखा। हाले-होल खुसर-फुसर की। फिर दोनो ने बयक वक्त कहा. "भाजी सलाम।"

"वालेकुम अस्सलाम।" मैंने गौर से उनकी तरफ देखा "क्या बात है ?"

मैंने सोचा सब मिलकर सिनेमा जा रही हैं। दोनों ने मेरा सवाल सुनकर खुसर-फुसर की। फिर एकदम खिलखिला कर हसीं और दूसरे कमरे में भाग गईं।

मैंने सोचा कि शायद उन्होंने अपनी किसी सहेली को मदऊ किया है। वह आने वाली है और चूँकि मैं ग़ैर मुतवक़्क़े तौर पर जल्द चला आया हूँ, इसलिए उनका प्रोग्राम दरहम बरहम हो गया है।

दूसरे कमरे में कुछ देर तक तीनों बहनों में सरगोशियाँ होती रहीं। दबी-दबी हँसी की आवाज़ें भी आती रहीं। इसके बाद सबसे बड़ी बहन यानि मेरी बीवी बज़ाहिर अपनी बहनों से मुख़ातिब, मगर दरअसल मुझे सुनाने के लिए यह कहती हुई बाहर निकली : "मुझे क्या कहती हो। कहना है तो ख़ुद उनसे कहो˙ सआदत साहब, आज बहुत जल्दी आ गए ?"

मैंने वजह बयान कर दी कि स्टूडियों में कोई काम नहीं था, इसलिए चला आया। फिर अपनी बीवी से पूछा : "क्या कहना चाहती हैं मेरी सालियाँ ?"

"यह कहना चाहती हैं कि नर्गिस आ रही है।"

"तो क्या हुआ आए। क्या वह पहले कभी नहीं आई ?"

मैं समझा कि वह उस पारसी लड़की की बात कर रही हैं, जिसकी माँ ने एक मुसलमान से शादी कर ली थी और हमारे पड़ौस में रहती थी। मगर मेरी बीवी ने कहा. "हाय, वह पहले कब हमारे हाँ आई है ?"

"तो क्या वह कोई और नर्गिस है ?"

"मैं नर्गिस एक्ट्रेस की बात कर रही हूँ।"

मैंने ताज्जुब से पूछा : "वह क्या करने आ रही है यहाँ ?"

मेरी बीवी ने मुझे सारा क़िस्सा सुनाया—घर में टेलीफ़ोन था, जिसे तीनों बहनें फ़ुर्सत के औक़ात मे बड़ी फराखदिली मे इस्तेमाल करती थीं। जब अपनी सहेलियों से बातें करती-करती थक जातीं तो किसी एक्ट्रेस का नंबर घुमा देतीं। वह मिल जाती तो उससे ऊटपटाँग गुफ़्तगू शुरू हो जाती : "हम आपकी बहुत मद्दाह हैं। आज ही दिल्ली से आई हैं। बड़ी मुश्किलों से आपका नंबर हासिल किया है। आपसे मुलाकात करने के लिए तड़प रही हैं। ज़रूर हाज़िर होतीं मगर पर्दे की पाबंदी है आप बहुत हसीन हैं। चांदे-आफ़ताब चांदे-माहताब। गला माशा-अल्लाह बहुत ही सुरीला है " हालाँकि उनको मालूम होता था कि उसमें अमीर बाई बोलती है या शमशाद।

आमतौर पर मशहूर फ़िल्म एक्ट्रेसो के टेलीफोन नंबर डायरेक्ट्री में दर्ज नही होते। वह ख़ुद नहीं कराती कि उनके चाहने वाले बेकार तंग न करें, मगर इन तीनो बहनों ने मेरे दोस्त आग़ा ख़लिश काश्मीरी के ज़रिए से करीब-करीब उन तमाम एक्ट्रेसों के फोन नंबर मालूम कर लिए थे, जो उन्हें डायरेक्ट्री में नहीं मिले थे।

इस टेलीफ़ूनी शग़्ल के दौरान में जब उन्होंने नर्गिस को बुलाया और उससे बातचीत की तो वह उन्हें बहुत पसंद आ गई। उस गुफ़्तगू में उनको अपनी उम्र की आवाज़ सुनाई दी। चुनांचे गुफ़्तगूओं ही में वह उससे बेतकल्लुफ़ हो गईं, मगर अपनी असलियत छुपाई रखी। एक कहती, वह अफ़्रीक़ा की रहने वाली है। वही दूसरी बार यह बताती कि लखनऊ

से अपनी ख़ाला के पास आई है। दूसरी यह ज़ाहिर करती कि वह रावलपिंडी की रहने वाली है और सिर्फ़ इसलिए बंबई आई है कि उसे नर्गिस को एक बार देखना है। तीसरी यानि मेरी बीवी कभी गुजरातन बन जाती, कभी पारसन।

टेलीफ़ोन पर कई बार नर्गिस ने झुंझलाकर पूछा : "तुम लोग असल में कौन हो। क्यों अपना नाम पता छुपाती हो। साफ़-साफ़ क्यों नहीं बतातीं कि यह रोज़-रोज़ की टन-टन ख़त्म हो।" ज़ाहिर है कि नर्गिस उनसे मुतास्सिर थी। उसको यक़ीनन अपने सैकड़ों मद्दाहों के फ़ोन आते होंगे, मगर यह तीन लड़कियाँ उनसे कुछ मुख़्तलिफ़ थीं। इसलिए वह सख़्त बेचैन थी कि उनकी असलियत जाने और उनसे मिले-जुले। चुनांचे जब भी उसे मालूम होता कि उन पुर असरार लड़कियों ने उसे बुलाया है तो वह सौ काम छोड़कर आती और बहुत देर तक टेलीफ़ोन के साथ चिपकी रहती।

एक दिन नर्गिस के पैहम इसरार पर बिलआख़िर तय हो गया कि उनकी मुलाक़ात होके रहेगी। मेरी बीवी ने अपने घर का पता अच्छी तरह समझा दिया और कहा कि अगर फिर भी मकान मिलने में दिक़्क़त हो तो बाईकल्ला के पुल के पास किसी होटल से टेलीफ़ोन कर दिया जाए, वह सब वहाँ पहुँच जाएँगी।

जब मैं घर में दाख़िल हुआ, तभी बाईकल्ला पुल के एक स्टोर से नर्गिस ने फ़ोन किया था कि वह पहुँच चुकी है, मगर मकान नहीं मिल रहा। चुनांचे तीनों अफ़रा-तफरी के आलम में तैयार हो रही थीं कि मैं बलाए-नागहानी की तरह पहुँच गया।

छोटी दो का ख़याल था कि मैं नाराज हूँगा। बडी यानि मेरी बीवी महज बौखलाई हुई थी कि यह सब क्या है— मैंने नाराज़ होने की कोशिश की मगर मुझे इसके लिए कोई माकूल जवाज़ न मिला। सारा क़िस्सा काफ़ी दिलचस्प और बेहद मासूम था। अगर "कान-मिचोली" की यह हरकत सिर्फ़ मेरी बीवी से सरज़द हुई होती तो बिल्कुल जुदा बात थी। एक साली आधी घरवाली होती है और यहाँ दो सालियाँ थीं। पूरा घर ही उनका था। मैं जब उठा तो दूसरे कमरे में ख़ुश होने और तालियाँ बजाने की आवाज़ें बुलंद हुईं।

बाइकल्ला के चौक में जद्दन बाई की लंबी चौड़ी मोटर खडी थी— मैंने सलाम किया तो उसने हस्बे मामूल बड़ी बुलंद आवाज में उसका जवाब दिया और पूछा : "कहो मंटो, कैसे हो?"

मैंने कहा : "अल्लाह का शुक्र है कहिए आप यहाँ क्या कर रही हैं?"

जद्दन बाई ने पिछली निशस्त पर बैठी हुई नर्गिस की तरफ़ देखा : "कुछ नहीं बेबी को अपनी सहेलियों से मिलना था, मगर उनका मकान नहीं मिल रहा"

मैंने मुस्करा कर कहा : "चलिए, मैं आपको ले चलूँ।"

नर्गिस यह सुनकर खिड़की के पास आ गई : "आपको उनका मकान मालूम है?"

मैंने और ज़्यादा मुस्करा कर कहा "क्यों नहीं अपना मकान कौन भूल सकता है?"

जद्दन बाई के हलक़ ने अजीब-सी आवाज़ निकाली। पान के बीड़े को दूसरे कल्ले में तबदील करते हुए कहा : "यह तुम क्या अफ़्साना निगारी कर रहे हो?"

मैं दरवाज़ा खोलकर जद्दन बाई के पास बैठ गया : "बीबी, यह अफ्साना निगारी मेरी

नहीं है। मेरी बीवी और उसकी बहनों की है।" इसके बाद मैंने मुख़्तसरन तमाम वाक़िआत बयान कर दिए। नर्गिस बड़ी दिलचस्पी से सुनती रही। जद्दन बाई को बहुत कोफ़्त हुई : "लाहौल वला... यह कैसी लड़कियाँ हैं। पहले ही दिन कह दिया होता कि हम मंटो के घर से बोल रही हैं।... ख़ुदा की क़सम, मैं फ़ौरन बेबी को भेज देती। भई हद हो गई है। इतने दिन परेशान किया... ख़ुदा की क़सम, बेचारी बेबी को इतनी उलझन होती थी कि मैं तुम से क्या कहूँ। जब टेलीफ़ोन आता, भागी-भागी जाती... मैं हज़ार पूछती, यह कौन हैं जिनसे इतनी देर मीठी-मीठी बातें होती हैं। मुझसे कहती, कोई हैं। जानती नहीं, कौन हैं, मगर है बड़ी अच्छी। दो एक बार मैंने भी टेलीफ़ोन उठाया। गुफ़्तगू माशा-अल्लाह बड़ी शाइस्ता थी। किसी अच्छे घर की मालूम होती थीं। मगर माफ़ करना, कमबख़्त अपना नाम पता साफ़ बताती ही नहीं थीं। आज बेबी आई। ख़ुशी से दीवानी हो रही थी। कहने लगी, बीबी, उन्होंने बुलाया है। अपना एडरेस दे दिया है। मैंने कहा, पागल हुई हो। हटो, जाने कौन हैं, कौन नहीं हैं। पर उसने मेरी एक न मानी, बस पीछे पड़ गई। चुनांचे मुझे साथ आना ही पड़ा... ख़ुदा की क़सम, अगर मालूम होता कि यह आफतें तुम्हारे घर की हैं..."

मैंने बात काटकर कहा : "तो साथ आप नाज़िल न होतीं।"

जद्दन बाई के कल्ले में दबे हुए पान में चौड़ी मुस्कराहट पैदा हुई : "इसकी ज़रूरत ही क्या थी... मैं क्या तुम्हें जानती नहीं ?"

मर्हूमा को उर्दू अदब से शग़फ़ था। मेरी तहरीरें बड़े शौक़ से पढ़ती और पसंद करती थीं। उन दिनों मेरा एक मज़्मून "साक़ी" में शाए हुआ था, ग़ालिबन "तरक्क़ीयाफ़्ता क़ब्रिस्तान"। मालूम नहीं उनका ज़हन क्यों उस तरफ़ चला गया : "ख़ुदा की क़सम मंटो, बहुत ख़ूब लिखते हो। ज़ालिम, क्या तंज़ किया है इस मज़्मून में... क्यों बेबी, उस दिन क्या हाल हुआ था मेरा यह मज़्मून पढ़कर।"

मगर नर्गिस अपनी नादीदा सहेलियों के मुताल्लिक सोच रही थी। इज़्तिराब भरे लहजे में उसने अपनी माँ से कहा : "चलो बीबी।"

जद्दन बाई मुझसे मुख़ातिब हुई : "चलो भाई।"

घर पास ही था। मोटर स्टार्ट हुई और हम पहुँच गए। ऊपर बालकनी से तीनों बहनों ने हमें देखा। छोटी दो का मारे ख़ुशी के बुरा हाल हो रहा था। ख़ुदा मालूम आपस में क्या खुसर-पुसर कर रही थीं। जब हम ऊपर पहुँचे तो अजीबो-ग़रीब तरीक़े पर सबकी मुलाक़ात हुई। नर्गिस अपनी हम उम्र लड़कियों के साथ दूसरे कमरे में चली गई और मैं, मेरी बीवी और जद्दन बाई वहीं बैठ गए।

बहुत देर तक मुख़्तलिफ़ ज़ावियों से कान मिचोली के सिलसिले पर तब्सिरा किया गया। मेरी बीवी की बौखलाहट जब किसी क़द्र कम हुई तो उसने मेज़बानी के फ़राइज़ सरंजाम देने शुरू कर दिए।

मैं और जद्दन बाई फ़िल्म इंडस्ट्री के हालात पर तबादलाए-ख़यालात करते रहे। पान खाने के मामले में बड़ी ख़ुश-ज़ौक़ थीं। हर वक्त अपनी पंदनिया साथ रखती थीं।

बड़ी देर के बाद मौका मिला था, इसलिए मैंने उस पर ख़ूब हाथ साफ़ किया।

नर्गिस को मैंने एक मुद्दत के बाद देखा था। दस-ग्यारह बरस की बच्ची थी, जब मैंने एक दो मर्तबा फ़िल्मों की नुमाइशे-उज़मा में उसे अपनी माँ की उँगली के साथ लिपटी देखा था। चुंधियाई हुई आँखें, बेकशिश-सा लंबोतरा चेहरा, सूखी-सूखी टाँगें। ऐसा मालूम होता था, सो के उठी है या सोने वाली है। मगर अब वह एक जवान लड़की थी। उम्र ने उसकी ख़ाली जगहें पुर कर दी थीं, मगर आँखें वैसी की वैसी थीं। छोटो और ख़्वाब-ज़दा—बीमार-बीमार—मैंने सोचा इस रिआयत से इसका नाम नर्गिस मौज़ूँ व मुनासिब है।

तबीयत में निहायत ही मासूम खिलंदड़ापन था। बार-बार अपनी नाक पोंछती थी जैसे अज़ली ज़ुकाम की शिकार है— ''बरसात'' में इसको अदा के तौर पर पेश किया गया है—मगर उसके उदास-उदास चेहरे से साफ़ अयाँ था कि वह अपने अंदर किर्दार निगारी का जोहर रखता है। होटों को किसी क़द्र भींच कर बात करने और मुस्कराने में गो बज़ाहिर एक बनावट थी, मगर साफ़ पता चलता था कि यह बनावट सिंगार का रूप इख़्तियार करके रहेगी। आखिर किर्दार निगारी की बुनियादें बनावट ही पर तो उस्तुवार होती हैं।

एक बात जो ख़ास तौर पर मैंने महसूस की, वह यह है कि नर्गिस को इस बात का कामिल एहसास था कि वह एक दिन बहुत बड़ी स्टार बनने वाली है। मगर यह दिन क़रीबतर लाने और उसे देखकर ख़ुश होने में उसे कोई उजलत नहीं थी। उस के अलावा वह अपने लड़कपन की नन्ही मुन्नी ख़ुशियाँ घसीट कर बड़ी-बड़ी बेहंगम ख़ुशियों के दाइरे में नहीं ले जाना चाहती थी।

तीनों हम उम्र लड़कियाँ दूसरे कमरे में जो बातें कर रही थीं, उनका दाइरा घर और कोन्वेंट की चारदीवारी तक महदूद था। फ़िल्म स्टूडियों में क्या होता है, रोमांस क्या बला है, इससे उनको कोई दिलचस्पी नहीं थी। नर्गिस भूल गई थी कि वह फ़िल्म स्टार है, पर्दे पर जिसकी अदाएँ बिकती हैं। और उसकी सहेलियाँ भी यह भूल गई थीं कि नर्गिस स्क्रीन पर बुरी-बुरी हरकतें करने वाली एक्ट्रेस है।

मेरी बीवी जो उम्र में नर्गिस से बड़ी थी, अब उसकी आमद पर बिल्कुल बदल गई थी। उसका सुलूक उससे ऐसा ही था, जैसा अपनी छोटी बहनों से था। पहले उसको नर्गिस से इसलिए दिलचस्पी थी कि वह फ़िल्म एक्ट्रेस है जो पर्दे पर बड़ी ख़ूबी से नित नए मर्दों से मुहब्बत करती है। हँसती है, आहें भरती है। कुदक्कड़े लगाती है। अब उसे ख़याल था कि वह खट्टी चीज़ें न खाए। बहुत ठंडा पानी न पिए। ज़्यादा फ़िल्मों में काम न करे। अपनी सेहत का ख़याल रखे। अब उसके नज़दीक नर्गिस का फ़िल्मों में काम करना कोई मायूब बात नहीं थी।

नरगिस को मैंने एक मुद्दत के बाद देखा था। दस-ग्यारह बरस की बच्ची थी जब मैंने एक-दो मरतबा फ़िल्मों की नुमाइशे-अज़्मा में उसे अपनी माँ की उँगली के साथ लिपटी देखा था। चौंधियाई हुई आँखें, बेकशिश सा लंबोतरा चेहरा, सूखी-सूखी टाँगें—ऐसा मालूम होता था, सो के उठी है या सोनेवाली है। मगर अब वह एक जवान लड़की थी। उम्र

ने उसकी ख़ाली जगहें पुर कर दी थीं, मगर आँखें वैसी की वैसी थीं। छोटी और ख़्वाबज़दा[2]—बीमार-बीमार—मैंने सोचा, इस रिआयत से इसका नाम नरगिस मौज़ूँ-अ/ो-मुनासिब है।

तबीयत में निहायत ही मासूम खिलंदरापन था। बार-बार अपनी नाक पोंछती थी जैसे अज़ली ज़ुकाम की शिकार है—'बरसात' में इसको अदा के तौर पर पेश किया गया है—मगर उसके उदास-उदास चेहरे से साफ़ अयाँ[3] था कि वह अपने अंदर किरदारी निगारी[4] का जौहर रखता है। होंटों को किसी क़दर भींचकर बात करने और मुस्कुराने में गो बज़ाहिर एक बनावट थी, मगर साफ़ पता चलता था कि यह बनावट सिंगार का रूप अख़्तियार करके रहेगी। आख़िर किरदारनिगारी की बुनियादें बनावट ही पर तो उस्तवार[5] होती हैं।

एक बात जो ख़ास तौर पर मैंने महसूस की, वह यह है कि नरगिस को इस बात का कामिल[6] एहसास था कि वह एक दिन बहुत बड़ी स्टार बननेवाली है। मगर यह दिन क़रीबतर लाने और उसे देखकर ख़ुश होने में उसे कोई उजलत[7] नहीं थी। उसके अलावा वह अपने लड़कपन की नन्ही-मुन्नी ख़ुशियाँ घसीटकर बड़ी-बड़ी बेहंगम ख़ुशियों के दायरे में नहीं ले जाना चाहती थी।

तीनों हमउम्र लड़कियाँ दूसरे कमरे में जो बातें कर रही थीं, उनका दायरा घर और कान्वेंट की चारदीवारी तक महदूद था। फ़िल्म स्टूडियो में क्या होता है, रोमांस क्या बला है, इससे उनको कोई दिलचस्पी नहीं थी। नरगिस भूल गई थी कि वह फ़िल्म स्टार है, परदे पर जिसकी अदाएँ बिकतीं हैं। और उसकी सहेलियाँ भी यह भूल गई थीं कि नरगिस स्क्रीन पर बुरी-बुरी हरकतें करनेवाली एक्ट्रेस है।

मेरी बीवी जो उम्र में नरगिस से बड़ी थी, अब उसकी आमद पर बिलकुल बदल गई थी। उसका सुलूक उससे ऐसा ही था, जैसा अपनी छोटी बहनों से था। पहले उसको नरगिस से इसलिए दिलचस्पी थी कि वह फ़िल्म एक्ट्रेस है जो परदे पर बड़ी ख़ूबी से नित नए मरदों से मुहब्बत करती है। हँसती है, आहें भरती हैं। कुदक्कड़े लगाती है। अब उसे ख़याल था कि वह खट्टी चीज़ें न खाए। बहुत ठंडा पानी न पिए। ज़्यादा फ़िल्मों में काम न करे। अपनी सेहत का ख़याल रखे। अब उसके नज़दीक नरगिस का फ़िल्मों में काम करना कोई मायूब[8] बात नहीं थी।

मैं, मेरी बीवी और जद्दनबाई इधर-उधर की बातों में मशग़ूल थे कि आपा सआदत आ गईं। मेरी हमनाम हैं और बड़ी दिलचस्प चीज़ हैं। तसन्नो[9] से लाखों मील दूर—हस्बमामूल[10] वह इस अंदाज़ से आईं कि जद्दनबाई से उनको मुतार्रिफ़[11] कराने का हमें मौक़ा ही न मिला। अपने दो-ढाई मन के वजूद के बोझ को सोफ़े पर हलका करते हुए बोलीं : "सफ़्फ़ोजान, तुम्हारे भाईजान से मैंने लाख कहा था कि ऐसी मुरदार मोटर न ख़रीदो, मगर उन्होंने एक न सुनी···दो क़दम चली होगी कि हाँपने लगी और खड़ी हो गई। अब खड़े हैंडल मार रहे हैं। मैंने कहा, आप जाइए, मैं तो सफ़्फ़ो के पास बैठती हूँ।"

जद्दनबाई ग़ालिबन किसी नवाब की बात कर रही थीं जो बहुत अय्याश था। आपा सआदत की वजह मे यह बात मुकम्मल न हो सकी थी। जब फिर शुरू हुई तो आपा सआदत ने भी उसमें हिस्सा लेना शुरू कर दिया। काठियावाड़ की क़रीब-क़रीब तमाम रियासतों और उनके नवाबों को वह अच्छी तरह जानती थीं, क्योंकि रियासत मांगरौल के नवाबी खानदान में ब्याही गई थीं।

जद्दनबाई अपने पेशे की वजह से तमाम वालियाने-रियासत[12] को अच्छी तरह जानती-पहचानती थीं। बातों-बातों मे एक बड़ी सियासतखोर क़िस्म की तवायफ़ का ज़िक्र छिड़ गया। आपा सआदत शुरूअ हो गईं. "ख़ुदा उनसे महफ़ूज़ रखे। जिसके साथ चिमटती हैं, उसको दीन का रखती हैं न दुनिया का। दौलत बरबाद, सेहत बरबाद, इज़्ज़त बरबाद। सफ़्फ़ोजान, मैं तुम्हें क्या बताऊँ, सौ बीमारियों की एक बीमारी है यह तवायफ़।"

मैं और मेरी बीवी सख़्त परेशान कि आपा सआदत को कैसे रोकें। जद्दनबाई बड़ी फराखदिली से आपा सआदत की हाँ में हाँ मिला रही थीं और हम दोनो पसीना-पसीना हुए जा रहे थे। एक-दो बार मैंने उनको रोकने की कोशिश की मगर वह और ज़्यादा जोश में आ गईं। जी भर के गालियाँ देने लगीं—यकलख़्त उन्होंने जद्दनबाई की तरफ़ देखा। उनके सफ़ेद गोश्त भरे चेहरे पर एक अजीबोगरीब थरथरी पैदा हुई। उनकी नाक की कील का हीरा गरदन की जुंबिश के साथ दो-तीन दफ़ा बड़ी तेज़ी से चमका और फिर उनका मुँह खुला। जोर से अपनी रानो पर दोहत्थड़ मारकर उन्होंने तुतलाते हुए लहजे में जद्दनबाई से कहा· "आप आप तो जद्दन आप जद्दनबाई हैं ना! "

जद्दनबाई ने बड़ी मतानत से जवाब दिया: "जी हाँ।"

आपा सआदत का मुँह और ज़्यादा खुला: "ओह तो आप मेरा मतलब है कि आप तो बहुत ऊँची तवायफ़ हैं क्यो सफ़्फ़ोजान?"

सफ्फ़ोजान बर्फ़ हो गई। मैंने जद्दनबाई की तरफ़ देखा और मुस्कुराया। मेरा ख़याल है, बहुत ही वाहियात क़िस्म की मुस्कुराहट थी। जद्दनबाई ने यूँ जाहिर किया जैसे कोई बात ही नहीं हुई और उस बड़ी रियासतखोर क़िस्म की तवायफ़ के बक़ाया हालात बयान करने शुरू कर दिए जिसका ज़िक्र छिड़ने पर आपा सआदत को लेक्चर देना पड़ा था।

जद्दनबाई की कोशिश के बावजूद बात न जमी। आपा सआदत को अपनी ग़लती का और हमें अपनी ख़िफ्फ़त[14] का बहुत ही शदीद एहसास था। मगर जब लड़कियाँ आ गईं तो फ़िज़ा का तकद्दुर[15] दूर हो गया। इधर-उधर की बातों के बाद नरगिस से फरमाइश की गई कि वह गाना सुनाए। इस पर जद्दनबाई ने कहा: "मैंने इसको मौसीकी की तालीम नहीं दी मोहन बाबू इसके ख़िलाफ़ थे और सच पूछिए तो मुझे भी पसद नहीं था थोड़ा-बहुत टूँ-टाँ कर लेती है।" इसके बाद वह अपनी बेटी से मुख़ातिब हुई: "सुना दो बेबी जैसा भी आता है, सुना दो।"

नरगिस ने बड़ी ही मासूमाना बेतकल्लुफ़ी से गाना शुरू कर दिया। परले दर्जे की कनसुरी थी। आवाज़ में रस न लोच। मेरी छोटी साली उससे लाखों दर्जे बेहतर गाती थी, मगर फ़रमाइश की गई थी और वह भी बड़ी पुरइसरार, इसलिए दो-तीन मिनट तक उसका

गाना बरदाश्त करना ही पड़ा। जब उसने ख़त्म किया तो सबने तारीफ़ की। मैं और आपा सआदत ख़ामोश रहे। थोड़ी देर के बाद जद्दनबाई ने रुख़सत चाही। लड़कियाँ नरगिस से गले मिलीं। दोबारा मिलने के वादे-वईद हुए। कुछ खुसरपुसर भी हुई और हमारे मेहमान चले गए।

नरगिस से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी।

इसके बाद और कई मुलाकातें हुईं। लड़कियाँ टेलीफ़ोन करती थीं और नरगिस अकेली मोटर में चली आती थी। इस आमदो-रफ़्त में उसके एक्ट्रेस होने का एहसास क़रीब-क़रीब मिट गया। वह लड़कियों से और लड़कियाँ उससे यूँ मिलती थीं जैसे वह उनकी बहुत पुरानी सहेली है, या कोई रिश्तेदार है। लेकिन जब वह चली जाती तो कभी-कभी तीनों बहनें इस इस्तअ़जाब[16] का इज़हार करतीं : "ख़ुदा की क़सम, अ़जीब बात है कि नरगिस बिलकुल एक्ट्रेस मालूम नहीं होती!"

इस दौरान में तीनों बहनों ने उसका एक ताज़ा फ़िल्म देखा जिसमें, ज़ाहिर है, वह अपने हीरो की महबूबा थी, जिससे वह प्यार-मुहब्बत की बातें करती थी और उसे अ़जीब-अ़जीब निगाहों से देखती थी। उसके साथ लगकर खड़ी होती थी। उसका हाथ दबाती थी। मेरी बीवी कहती : "कमबख़्त उसके फ़िराक़ में कैसी लंबी-लंबी आहें भर रही थी, जैसे सचमुच उसके इश्क़ में गिरफ़्तार है।" और उसकी छोटी दो बहनें अपने कँवारे, एक्टिंग से नाआशना[17] दिलों में सोचतीं : "और वह कल हमसे पूछ रही थी कि गुड़ की टाफ़ी कैसे बनाई जाती है।"

नरगिस की अदाकारी के मुताल्लिक़ मेरा ख़याल बिलकुल मुख़्तलिफ़ था। वह क़त्तई तौर पर जज़्बातो-एहसासत की सहीह अक्कासी नहीं करती थी। मुहब्बत की नब्ज़ किस तरह चलती है, यह अनाड़ी उँगलियाँ कैसे महसूस कर सकती थीं। इश्क़ की दौड़ में थककर हाँपना और स्कूल की दौड़ में थकक्र साँस का फूल जाना दो बिलकुल मुख़्तलिफ़ चीज़ें हैं। मेरा ख़याल है कि ख़ुद नरगिस भी इसके फ़र्क़ से आगाह नहीं थी। उसके शुरू-शुरू के फ़िल्मों में चुनाँचे दक़ीक़ारस निगाहें फ़ौरन मालूम कर सकती हैं कि उसकी अदाकारी यकसर फ़रेबकारी से मुअर्रा[18] थी।

तसन्नो का यह कमाल है कि वह तसन्नो मालूम न हो, लेकिन नरगिस के तसन्नो की बुनियादें चूँकि तजरबे पर उस्तवार नहीं थीं, इसलिए उसमें यह ख़ूबी नहीं थी। यह सिर्फ़ उसका ख़ुलूस था, वह बेपनाह ख़ुलूस जो उसे अपने शौक़ से था कि वह जज्बातो-एहसात के निहायत ही ख़ाम इज़हार के बावजूद अपना काम निभा जाती थी। उम्र और तजरबे के साथ-साथ अब वह बहुत पुख़्तगी अख़्तियार कर चुकी है। अब उसको इश्क़ की दौड़ और स्कूल की एक मील की दौड़ में थककर हाँपने का फ़र्क़ मालूम है। अब तो उसको साँस के हलके से हलके ज़ेरो-बम[19] का नफ़सियाती पसे-मंज़र[20] भी मालूम है।

यह बहुत अच्छा हुआ कि उसने अदाकारी की मनाज़िल आहिस्ता-आहिस्ता तै कीं। अगर वह एक ही जस्त में आख़िरी मंज़िल पर पहुँच जाती तो अह्ले-ज़ौक़ फ़िल्मबीनों[21] के सन्नाआना[22] जज़्बात को बहुत ही गँवार क़िस्म का सदमा पहुँचता। और अगर लड़कपन के ज़माने में परदे से अलग ज़िंदगी में भी वह एक्ट्रेस बनी रहती और अपनी उम्र को अय्यार[23] बज़ाज़ों के गज़ से नापकर दिखाती तो मैं इस सदमे की ताब न लाकर यक़ीनन मर

गया होता।

नरगिस ऐसे घराने में पैदा हुई थी कि उसको लामुहाला एक्ट्रेस बनना ही था। जद्दनबाई के गले में बुढ़ापे का घुँघरू बोल रहा था। उसके दो बेटे थे, मगर उसकी सारी तवज्जह बेबी नरगिस पर मरकूज़[24] थी। उसकी शक्लो-सूरत मामूली थी। गले में सुर की पैदाइश का भी कोई इमकान[25] नहीं था, मगर जद्दनबाई जानती थी कि सुर मुस्तआर[26] लिया जा सकता है और मामूली शक्लो-सूरत में अंदरूनी रौशनी से, जिसे जौहर कहते हैं, दिलकशी पैदा की जा सकती है। यही वजह है कि उसने जान मारकर उसकी परवरिश की और काँच के निहायत ही नाज़ुक और छोटे-छोटे ज़र्रे जोड़-जोड़कर अपना दरख़्शाँ-ओ-ताबाँ[27] ख़्वाब पूरा किया।

जद्दनबाई थी, उसकी माँ थी, मोहन बाबू था, बेबी नरगिस थी, उसके दो भाई थे। इतना बड़ा कुनबा था जिसका बोझ सिर्फ़ जद्दनबाई के कंधों पर था। मोहनबाबू एक बड़े रईसज़ादा थे। जद्दनबाई के गले की तानों और मुरकियों में ऐसे उलझे कि दीन-दुनिया का होश न रहा। ख़ूबसूरत थे। साहबे-मरवत[28] थे। तालीमयाफ्ता थे। सेहतमंद थे। मगर ये सब दौलतें जद्दनबाई के दर पर मुफलिस और गदागर[29] बन गईं। जद्दनबाई के नाम का उस ज़माने में डंका बजता था। बड़े-बड़े नवाब और राजे उसके मुजरों पर सोने और चाँदी की बारिश बरसाते थे। मगर जब बारिशें थम जातीं और आसमान निखर जाता तो जद्दनबाई अपने मोहन को उठाकर अपने सीने से लगा लेती कि इसी मोहन के पास उसका मन था।

मोहनबाबू ता-दमे-आख़िर[30] जद्दनबाई के साथ थे। वह उनकी बहुत इज़्ज़त करती थी, इसलिए कि वह राजों और नवाबों की दौलत में ग़रीबों के ख़ून की बू सूँघ चुकी थी। उसको अच्छी तरह मालूम था कि उनके इश्क़ का धारा एक ही सिम्त नहीं बहता। वह मोहनबाबू से मुहब्बत करती थी कि वह उसके बच्चों का बाप था।

ख़यालात की रौ में जाने किधर बह गया। नरगिस को बहरहाल एक्ट्रेस बनना था। चुनाँचे वह बन गई। उसके बामे-ऊरूज़[31] तक पहुँचने का राज़, जहाँ तक मैं समझता हूँ, उसका ख़ुलूस है जो क़दम-ब-क़दम, मंज़िल-ब-मंज़िल उसके साथ रहा है।

एक बात जो उन मुलाक़ातों में ख़ास तौर पर मैंने महसूस की, वह यह है कि नरगिस को इस बात का एहसास था कि जिन लड़कियों से वह मिलती है, वो जुदा क़िस्म के आबो-गिल[32] से बनी हैं। वह उनके पास आती थी। घंटों उनसे मासूम-मासूम बातें करती थी, मगर वह उनको अपने घर मदऊ करने में एक अजीब क़िस्म की झिझक महसूस करती थी। उसको शायद यह डर था कि वो उसकी दावत ठुकरा देंगी। यह कहेंगी कि वो उसके यहाँ कैसे जा सकती हैं। मैं एक दिन घर पर मौजूद था कि उसने सरसरी तौर पर अपनी सहेलियों से कहा : "अब कभी तुम भी हमारे घर आओ।"

यह सुनकर तीनों बहनों ने बड़े ही बैंडेपन से एक-दूसरे की तरफ़ देखा। वह शायद यह सोच रही थीं कि हम नरगिस की यह दावत कैसे क़ुबूल कर सकती हैं। लेकिन मेरी बीवीं चूँकि मेरे ख़यालात से वाक़िफ़ थी, इसलिए एक रोज़ नरगिस के पैहम इसरार पर उसकी

दावत क़बूल कर ली गई और मुझे बताए बग़ैर तीनों उसके घर चली गईं।

नरगिस ने अपनी कार भेज दी थी। जब वो बंबई के ख़ूबसूरततरीन मुक़ाम मेरीन ड्राइव के उस फ़्लैट में पहुँचीं जहाँ नरगिस रहती थी तो उन्होंने महसूस किया कि उनकी आमद पर ख़ास इंतज़ामात किए गए थे। मोहनबाबू और उसके दो नौजवान लड़कों को मना कर दिया गया था कि वो घर में दाख़िल न हों, क्योंकि नरगिस की सहेलियाँ आ रही हैं। मर्द नौकरों को भी उस कमरे में आने की इजाज़त नहीं थी, जहाँ उन 'मुअ़ज़्ज़िज़'[33] मेहमानों को बैठाया गया था। ख़ुद जद्दनबाई थोड़ी देर के लिए रस्मी तौर पर उनके पास बैठी और अंदर चली गई। वह उनकी मासूम गुफ़्तगुओं में हारिज[34] होना नहीं चाहती थी।

तीनों बहनों का बयान है कि नरगिस उनकी आमद पर फूली न समाती थी। वह इस क़दर ख़ुश थी कि बार-बार घबरा सी जाती थी। अपनी सहेलियों की ख़ातिरदारी में उसने बड़े जोश का इज़हार किया। पास ही पर्शियन डेयरी थी। उसके मिल्क शेक मशहूर थे। गाड़ी में जाकर नरगिस ख़ुद यह मशरूब जग में तैयार कराके लाई, क्योंकि वह यह काम नौकर के सुपुर्द करना नहीं चाहती थी, इसलिए कि फिर उसके अंदर आने का एहतमाल[35] था।

ख़ातिरदारी के इस जोशो-ख़रोश में नरगिस ने अपने नए सेट का गिलास तोड़ दिया। मेहमानों ने अफ़सोस का इज़हार किया तो नरगिस ने कहा : "कोई बात नहीं बीबी गुस्से होंगी मगर डैडी उनको चुप करा देंगे और मुआमला रफ़ा-दफ़ा हो जाएगा।"

मोहनबाबू को उससे और उसको मोहनबाबू से बहुत मुहब्बत थी।

मिल्क शेक पिलाने के बाद नरगिस ने मेहमानों को अपना अलबम दिखाया जिसमें उसके मुख़्तलिफ़ फ़िल्मों के स्टिल थे। उस नरगिस में, जो उनको यह फोटो दिखा रही थी, और उस नरगिस में, जो उन तसवीरों में मौजूद थी, कितना फ़र्क़ था ! तीनों बहनें कभी उसकी तरफ देखतीं और कभी अलबम के औराक़ की तरफ और अपनी हैरत का यूँ इज़हार करतीं : "नरगिस, तुम यह नरगिस कैसे बन जाती हो ?"

नरगिस जवाब में सिर्फ मुस्कुरा देती।

मेरी बीवी ने मुझे बताया कि घर में नरगिस की हर हरकत, हर अदा में अल्हड़पन था। उसमें वह शोख़ी, वह तर्रारी, वह तीखापन नहीं था जो उसके सरापा में परदे पर नज़र आता है। वह बड़ी ही घरेलू किस्म की लड़की थी। मैंने ख़ुद यही महसूस किया था। लेकिन जाने क्यों उसकी छोटी-छोटी आँखों में मुझे एक अजीबोग़रीब क़िस्म की उदासी तैरती नज़र आती थी, जैसे कोई लावारिस लाश तालाब के ठहरे पानी पर हवा के हलके-हलके झोंकों से इर्तआशपज़ीर[36] हो।

यह क़त्तई तौर पर तै था कि शोहरत की जिस मंज़िल पर नरगिस को पहुँचना था, वह कुछ ज़्यादा दूर नहीं। तक़दीर अपना फ़ैसला उसके हक़ में करके तमाम मुताल्लिक़ा काग़ज़ात उसके हवाले कर चुकी थी। लेकिन फिर वह क्यों मग़मूम[37] थी ? क्या ग़ैरशऊरी तौर पर[38] वह यह महसूस तो नहीं कर रही थी कि इश्क़ो-मुहब्बत का यह मसनूई[39] खेल खेलते-खेलते एक दिन वह किसी ऐसे लक़ो-दक़ सहरा में निकल जाएगी जहाँ सुराब[40] ही

सुराब होंगे ? प्यास में उसका हलक़ सूख रहा होगा और आसमान पर छोटी-छोटी बदलियों के थनों में सिर्फ़ इसलिए दूध नहीं उतरेगा कि वो यह ख़याल करेंगी कि नरगिस की प्यास महज़ बनावट है ? ज़मीन की कोख में पानी की बूँदें और ज़्यादा अंदर को सिमट जाएँगी, इस ख़याल से कि उसकी प्यास सिर्फ़ एक दिखावा है ? और यह भी हो सकता है कि ख़ुद नरगिस भी यह महसूस करने लगे कि उसकी प्यास कहीं झूठी प्यास तो नहीं।

इतने बरस गुज़र जाने पर मैं अब उसे परदे पर देखता हूँ तो मुझे उसकी उदासी कुछ मुज़्महिल[41] सी नज़र आती है। पहले उसमें एक मुस्तैद जुस्तजू थी, लेकिन अब यह जुस्तजू भी उदास और मुज़्महिल है। क्यों ? इसका जवाब ख़ुद नरगिस ही दे सकती है।

तीनों बहनें चूँकि चोरी-चोरी नरगिस के हाँ गई थीं, इसलिए वो ज़्यादा देर तक उसके पास न बैठ सकीं। छोटी दो को यह अंदेशा था कि ऐसा न हो, मुझे इसका इल्म हो जाए। चुनाँचे उन्होंने नरगिस से रूख़्सत चाही और वापस घर आ गईं।

नरगिस के मुताल्लिक़ वो जब भी बातें करतीं, घूमफिर कर उसकी शादी के मसइले पर आ जातीं। छोटी दो को यह जानने ख़्वाहिश थी कि वह कब और कहाँ शादी करेगी। बड़ी जिसकी शादी हुए पाँच बरस हो चुके थे, यह सोचती थी कि शादी के बाद वह माँ कैसे बनेगी।

कुछ देर तक मेरी बीवी ने मुझसे नरगिस के साथ उस ख़ुफ़िया मुलाक़ात का हाल छिपाए रखा। आख़िर एक रोज़ बता दिया। मैंने मसनूई ख़फ़गी का इज़हार किया तो उसने सच समझते हुए मुझसे मुआफी माँगी और कहा : "वाक़ई हमसे ग़लती हुई, मगर ख़ुदा के लिए अब आप इसका ज़िक्र किसी से न कीजिएगा।"

वह चाहती थी कि बात मुझी तक रहे। एक एक्ट्रेस के घर जाना तीनों बहनों के नजदीक बहुत ही मायूब बात थी। वो इस हरकत को छिपाना चाहती थीं। चुनाँचे जहाँ तक मुझे मालूम है, इसका ज़िक्र उन्होंने अपनी माँ से भी नहीं किया था हालाँकि वह बिलकुल तंगख़याल नहीं थीं। मैं अब तक यह नहीं समझ सका कि उनकी वह हरकत, हरकते-मज़मूम[42] क्यों थी। अगर वो नरगिस के हाँ गई थीं तो इसमें बुराई ही क्या थी। अदाकारी मायूब क्यों समझी जाती है ? क्या हमारे अपने ख़ानदान के हलक़े में ऐसे अफ़राद[43] नहीं होते जिनकी सारी उम्र फ़रेबकारियों और मुलम्माकारियों में गुज़र जाती है ? नरगिस ने तो अदाकारी को अपना पेशा बनाया था। उसने इसको राज़ बनाकर नहीं रखा था। कितना बड़ा फ़रेब है जिसमें ये लोग मुब्तला रहते हैं।

इस मज़मून के आगाज़ में मैंने एक ख़त का कुछ हिस्सा नक़ल किया है जो मुझे तसनीम सलीम ने लिखा था। अब उसकी तरफ़ लौटता हूँ। दरअस्ल सारी बात ही उसी से चली थी।

चूँकि मुझे नरगिस को उसके घर में मिलने का इश्तियाक़[44] था, इसलिए मैं मसरूफ़ होने के बावजूद मिस्टर सलीम और उनके मुसाहिबों के साथ मेरीन ड्राइव चल पड़ा। चाहिए तो यह था कि मैं फ़ोन के ज़रिये से जद्दनबाई को अपनी आमद से मतला[45] कर देता और यह भी मालूम कर लेता कि नरगिस फ़ारिग़ भी है या नहीं, लेकिन मैं आम ज़िंदगी में भी चूँकि ऐसे तकल्लुफ़ात का क़ायल नहीं, इसलिए बग़ैर इत्तला दिए वहाँ जा धमका। जद्दनबाई

बाहर बरामदे में बैठी सरौते से छालियाँ काट रही थी। मुझे देखा तो ब-आवाज़े-बुलंद कहा : "ओह मंटो आओ, भाई आओ।" फिर नरगिस को आवाज़ दी : "बेबी, तुम्हारी सहेलियाँ आई हैं।"

मैंने क़रीब जाकर उसे बताया कि मेरे साथ सहेलियाँ नहीं, सहेले हैं। जब मैंने नवाब छतारी के दामाद का ज़िक्र किया तो उसका लहजा बदल गया : "बुला लो उन्हें।" नरगिस दौड़ी-दौड़ी आई तो उससे कहा, "तुम अंदर जाओ बेबी मंटो साहब के दोस्त आए हैं।"

जद्दनबाई ने मेरे दोस्तों की कुछ इस अंदाज़ से आवभगत की, जैसे वो मकान देखने और पसंद करने आए थे। वह बेतकल्लुफी जो मेरे लिए मख़सूस थी, ग़ायब हो गई। 'बैठो', 'तशरीफ़ रखिए' में तब्दील हो गया। 'क्या पियोगे', 'क्या नोश फ़रमाइएगा' बन गया। 'तुम', 'आप' हो गया और मैं ख़ुद को चुग़द महसूस करने लगा।

मैंने अपनी ओर से अपने दोस्तों की आमद का मुद्दा बयान किया तो जद्दनबाई ने बडे पुरतमन्नो अंदाज में मुझसे मुखातिब होते हुए मेरे साथियों से कहा : 'बेबी से मिलना चाहते हैं क्या बताऊँ, कई दिनों से ग़रीब की तबीयत नासाज़ है। दिन-रात की शूटिंग ने उसे बेहद मुज्महिल कर दिया है। बहुत मना करती हूँ कि एक रोज आराम कर लो, मगर शौक ऐसा है कि नहीं सुनती। महबूब[46] ने भी कहा कि बेटा, कोई हर्ज़ नही। तुम रेस्ट कर लो। मैं शूटिंग बंद कर देता हूँ, मगर न मानी आज मैंने ज़बरदस्ती रोक लिया जुकाम से निढाल हो रही है ग़रीब !"

यह सुनकर मेरे दोस्तों को, ज़ाहिर है, बहुत मायूसी हुई। नरगिस की एक झलक वो टैक्सी में बैठे-बैठे देख चुके थे और उसको मुफ़स्सिल तौर पर देखने के लिए बेताब थे। जब उनको मालूम हुआ कि उसकी तबीयत नासाज़ है तो उन्हें बडी कोफ़्त हुई। जद्दनबाई इधर-उधर की बातें किए जाती थी, जिनसे उनको कोई दिलचस्पी न थी। मैं साफ़ देख रहा था कि वो थोड़ी देर के बाद जम्हाइयाँ लेने लगेंगे और मुझे यह भी मालूम था कि नरगिस की नासाहज़ि-ए-तबीयत का बहाना महज़ रस्मी है। चुनाँचे मैंने जद्दनबाई से कहा : "बेबी को ज़हमत तो होगी, मगर ये इतनी दूर से आए हैं। ज़रा बुला लीजिए।"

अंदर तीन-चार मर्तबा कहलवाने के बाद नरग़िस आई। सबने उठकर ताजीमन[47] उसे सलाम किया। मैं बैठा रहा। नरगिस का दाख़िला फ़िल्मी था। उसका सलाम का जवाब देना फ़िल्मी था। उसका बैठना-उठना फ़िल्मी था। उसकी गुफ़्तगू फ़िल्मी थी, जैसे सेट पर मुकालमे[48] बोल रही हो। और मेरे साथियों के सवाल-जवाब बड़े नव्वाबाना क़िस्म के ऊट-पटाँग थे :

"आपसे मिलकर बड़ी मुसर्रत हुई।"

"जी हाँ, आज ही बंबे पहुँचे हैं।"

"कल-परसों वापस चले जाएँगे।"

"आप माशाअल्लाह इस वक़्त हिंदुस्तान की चोटी की अदाकारा हैं।"

"आपके हर फ़िल्म का हमने पहला शो देखा है।"

"यह तसवीर जो आपने दी है, मैं इसे अपने अलबम में लगाऊँगा।"

इस दौरान में मोहनबाबू भी आ गए, मगर वह ख़ामोश बैठे रहे। कभी-कभी अपनी बड़ी-बड़ी ख़ूसबूरत आँखें घुमाकर हम सबको देख लेते। और फिर ख़ुदा जाने किस सोच में ग़र्क़ हो जाते।

सबसे ज़्यादा बातें जद्दनबाई ने कीं। उनमें उसने मुलाक़ातियों पर बड़े वाज़े[49] अल्फ़ाज़ में ज़ाहिर कर दिया कि वह हिंदुस्तान के हर राजे और हर नवाब को अंदर-बाहर से अच्छी तरह जानती है। नरगिस ने जितनी बातें कीं, बहुत मुख़्तसर और बनावट से भरपूर थीं। उसकी हर हरकत और हर अदा से यह साफ़ मुतरशह था कि वह अपने मिलनेवालों को ये चीज़े प्लेट में डालकर बड़े तकल्लुफ़ से पेश कर रही है, ताकि वो उसका शुक्रिया अदा करें। वो दिली तौर पर ममनूनो-मुतशकर[50] थे, मगर इस तशक्कुर[51] से नरगिस मुतशफ़्फ़ी[53] नहीं थी। वह ग़ालिबन जवाब में तसन्नो ही की तालिब थी।

यह मुलाक़ात कुछ बहुत ही फीकी रही, मेरे लिए भी और मेरे साथियों के लिए भी। मेरी मौजूदगी में वो खुलकर अहमक़ाना बातें नहीं कर सके थे और मैं उनकी मौजूदगी के बाइस बहुत ही तकलीफ़दह घुटन महसूस करता रहा था। बहरहाल नरगिस का दूसरा रंग देखना दिलचस्पी से ख़ाली नहीं था।

सलीम अपने दोस्तों के साथ दूसरे रोज़ फिर नरगिस के हाँ गए। इसकी इत्तला उन्होंने मुझे न दी। मेरा ख़याल है, इस मुलाक़ात का रंग कुछ और ही होगा। नख़शब के साथ जिस जंग का ज़िक्र तसनीम ने अपने ख़त में किया है, वह मुझे बिलकुल याद नहीं। हो सकता है कि वह उस वक़्त वहाँ मौजूद हों, क्योंकि जद्दनबाई को शे'रो-शायरी से बड़ी दिलचस्पी थी और बंबे के अकसर शुअ'रा अपना कलाम सुनाने के लिए वहाँ जाया करते थे। यह भी हो सकता है कि नख़शब से उनकी शायरी ही पर इख़्तलाफ़े-राय[54] के बाइस हलकी-सी चख़ हो गई हो।

नरगिस का एक और दिलचस्प रंग मैंने उस वक्त देखा, जब अशोक मेरे साथ था। जद्दनबाई कोई अपना ज़ाती फ़िल्म तैयार करने का इरादा कर रही थी। उसकी ख़्वाहिश थी कि अशोक उसका हीरो हो। अशोक हस्बे-आदत अकेला जाने से घबराता था, चुनाँचे वह मुझे अपने साथ ले गया।

दौराने-गुफ़्तगू मे कई नुक़्ते थे, कारोबारी नुक्ते, दोस्ताना नुक्ते, ख़ुशामदी नुक्ते। ये नुक्ते बड़े ही दिलचस्प तरीके पर आपस में गडमड होते रहे। जद्दनबाई का अंदाज़ कभी बुज़ुर्गाना होता था और कभी हमअस्राना[55]। वह कभी प्रोड्यूसर बन जाती थी और कभी नरगिस की माँ, ऐसी माँ जो अपनी बेटी की क़द्रो-क़ीमत बढ़ाना चाहती है। मोहनबाबू से कभी-कभी हाँ में हाँ मिला ली जाती थी।

लाखों रुपये का ज़िक्र आया, वो जो ख़र्च हो चुके थे, ख़र्च होनेवाले थे और जो ख़र्च किए जा सकते थे। सबका हिसाब उँगलियों पर गिनवाया गया। नरगिस का यह अंदाज़ था कि देखो अशोक, मानती हूँ कि तुम मँझे हुए एक्टर हो, तुम्हारी धाक बैठी हुई है, मगर मैं भी किसी तरह कम नहीं। तुम मान जाओगे कि मैं अदाकारी के मैदान में तुम्हारा मुक़ाबला कर सकती हूँ। चुनाँचे उसकी तमाम कोशिशें इसी नुक्ते पर मरकूज़ थीं। इसके अलावा

कभी-कभी उसके अंदर औरत भी बेदार हो जाती थी। उस वक़्त वह अशोक से यह कहती मालूम होती : "तुम पर हज़ारों लड़कियाँ फ़रेफ्ता हैं, लेकिन मैं इसे क्या समझती हूँ। मेरे भी हज़ारों चाहनेवाले मौजूद हैं। यक़ीन न आए तो किसी मर्द से पूछ लो।" और साथ ही साथ इस चैलेंज की हलकी सी झलक भी होती : "हो सकता है, तुम ही मुझ पर मरना शुरू कर दो।"

और जद्दनबाई कभी मुसालहत की तरफ़…

और जद्दन बाई कभी मुसालहत की तरफ़ झुक जाती कि नहीं अशोक, तुम और बेबी दोनों पर दुनिया मरती है, इसीलिए तो मैं चाहती हूँ कि तुम्हें एक साथ पेश करूँ ताकि एक क़त्ले आम हो और हम सब ख़ूब फ़ाइदा उठाएँ—कभी-कभी वह एक और अंदाज़ इख़्तियार कर लेती और मुझसे मुख़ातिब होती : "मंटो अशोक इतना बड़ा एक्टर बन गया है, लेकिन ख़ुदा की क़सम, बहुत ही नेक आदमी है। बड़ा कम गो, बड़ा ही शर्मीला…ख़ुदा उम्र दराज़ करे। मैं जो फ़िल्म शुरू कर रही हूँ, उसमें अशोक के लिए ख़ासतौर पर मैंने कैरेक्टर लिखवाया है। तुम सुनोगे तो ख़ुश हो जाओगे।"

मैं यह कैरेक्टर सुने बग़ैर ही ख़ुश था, इसलिए कि जद्दन बाई का कैरेक्टर ख़ुद बहुत ही दिलचस्प था, और नर्गिस जो रोल अदा कर रही थी वह तो और भी ज़्यादा दिलचस्प था। मेरा ख़याल है, अगर पर्दे पर वह हालात पेश किए जाते और उससे कहा जाता कि अशोक से मिलकर तुम्हें ऐसी गुफ़्तगू करना है तो वह कभी इतनी कामयाब न होती जितनी कि वह उस वक़्त थी।

बातों-बातों में सुरैया का ज़िक्र आया तो जद्दन बाई ने नाक-भौं चढ़ाकर उसमें और उसके सारे ख़ानदान में कीड़े डालने शुरू कर दिए। सुरैया की ऐब जुई वह एक फ़र्ज के तौर पर करती थी : "उसका गला ख़राब है…बेसुरी है। बेउस्तादी है। दाँत बड़े वाहियात हैं…उधर सुरैया के हाँ जाओ तो नर्गिस और जद्दन बाई पर अमले-जर्राही शुरू हो जाता था। सुरैया की नानी, जो हक़ीक़त में उसकी माँ थी, हुक़्क़े के बुक़्क़े उड़ा-उड़ाकर दोनों को ख़ूब कोसती थी। नर्गिस का ज़िक्र आता तो वह बुरा-सा मुँह बनाकर मीरासनों के अंदाज़ में जुगत करती : "मुँह देखो, जैसे गला-सड़ा पपीता होता है।"

मोहन बाबू की ख़ूबसूरत और बड़ी-बड़ी आँखें हमेशा-हमेशा के लिए मुँद चुकी हैं। जद्दन अपने दिल की बक़ाया हसरतें और तमन्नाएँ लिए मनों मिटटी के नीचे दफ़्न है। उसकी बेबी नर्गिस, तसन्नो, और बनावट के आख़िरी ज़ीने पर पहुँचकर, मालूम नहीं और ऊपर देख रही है या उसकी उदास-उदास आँखें नीचे, सबसे पहले ज़ीने को देख रही हैं, जब उसने घुटनियों चलना सीखा था। वह ख़ैराकुन रौशनी में तारीक-तरीन सायं की तलाश में है, या तारीक-तरीन सायं में रौशनी की नन्ही-सी किरण टटोल रही है—रौशनी और साय का तानाबाना ही ज़िंदगी है, और इस तानेबाने की अक्कासी, फ़िल्मी ज़िंदगी है जिसमें कभी ऐसा पेच, ऐसा ख़म भी आ जाता है जब रौशनी, रौशनी रहती है न साया, साया!

1. प्रथम प्रदर्शन; 2. स्वपनिल; 3. स्पष्ट ; 4. मात्र-रचना; 5. सीधी; 6. पूरा-पूरा; 7. जल्दी; 8. दोषपूर्ण; 9. बनावट; 10. पहले के ढंग के अनुसार; 11. परिचित; 12. राज्यप्रमुखों; 13. एकाएक; 14. झेंप, लज्जा; 15. आश्चर्य; 16. अपरिचित; 17. परे, ऊपर, रहित; 18. उतार-चढ़ाव; 19. मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि; 20. रूचि वाले दर्शकों के; 21. शिल्पकारों जैसे; 22. धूर्त; 23. केंद्रित; 24. संभावना; 25. उधार; 26. प्रकाशमान; 27. धनिक; 28. भिखारी; 29. मरते दम तक; 30. ऊँचाई; 31. पानी-मिट्टी; 32. सम्मानित; 33. साधक; 34. संभावना; 35. कंपायमान; 36. दुखी; 37. अचेतन रूप से; 38. बनावटी; 39. मरीचिका; 40. निढाल; 41. अधम; 42. व्यक्ति; 43. उत्सुकता; 44. सूचित; 45. निदेशक महबूब; 46. सम्मान में; 47. संवाद; 48. स्पष्ट; 49. आभारी; 50. संतुष्ट; 51. मतभेद; 52. समकालीन जैसों;

अशोक कुमार

नज़्मुल हसन जब देविका रानी को ले उड़ा तो बंबे टाकीज़ में अफ़रा-तफ़री फैल गई। फ़िल्म का आग़ाज हो चुका था। चंद मनाज़िर की शूटिंग पाया-ए-तक्मील को पहुँच चुकी थी कि नज्मुल हसन अपनी हीरोइन को स्लोलाइड की दुनिया से खींचकर हक़ीक़त की दुनिया में ले गया। बंबे टाकीज़ में सबसे ज़्यादा परेशान और मुतफ़िकर शख़्स हिमांसू राय था, देविका रानी का शौहर और बंबे टाकीज़ का दिलो-दिमाग़, पसेपर्दा।

मशहूर जुबली मेकर फ़िल्म साज़ एस. मुखर्जी[1] इन दिनों बंबे टाकीज़ में साउंड इंजीनियर मिस्टर सावक वाचा के असिस्टेंट थे। सिर्फ़ बंगाली होने की वजह से उन्हें हिमांसू राय से हमदर्दी थी। वह चाहते थे कि किसी न किसी तरह देविका रानी वापस आ जाए। चुनाँचे उन्होंने अपने आक़ा हिमांसू राय से मशवरा किए बग़ैर अपने तौर पर कोशिश की, और अपनी मख़सूस हिकमते-अमली से देविका रानी को आमादा कर लिया कि वह कलकत्ते में अपने आशिक़ नज्मुल हसन की आग़ोश छोड़कर वापस बंबे टाकीज़ की आग़ोश में चली आए, जिसमें उसके जौहर के पनपने की ज़्यादा गुंजाइश थी।

देविका रानी वापस आ गई। एंस मुखर्जी ने अपने जज़्बाती आक़ा हिमांसू राय को भी अपनी हिकमते-अमली से अमादा कर लिया कि वह उसे क़ुबूल कर लें। और बेचारा नज्मुल हसन उन आशिक़ों की फ़ेहरिस्त में दाख़िल हो गया जिनको सियासी, मज़्हबी और सरमायादाराना हिकमते-अगलियों ने अपनी महबूबाओं से जुदा कर दिया था।

ज़ेरे-तक्मील फ़िल्म से नज़्मुल हसन को कैंची से काटकर रद्दी की टोकरी में फेंक तो दिया गया मगर अब यह सवाल दरपेश था कि इश्क़ आशना देविकारानी के लिए स्लोलाइड का हीरो कौन हो।

हिमांसू राय एक बेहद मेहनती और दूसरों से अलग-थलग रहकर ख़ामोशी से अपने काम में शबो-रोज़ मुन्हमिक रहनेवाले फ़िल्म साज़ थे। उन्होंने बंबे टाकीज़ की नींव कुछ इस तरह डाली थी कि वह एक बावक़ार दर्सगाह मालूम हो। यही वजह है कि उन्होंने बंबई शहर से दूर मुज़ाफ़ात में एक गाँव को जिसका नाम 'मलाड' है, अपनी फ़िल्म कंपनी के लिए मुंतख़ब किया था—वह बाहर का आदमी नहीं चाहते थे, इसलिए कि बाहर के आदमियों के मुताल्लिक़ उनकी राय अच्छी नहीं थी—नज्मुल हसन भी बाहर का आदमी

1. अशोक कुमार का बहनोई।

था।

यहाँ फिर एस मुखर्जी ने अपने जज़्बाती आक़ा की मदद की। उनका साला अशोक कुमार बी एस. सी पास करके एक बरस कलकत्ते में वकालत पढ़ने के बाद बंबे टाकीज़ की लेबारेट्री में बग़ैर तन्ख़ाह के काम सीख रहा था। नाक नक़्शा अच्छा था। थोड़ा बहुत गा-बजा भी लेता था। मुखर्जी ने चुनाँचे बरसबीले-तज़्किरा हीरो के लिए उसका नाम लिया। हिमांसू राय की सारी ज़िंदगी तज्रबों से दो-चार रही थी। उन्होंने कहा, देख लेते हैं। जर्मन कैमरा मैन दर्शिंग ने अशोक का टेस्ट लिया। हिमांसू राय ने देखा और पास कर दिया। जर्मन फ़िल्म डायरेक्टर फ्रांज़ ओस्टिन की राय उनके बरअक्स थी, मगर बंबे टाकीज़ में किसकी मजाल थी कि हिमासू राय की राय के ख़िलाफ़ इज़हारे ख़याल कर सके। चुनाँचे अशोक कुमार गांगूली, जो उन दिनों बमुश्किल बाईस बरस का होगा, देविका रानी का हीरो मुतंख़ब हो गया।

एक फ़िल्म बना, दो फ़िल्म बने—कई फ़िल्म बने और देविका रानी और अशोक मुकार का नाजुदा होने वाला फ़िल्मी जोड़ा बन गया। उन फ़िल्मों में से अक्सर बहुत कामयाब हुए। गुड़िया-सी देविका रानी और बड़ा ही बेज़रर अशोक कुमार। दोनों स्लोलाइड पर शीरो-शकर होकर आते तो बहुत ही प्यारे लगते—मासूम अदाएँ, अल्हड़ ग़म्ज़े—बड़ा अहिंसाई क़िस्म का इश्क़—लोगों को, जो जारहाना इश्क़ करने और देखने के शौक़ीन थे, यह नर्मो-नाज़ुक और लचकीला इश्क़ बहुत पसंद आया। वह ख़ासतौर पर इस नए फ़िल्मी जोड़े की गर्वीदा हो गए। स्कूलों और कालिजों में तालिबात का, ख़ुसूमन उन दिनों, आइडियल हीरो अशोक कुमार था और कालिजों के लड़के, लंबी और खुली आस्तीनों वाले बँगाली कुर्ते पहनकर गाते फिरते थे :

तू बन की चिड़िया, मैं बन का पंछी, बन-बन बोलूँ रे

मैंने अशोक के चंद फ़िल्म देखे। देविका रानी उसके मुक़ाबले में, जहाँ तक किर्दार निगारी का ताल्लुक़ है, मीलों आगे थी। और हीरो के रूप में अशोक, ऐसा मालूम होता था कि चौकलेट का बना है, मगर आहिस्ता-आहिस्ता उसने पर-पुर्ज़े निकाले और बंगाल के आदर्श अफ़ीमी इश्क़ की पेंग से बेदार होने लगा।

अशोक जब लेबारेट्री की चिल्मन से बाहर निकलकर नुक़्रई पर्दे पर आया तो उसकी तन्ख़ाह पच्छतर रुपए मुक़र्रर हुई। अशोक बहुत ख़ुश था। उन दिनों अकेली जान के लिए और वह भी शहर से दूर-दराज़ गाँव मलाड में इतने रुपए काफ़ी थे। जब उसकी तन्ख़ाह एकदम दुगनी हो गई, यानि एक सौ पचास रुपए माहवार तो वह और भी ज़्यादा ख़ुश था। लेकिन जब डेढ़ के ढाई मुक़र्रर हुए तो वह घबरा गया। उसने मुझे उस वक़्त की कैफ़ियत बयान करते हुए कहा : "बाइगॉड, मेरी हालत अजीबो-ग़रीब थी ··· ढाई सौ रुपए के नोट मैंने केशियर से लिए तो मेरा हाथ काँपने लगा। समझ में नहीं आता था कि इतने रुपए कहाँ रखूँगा ··· मेरा घर था एक छोटा-सा क्वार्टर। एक चारपाई थी। दो तीन कुर्सियाँ और चारों तरफ़ जंगल ··· रात को अगर चोर आ जाए, यानि अगर उसको मालूम हो जाए कि मेरे पास ढाई सौ रुपए हैं तो क्या हो ··· ? मैं एक अजीब चक्कर में पड़ गया। चोरी-डकेती से

मेरी जान जाती थी। घर आकर बहुत स्कीमें बनाईं। आख़िर यह किया वह नोट चारपाई के नीचे बिछी हुई दरी में छुपा दिए ''सारी रात बड़े डरावने ख़्वाब आते रहे ''सुबह उठकर मैंने पहला काम यह किया कि वह नोट उठाकर डाकख़ाने में जमा करा दिए।''

अशोक मुझे यह बात अपने मकान पर सुना रहा था कि कलकत्ते का एक फ़िल्म साज़ उससे मिलने आया। कंट्रेक्ट तैयार था मगर अशोक ने उस पर दस्तख़त न किए। वह अस्सी हज़ार रुपए देता था और अशोक कुमार का मुतालबा पूरे एक लाख का था—कहाँ ढाई सौ रुपए और कहाँ एक लाख!

बंबे टाकीज़ में अशोक के साथ-साथ उस के बहनोई एस. मुखर्जी ने भी तरक्क़ी की। आदमी ज़हीन था—गिर्दी-पेश जो कुछ भी होता था, उसका बनज़रे-ग़ाइर मुताला करता था। आहिस्ता-आहिस्ता प्रोड्यूसर बन गया—मामूली प्रोड्यूसर नहीं, बहुत बड़ा बड़ा प्रोडयूसर, जिसने बंबे टाकीज़ के झंडे तले कई सिल्वर और गोल्डन जुबली फ़िल्म बनाए और मंज़र निगारी में एक ख़ास स्कूल की बुनियाद डाली—राक़िमुल-हरुफ़ इस सिन्फ़ में उसको अपना उस्ताद मानता है।

अशोक की हर दिल-अजीजी दिन-बदिन बढ़ती चली गई। चूँकि वह बाहर बहुत ही कम निकलता था और अलग-थलग रहता था, इसलिए जब लोग कहीं उसकी झलक देख पाते तो एक हंगामा बर्पा हो जाता। चलती ट्रेफ़िक बंद हो जाती। उसके चाहनेवालों के ठठ लग जाते और अक्सर औक़ात पुलिस के डंडे के ज़ोर से उसे हुजूम की बेपनाह अक़ीदत से निजात दिलाना पड़ती।

अशोक अपने अक़ीदतमंदों के वालिहाना इज़हार को वुसूल और बर्दाश्त करने के मामले में बहुत ही ज़लील वाक़ा हुआ है। फ़ौरन ही चिढ़ जाता है। जैसे किसी ने गाली दी हो—मैंने उससे कई दफ़ा कहा: ''दादा मुनी, तुम्हारी यह हरकत बड़ी वाहियात है ख़ुश होने के बजाए तुम नाराज़ होते हो। क्या तुम इतना भी नहीं समझते कि यह लोग तुमसे मुहब्बत करते हैं।'' लेकिन यह बात समझने के लिए शायद उसके दिमाग़ में कोई ऐसा ख़ाना ही नहीं है।

मुहब्बत से वह क़तअन नाआश्ना है—यह तक़सीम मे पहले तक की बात है। इस अर्से में उसके अंदर क्या तबदीलियाँ पैदा हुई हैं, उनके मुताल्लिक़ मैं कुछ नहीं कह सकता—सैकड़ों हसीन लड़कियाँ उसकी ज़िंदगी में आईं, मगर वह निहायत ही रुखे अंदाज़ में उनके साथ पेश आया। तबअन वह एक ठेठ जाट है। उसके खाने-पीने और रहने-सहने में एक अजीब क़िस्म का गँवारपन है।

देविका रानी ने उससे इश्क़ करना चाहा, मगर उसने बहुत ही ग़ैर-सन्नाआना अंदाज़ में उसकी हौसला-शिक्नी की। एक और एक्ट्रेस ने जुर्अत से काम लेकर उसको अपने घर बुलाया और बड़े ही नर्मो-नाज़ुक तरीक़े से उस पर अपनी मुहब्बत का इज़हार किया, मगर जब अशोक ने बड़े बेंडेपन से उसका दिल तोड़ा तो उस ग़रीब को पैंतरा बदलकर यह कहना पड़ा: ''मैं आपका इम्तिहान ले रही थी। आप तो मेरे भाई हैं।''

अशोक को उस एक्ट्रेस का जिस्म पसंद था। हर वक़्त धुली-धुली, निखरी-निखरी

रहती थी। उसकी यह चीज़ भी अशोक को बहुत भाती थी। चुनाँचे जब उसने क़लाबाज़ी लगाकर उसको अपना भाई बना लिया तो अशोक को काफ़ी कोफ़्त हुई।

अशोक इश्क़ पेशा नहीं, लेकिन ताक-झाँक का मर्ज़ उसको आम मर्दों का-सा है। औरतों की दावत तलब चीज़ों को बाक़ाइदा ग़ौर से देखता है और उनके मुताल्लिक़ अपने दोस्तों से बातें भी करता है। कभी-कभार किसी औरत की जिस्मानी क़ुर्बत की ख़्वाहिश भी महसूस करता है, मगर बक़ौल उसके : "मंटो यार, हिम्मत नहीं पड़ती।"

हिम्मत के मामले में वह वाक़ई बहुत बोदा है, लेकिन यह बोदा-पन उसकी इज़्दिवाजी ज़िंदगी के लिए बहुत ही मुबारक है। उसकी बीवी शोभा से अगर उसकी इस कमज़ोरी का ज़िक्र किया जाए तो यक़ीनन वह यही कहेगी : "ख़ुदा का शुक्र है कि गांगुली में ऐसी हिम्मत नहीं और ख़ुदा करे उसमें यह हिम्मत कभी पैदा न हो।"

मुझे हैरत है कि उसमें यह हिम्मत और जुर्रत क्यों पैदा न हुई, जबकि सैकड़ों लड़कियों ने जुर्रते-रिंदाना से काम लेकर उसको इश्क़ की आग में कूदने की तर्ग़ीब दी। उस की ज़ाती डाक में बिला मुबालग़ा हज़ारों औरतों के इश्क़ो-मुहब्बत से लबेज़ ख़ुतूत आए होंगे, मगर जहाँ तक मैं जानता हूँ, ख़ुतूत के उस अंबार में उसने शायद एक सौ भी ख़ुद नहीं पढ़े—ख़त आते हैं और उसका मरियल सैकरेट्री डिसोज़ा उन्हें मज़े ले लेकर पढ़ता है और दिन बदिन मरियल होता जाता है।

तक़सीम से चंद माह पहले अशोक फ़िल्म 'चंद्र शेखर' के सिलसिले में कलकत्ते में था। वह शहीद सुहरावर्दी[1] के यहाँ से कोई सोलह मिलीमीटर फ़िल्म देखने के बाद अपने डेरे लौट रहा था कि रास्ते में दो ख़ूबसूरत एंग्लो इंडियन लड़कियों ने उसकी मोटर रोकी और लिफ़्ट चाही। अशोक ने चंद मिन्ट की यह अय्याशी तो कर ली मगर उसे अपने नए सिगरेट केस से हाथ धोने पड़े। एक लड़की जो शोख़ो-शंग थी, सिगरेट के साथ सिगरेट केस भी ले उड़ी। उस वाक़े के बाद अशोक ने कई बार सोचा कि उनसे रस्मो-राह पैदा की जाए। बात मामूली थी मगर उसकी हिम्मत न पड़ी।

कोल्हापुर में गुर्ज़, तलवार और ढाल क़िस्म का भारी भरकम हवन्नक़ फ़िल्म बन रहा था। अशोक का थोड़ा-सा काम उसमें बाक़ी रह गया था। वहाँ से कई बुलावे आए मगर वह न गया। उसकी तबीयत उस रोल से बहुत मुतनफ़्फ़िर थी, जो उसे अदा करने के लिए दिया गया था। मगर कंट्रेक्ट था, आख़िर एक रोज़ उसे जाना ही पड़ा। साथ मुझे ले गया। उन दिनों मैं फ़िलिमस्तान के लिए 'आठ दिन' नामी फ़िल्म लिख रहा था। चूँकि यह फ़िल्म उसे प्रोड्यूस और डायरेक्ट करना थी, इसलिए उसने कहा : "चलो यार, वहाँ आराम से काम करेंगे।"

मगर आराम कहाँ—लोगों को फ़ौरन मालूम हो गया कि अशोक कुमार कोल्हापुर आया हुआ है। चुनाँचे उस होटल के इर्द-गिर्द, जहाँ हम ठहरे थे, ज़ाइरीन जमा होने शुरू हो गए। होटल का मालिक होशियार था। किसी न किसी बहाने वह उन लोगों को मुंतशिर

1 उस वक़्त वज़ीरे-आला बंगाल। — संपादक

कर देता। लेकिन फिर भी बाज़ चिपकू क़िस्म के लोग होटल का तवाफ़ करते रहते और अपने महबूब एक्टर की ज़ियारत कर ही लेते। अपने अक़ीदतमंदों के साथ अशोक, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, बहुत ही अक्खड़ क़िस्म का सुलूक किया करता था। मुझे मालूम नहीं, उन का रद्दे-अमल क्या होता था, मगर बहैसियत एक नाज़िर के, मुझे सख़्त कोफ़्त होती थी।

एक शाम हम दोनों सैर को निकले। अशोक केमो फ़्लाज़ किए हुए था। आँखों पर चौड़ा चकला गहरे रंग का चश्मा, एक हाथ में छड़ी, दूसरे हाथ में मेरा कंधा ताकि हस्बे-ज़रूरत मुझे आगे पीछे कर सके। इसी तरह हम एक स्टोर में पहुँचे। अशोक को कोल्हापुर के स्टूडियो के गर्दो-ग़ुब्बार से महफ़ूज़ रहने के लिए कोई दवा ख़रीदना थी। जब उसने स्टोर वाले से वह तलब की तो उसने सरसरी नज़र से अपने गाहक की तरफ़ देखा और अल्मारी की तरफ़ बढ़ा, लेकिन फ़ौरन ही उसका डीलेड रीएक्शन बम की तरह फटा और वह मुड़कर अशोक से मुख़ातिब हुआ: "आप··· आप कौन हैं?"

अशोक ने जवाब दिया: "मैं कौन हूँ···? मैं वही हूँ जो कि मैं हूँ।"

स्टोर वाले ने ग़ौर से अशोक के चश्मा ओढ़े चेहरे की तरफ़ देखा: "आप अशोक कुमार हैं!"

अशोक ने बड़े दिल-शिकन लहजे में कहा: "अशोक कुमार कोई और होगा चलो मंटो।" यह कहकर उसने मेरे कंधे पर हाथ रखा और दवा ख़रीदे बग़ैर ही हम दोनों स्टोर से बाहर निकल आए। होटल का मोड़ मुड़ने लगे तो सामने से तीन मरहठी लड़कियाँ नमूदार हुईं। बहुत साफ़-सुथरी, गोरी-चिट्टी, माथों पर कुमकुम, बालों में वेनियाँ, पैरों में हल्के-फुल्के चप्पल। उनमें से एक, जिस के हाथों में मोसमियाँ थीं, अशोक को देखकर ज़ोर से काँपी। भिंची हुई आवाज़ में उसने अपनी सहेलियों से कहा: "अशौक!" और उसके हाथों की सारी मौसमियाँ सड़क पर गिर पड़ीं। अशोक ने मेरा कंधा छोड़ा और भाग गया।

अशोक से मेरी पहली मुलाक़ात 'फ़िल्मस्तान' में हुई, जब एस मुखर्जी की पूरी टीम ने बंबे टाकीज़ छोड़कर अपना नया फ़िल्मी इदारा क़ाइम कर लिया था। यूँ तो मैंने कई बार उसकी कलकियाँ देखी थीं, मगर उससे मुफ़स्सल मुलाक़ात 'फ़िल्मस्तान' ही में हुई, जब मैं वहाँ मुलाज़िम था।

फ़िल्मी दुनिया की हर शख़्सियत पर्दे पर कुछ और, पर्दे से दूर कुछ और ही होती है। अशोक को चुनाँचे जब मैंने पहली मर्तबा क़रीब से देखा तो पर्दे के अशोक से बहुत मुख़्तलिफ़ था। गहरा साँवला रँग, मोटे और खुरदुरे हाथ, मज़बूत कसरती जिस्म, नीम गँवार लबो-लहजा, उखड़ा-उखड़ा ग़ैर फ़ित्री तकल्लुफ़–तआरुफ़ कराया गया तो मैंने उससे कहा: "आपसे मिलकर बड़ी मसर्रत हुई है।"

अशोक ने इसके जवाब में जो कुछ कहा, वह मोटे-मोटे अल्फ़ाज़ पर मुश्तमिल था। ऐसा लगता था जैसे उसने यह लफ़्ज़ रटे हुए हैं।

एक मर्तबा फ़िल्मस्तान में एक साहब सैरो-तफ़रीह के लिए आए। आपने बड़े

पुर-तकल्लुफ़ अंदाज़ में अशोक से कहा : "मुझे ऐसा महसूस होता है कि ख़ाकसार को इससे पहले भी जनाब से शर्फ़े-मुलाक़ात हासिल हो चुका है।"

अशोक ने गडमड लहजे में जवाब दिया : "जी जी मुझे कभी मुक़ाबला नहीं हुआ "

मुक़ाबले का क़ाफ़ उसने हलक़ से निकाला, लेकिन फ़ौरन ही उसको अहसास हुआ कि उसने यह लफ़्ज़ ग़लत इस्तेमाल किया है, मगर वह गोल कर गया।

अशोक को उर्दू बहुत अच्छी लगती है। शुरू-शुरू में उसने इस ज़बान में लिखना पढ़ना शुरू किया, मगर क़ाइदे से आगे न बढ़ सका। फिर भी उसको थोड़ी-सी शुद-बुद है। एक दो सतर उर्दू में लिख लेता है। तक़सीम के बाद जब मैं उसे छोड़कर बंबे टाकीज़ से चला आया तो उसने मुझे उर्दू में एक ख़त लिखा कि वापस आ जाओ, मगर अफ़सोस है कि मैं चंद-दर-चंद वुजूह के बाइस उसका जवाब न दे सका।

मेरी बीवी भी दूसरी औरतों की तरह अशोक कुमार की बहुत मद्दाह थी।

एक दिन मैं अशोक को अपने घर ले आया—कमरे में दाख़िल होते ही मैंने ज़ोर से आवाज़ दी : "सफ़ीया आओ, अशोक कुमार आया है।"

सफ़ीया अंदर रोटी पका रही थी—जब मैंने पे-दरपे आवाज़ें दींह तो वह बाहर निकली। मैंने अशोक से उसका तआरुफ़ कराया : "यह मेरी बीवी है दादा मुनि हाथ मिलाओ इससे।"

सफ़ीया और अशोक, दोनों झेंप गए—मैंने अशोक का हाथ पकड लिया : "हाथ मिलाओ दादा मुनि शरमाते क्यों हो।"

मजबूरन उसे हाथ मिलाना पड़ा।

इत्तिफ़ाक़ से उस रोज़ क़ीमे की रोटियाँ तैयार की जा रही थी। अशोक खा के आया था, मगर जब खाने पर बैठा तो तीन हड़प कर गया।

यह अजीब बात है कि बंबे में इसके बाद जब कभी हमारे यहाँ कीमे की रोटियाँ तैयार होतीं, अशोक किसी न किसी तरह आन मौजूद होता। इसकी तौजीह मैं कर सकता हूँ न अशोक—दाने-दाने पर मुहर वाला ही किस्सा मालूम होता है।

मैंने अभी-अभी अशोक को दादा मुनि कहा है। बगला में इसका मतलब है "बडा भाई"—अशोक से जब मेरे मरासिम बढ़ गए तो उसने मुझे मजबूर किया कि मैं इसे दादा मुनि कहा करूँ। मैंने उससे कहा : "तुम बड़े कैसे हुए। हिसाब कर लो। मैं उम्र में तुमसे बड़ा हूँ।"

हिसाब किया गया तो वह मुझसे उम्र में दो माह और कुछ दिन बड़ा निकला। चुनाँचे अशोक और मिस्टर गांगुली के बजाए मुझे उसे दादा मुनि कहना पड़ा। यह मुझे पसंद भी था क्योंकि इसमें बँगालियों की महबूब मिठाई रसगुल्ले की मिठास और गोलाई थी। वह मुझे पहले मिस्टर मंटो कहता था। जब उससे दादा मुनि कहने का मुआहदा हुआ तो वह मुझे सिर्फ़ मंटो कहने लगा हालाँकि मुझे यह ना पसंद था।

पर्दे पर वह मुझे चाकलेट हीरो मालूम होता था, मगर जब मैंने उसको स्लोलाइड के ख़ोल से बाहर देखा तो वह एक कसरती आदमी था। उसके मुक्के में इतनी कुव्वत थी कि

दरवाज़े की लकड़ी में शिगाफ़ पड़ जाता था। हर रोज़ घर पर बॉक्सिंग की मश्क़ करता था। शिकार खेलने का शौक़ीन था। सख़्त से सख़्त काम कर सकता था। अफ़सोस मुझे सिर्फ़ इस बात का हुआ कि उसे आराइश का क़त्अन ज़ौक़ नहीं था। वह अगर चाहता तो उसका घर दिलकश से दिलकश साज़ो-सामान से आरास्ता होता। मगर इस तरफ़ वह कभी तवज्जो देता ही नहीं था। और अगर देता था तो उसके नताइज़ ग़ैर-सना आना होते थे। ब्रश उठाकर ख़ुद ही सारे फ़र्नीचर पर गहरा नीला पेंट थोप देता, या किसी सोफ़े की पुश्त तोड़कर उसे दीवान की भोंडी शक्ल में तबदील कर देता।

मकान समंदर के एक ग़लीज़ किनारे पर है। नमकीन पानी के छींटे बाहर खिड़कियों की सलाख़ों को चाट रहे हैं, जगह-जगह लोहे के काम पर ज़ंग की पपड़ियाँ जमा हैं। उनसे बड़ी उदासी फैलानेवाली बू आ रही है, मगर अशोक इस से क़त्अन ग़ाफ़िल है। रेफ़्रिजरेटर बाहर कॉरीडोर में पड़ा झक मार रहा है। उसके साथ लगकर उसका ग्रांडील एलसेशन कुत्ता सो रहा है। पास कमरे में बच्चे उधम मचा रहे हैं और अशोक ग़ुस्लख़ाने के अंदर पाट पर बैठा दीवारों पर हिसाब लगाकर देख रहा है कि रेस में कौन-सा घोड़ा विन आएगा, या मुकालमों का पर्चा हाथ में लिए उन की अदाइगी सोच रहा है। अशोक को पामिस्ट्री और इल्मे-नुजूम से ख़ास शग़फ़ है। मुआख़िर-उज़्ज़िक्र इल्म उसने अपने बाप से सीखा है। मुताद्दिद किताबें भी पढ़ी है। फ़ुर्सत के औक़ात में वह शग्ल के तौर पर अपने दोस्तों की जन्म-पत्रियाँ देखा करता है।

मेरे सितारों का मुताला करके उसने एक दिन मुझसे सरसरी तौर पर पूछा : "तुम शादी-शुदा हो ?"

मैंने उससे कहा : "तुम्हे मालूम नही ?"

उसने कुछ देर ख़ामोश रहने के बाद कहा : "जानता हूँ   लेकिन देखो मंटो, एक बात बताओ   नहीं   तुम्हारे तो अभी औलाद नहीं हुई।"

मैंने उससे पूछा : "बात क्या है   बताओ तो सही।"

उसने हिचकिचाते हुए कहा : "कुछ नहीं   जिन लोगों के सितारों की पोज़ीशन ऐसी होती है, उनकी पहली औलाद लडका होती है   मगर वह ज़िंदा नहीं रहती।"

अशोक को यह मालूम था कि मेरा लड़का एक साल का होकर मर गया था।

अशोक ने मुझे बाद में बताया कि उसका पहला बच्चा जो कि लडका था, मुर्दा पैदा हुआ था। उसने मुझसे कहा : "तुम्हारे और मेरे सितारों की पोज़ीशन क़रीब-क़रीब एक जैसी है, और यह कभी हो ही नहीं सकता कि जिन लोगों के सितारों की पोज़ीशन ऐसी हो, उन के हाँ पहली औलाद लड़का न हो और वह न मरे।"

अशोक को इल्मे-नुजूम की सेहत पर पूरा-पूरा यक़ीन है बशर्ते कि हिसाब दुरुस्त हो। वह कहा करता है : "जिस तरह एक पाई की कमी बेशी हिसाब में बहुत बड़ी गड़बड़ पैदा कर देती है, इसी तरह सितारों के हिसाब में मामूली-सी ग़लती हगें कहीं की कहीं ले जाती है। यही वजह है कि वुसूक़ के साथ कोई नतीजा क़ाइम नहीं करना चाहिए, क्योंकि हो सकता है, हम से सहव हो गया हो।"

रेस के घोड़ों के टिप हासिल करने में भी आमतौर पर अशोक इसी इल्म से मदद लेता है। घंटों बाथरूम में बैठा हिसाब लगाता रहता है, मगर पूरी रेस में सौ रुपए से ज़्यादा उसने कभी नहीं खेला, और यह अजीब इत्तिफ़ाक है कि वह हमेशा जीता है। सौ के एक सौ दस हो गए, सौ के सौ ही रहे, मगर ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसके सौ में से एक पाई कम हुई हो—वह रेस जीतने के लिए नहीं, महज़ तफ़रीह के लिए खेलता है। उसकी हसीनो-जमील बीवी शोभा, तीन बच्चों की माँ, हमेशा उसके साथ होती है। मेंबर्ज़ इंक्लोज़र में दाख़िल होते ही वह एक कोने में अलग-थलग बैठ जाता है। रेस शुरू होने से चंद मिंट पहले अपनी बीवी को रुपए देता है कि वह फ़लाँ-फ़लाँ नंबर के टिकिट ले आए। जब रेस ख़त्म होती है तो उसकी बीवी ही खिड़की पर जाकर जीतनेवाले टिकिटों के रुपए वसूल करती है।

शोभा घरेलू औरत है। तालीम वाजिबी है। अशोक कहा करता है कि वह अनपढ़ है मगर सिर्फ़ अज़-राहे-मज़ाक। उसकी इज़्दिवाजी ज़िंदगी बहुत कामयाब है। शोभा इतनी दौलत होने के बावजूद घर के काम-काज में मशग़ूल रहती है। ठेट बंगालियों की तरह सूती धोती पहने और उसके पल्लू के एक कोने में चाबियों का यह बड़ा गुच्छा उड़से, वह मुझे हमेशा अपने घर में मसरूफ़ेकार नज़र आई—शाम को जब कभी व्हिस्की का एक दौर चलता तो गज़क की चीज़ें शोभा अपने हाथ से तैयार करती थी। कभी नमकीन पारे, कभी भुनी हुई दाल, कभी आलूओं के क़त्ले।

मैं ज़रा ज़्यादा पीने का आदी था, इसलिए शोभा अशोक से कहती : "देखो गांगूली, मिस्टर मंटो को ज़्यादती मत देना, वर्ना मिसिज़ मंटो हमको बोलेंगी।'

मिसिज़ मंटो और मिसिज़ गांगुली, दोनों सहेलियाँ थीं। उनसे हम दोनों बहुत काम निकालते थे। जंग के बाइस अच्छे सिगरेट क़रीब-क़रीब नापैद थे। जितने भी बाहर से आते थे, सबके सब ब्लैक मार्केट में चले जाते थे। यूँ तो हम आम तौर पर ब्लैक मार्केट ही से अपने लिए सिगरेट हासिल करते थे मगर जब किसी वसीले से सही क़ीमत पर कोई चीज़ मिल जाती, तो हम अजीबो-ग़रीब मसर्रत महसूस करते।

मिसिज़ गांगुली जब शापिंग करने निकलती तो मेरी बीवी सफ़ीया को कभी-कभी अपने साथ ले जाती। क़रीब-क़रीब हर बड़े दुकानदार को मालूम था कि मिसिज़ गांगुली, मशहूर एक्टर अशोक कुमार की बीवी है। चुनाँचे उसके तलब करने पर ब्लैक मार्केट की तारीक तहों में छुपाई हुई चीज़ें बाहर निकल आती थीं। यूँ भी बंबे के मर्द, औरतों के मामले में काफ़ी नर्मदिल वाक़ा हुए हैं।

बैंक से रुपए निकलवाना हो, कोई रजिस्ट्री करवाना हो, सिनेमा या रेल गाड़ी के टिकिट लेना हों, मर्द पड़ा डेढ़ घंटा सूखता रहेगा लेकिन उसके मुक़ाबले में औरत को एक मिनट भी इंतिज़ार करना नहीं पड़ेगा।

अशोक ने अपनी शुहरत और हरदिल-अज़ीज़ी से शायद ही फ़ाइदा उठाया, मगर दूसरे बाज़ औक़ात उसके इल्म के बग़ैर उसके ज़रिए से अपना उल्लू सीधा कर लेते थे—राजा मेहदी अली ख़ाँ ने एक दफ़ा बड़े ही दिलचस्प तरीक़े से अपना उल्लू सीधा किया। राजा फ़िल्मस्तान में मुलाज़िम था। मैं फ़िल्मस्तान छोड़कर वली साहब के लिए एक

कहानी लिख रहा था। एक रोज़ मुझे टेलीफ़ोन पर अशोक के सेक्रेट्री ने बताया कि राजा मेहदी अली ख़ाँ बीमार हैं। मैं वहाँ पहुँचा तो देखा कि जनाब की बहुत बुरी हालत है। गला इस क़दर ख़राब है कि आवाज़ ही नहीं निकलती। नक़ाहत का यह आलम है कि सहारा लेकर भी उठा नहीं जाता। और आप नमकीन पानी के ग़रारों और ओरियंटल बाम की मालिश से अपना मर्ज़ दूर करने की कोशिश फ़र्मा रहे हैं।

मुझे शुबा हुआ, कहीं डिप्थीरिया न हो। चुनाँचे मैंने उन्हें फ़ौरन मोटर में लादा और अशोक को टेलीफ़ोन किया। उसने मुझे अपने एक वाक़िफ़ डॉक्टर का नाम बताया कि वहाँ ले जाओ। मैं राजा साहब को वहाँ ले गया। तश्ख़ीस के बाद मालूम हुआ कि वाक़ई वही मूज़ी मर्ज़ है। डॉक्टर साहब के मश्वरे के मुताबिक़ मैंने फ़ौरन ही मुताद्दी अमराज़ के हस्पताल में उनको दाख़िल करा दिया। टीके वग़ैरा दिए गए। दूसरे रोज़ सुबह मैंने अशोक को राजा के मर्ज़ की नोअय्यत बताई। जब उसने कोई तश्वीश ज़ाहिर न की तो मुझे ग़ुस्सा आ गया : "तुम कैसे इन्सान हो एक आदमी ऐसे ख़ौफ़नाक मर्ज़ में मुबतला है। बेचारे का यहाँ कोई पुर्साने हाल भी नहीं और तुम कोई दिलचस्पी ही नहीं ले रहे।"

अशोक ने जवाबन सिर्फ़ इस क़द्र कहा : "आज शाम को चलेंगे उसके पास।"

टेलीफ़ोन बंद करके मैं हस्पताल पहुँचा और देखा कि राजा की हालत पहले की निस्बत किसी क़द्र बहतर है। डॉक्टर ने जो टीके कहे थे, वह मैं ले आया था। यह उस के हवाले करके और दम-दिलासा देकर मैं अपने काम पर चला गया।

शाम को अशोक ने मुझे बली के दफ़्तर में पकड़ लिया। मैं नाराज़ था मगर उसने मुझे मना लिया। मोटर में हम हस्पताल पहुँचे। अशोक ने राजा से माज़रत तलब की कि वह बेहद मसरूफ़ था। इधर-उधर की बातें हुईं। इसके बाद अशोक मुझे घर छोड़कर वापस चला गया।

दूसरे रोज़ हस्पताल पहुँचा तो क्या देखता हूँ, 'राजा राजा' बना बैठा है। बिस्तर की चादर उजली, तकिए का गिलाफ़ उजला। सिगरेट की डिबिया, पान, सरहाने की विंडो सिल पर फूलदान। टाँग पर टाँग रखे हस्पताल का साफ़-सुथरा जोड़ा पहने, बड़े ऐयाशाना तौर पर अख़बार का मुताला कर रहा था—मैंने हैरत भरे लहजे में उससे पूछा : "क्यों राजा, यह सब कैसे ?"

राजा मुस्कराया। उसकी यह बड़ी-बड़ी मूँछें थर्राईं : "यह तो कुछ भी नहीं, अभी और देखना।"

मैंने पूछा : "क्या मतलब ?"

ऐयाशी के सामान कुछ रोज़ और मैं यहाँ रहा तो तुम देखोगे कि पास वाले कमरे में मेरी हरम सराय होगी ख़ुदा जीता रखे मेरे अशोक कुमार को बताओ, वह क्यों नहीं आया।"

थोड़ी देर के बाद राजा ने बताया कि वह सब कुछ अशोक का नूर-ज़हूर है—हस्पताल वालों को पता चल गया कि अशोक उसकी बीमार पुर्सी के लिए आया था। चुनाँचे हर छोटा बड़ा राजा के पास आया। हर एक ने उससे एक ही क़िस्म के मुताद्दिद सवाल किए।

क्या अशोक वाक़ई उसकी बीमार पुर्सी के लिए आया था ?"

"अशोक से उसके क्या ताल्लुक़ात हैं ?"

"क्या वह फिर आएगा ?"

"वह कब और किस वक़्त आएगा ?"

राजा ने उनको बताया कि अशोक उसका बहुत ही गहरा दोस्त है। उसके लिए अपनी जान तक देने को तैयार है। वह हस्पताल में उसके साथ ही रहने को तैयार था, मगर डॉक्टर न माने। सुबह-शाम आता मगर कंट्रैक्ट कुछ ऐसे हैं कि मजबूर है। आज शाम को ज़रूर आएगा—इसका नतीजा यह हुआ कि ख़ैराती हस्तपाल के ख़ैराती कमरे में उसको हर क़िस्म की सुहूलत मैस्सर थी।

वक़्त ख़त्म होने पर मैं जाने ही वाला था कि मेडिकल स्टूडेंट लड़कियों का एक गिरोह कमरे में दाख़िल हुआ—राजा मुस्कराया। फिर उसने मुझसे कहा : "ख़्वाजा, हरम सराय के लिए यह साथ वाला कमरा, मेरा ख़याल है, छोटा रहेगा।"

अशोक बहुत अच्छा एक्टर है, मगर वह सिर्फ़ अपनी जान पहचान के बेतकल्लुफ़ लोगों के साथ मिलकर ही पूरी दिल जमअई से काम कर सकता है। यही वजह है कि उन फ़िल्मों में उसका काम इत्मीनान बख़्श नहीं है, जो उसकी टीम ने नहीं बनाए। अपने लोगों में हो तो वह खुलकर काम करता है। टेक्नीशियनों को मशवरे देता है, उनके मशवरे क़ुबूल करता है। अपनी एक्टिंग के मुताल्लिक़ लोगों से इस्तिफ़सार करता है। एक सीन को मुख़्तलिफ़ शक्लों में अदा करके ख़ुद परखता है और दूसरों की राय लेता है। इस फ़ज़ा से अगर कोई उसे बाहर ले जाता है तो वह बहुत उलझन महसूस करता है।

तालीम-याफ़्ता होने और बंबई टाकीज़ जैसे बाज़ौक़ फ़िल्मी इदारे के साथ कई बरसों तक मुन्सलिक रहने की वजह से अशोक को फ़िल्मी सनअत के क़रीब-क़रीब हर शोबे से वाक़िफ़ीयत हासिल हो गई है। वह कैमरे की बारीकियाँ जानता था। लेबारेट्री के तमाम पेचीदा मसाइल समझता था। एडिटिंग का अमली तज्रबा रखता था और डायरेक्शन की गहराइयों का भी मुताला कर चुका था। चुनाँचे फ़िल्मस्तान में जब उस से राय बहादुर चुन्नी लाल ने एक फ़िल्म प्रोड्यूस करने के लिए कहा तो वह फ़ौरन तैयार हो गया।

उन दिनों फ़िल्मस्तान का प्रोपेगंडा फ़िल्म 'शिकारी' मुकम्मल हो चुका था, इसलिए मैं कई महीनों की लगातार मेहनत के बाद घर में छुट्टियों के मजे उड़ा रहा था। एक दिन सावक वाचा आए। इधर-उधर की बातें करने के बाद कहने लगे : "सआदत, एक कहानी लिख दो गांगुली के लिए "

मेरी समझ में न आया कि सावक का क्या मतलब है। मैं फ़िल्मस्तान का मुलाज़िम था और मेरा काम ही कहानियाँ लिखना था। गांगुली के लिए कहानी लिखवाने के लिए सावक की सिफ़ारिश की क्या ज़रूरत थी। मुझसे वहाँ फ़िल्मस्तान का कोई ज़िम्मेदार रुक्न भी कहता, मैं कहानी लिखना शुरू कर देता। लेकिन बाद में मुझे मालूम हुआ कि अशोक चूँकि फ़िल्म ख़ुद प्रोड्यूस करना चाहता है, इसलिए उसकी ख़्वाहिश है कि मैं उसकी ख़्वाहिश के मुताबिक़ कोई निहायत ही अछूती कहानी लिखूँ। वह ख़ुद मेरे पास इसलिए न आया कि

वह दूसरों से कई कहानियाँ सुन चुका था।

बहरहाल सावक के साथ वक़्त मुक़र्रर हुआ और हम सब सावक ही के साफ़-सुथरे फ़्लैट में जमा हुए। अशोक को कैसी कहानी चाहिए थी, यह ख़ुद उसको मालूम नहीं था : "बस मंटो, ऐसी कहानी हो कि मज़ा आ जाए⋯इतना ख़याल रखना कि यह मेरा पहला फ़िल्म होगा।"

हम सबने मिलकर घंटों मग़ज़पाशी की, मगर कुछ समझ में न आया—उन दिनों आग़ा ख़ाँ की डाइमंड जुबली होने वाली थी, जिसके लिए सावक के फ़्लैट की परली तरफ़ ब्रेबोर्न स्टेडियम में एक बहुत बड़ा पंडाल तामीर किया जा रहा था। मैंने उस से इंस्परेशन हासिल करने की कोशिश की। सावक के सिटिंग रूम में सनम तराशी का एक निहायत ही उम्दा नमूना था। उसको भी दिमाग़ में घुमाया फिराया। अपने पुराने कारनामों पर नज़र डाली मगर कोई नतीजा बरआमद न हुआ।

दिन भर की सअई-ए-नाकाम की कोफ़्त दूर करने के लिए शाम को बाहर टेरेस पर ब्रांडी का दौर शुरू हुआ। शराब के इंतिख़ाब में सावक वाचा बहुत ही उम्दा ज़ौक़ का मालिक है। ब्रांडी चुनाँचे ज़ाइक़ा और क़िवाम की बहुत ही अच्छी थी। हलक़ से उतरते ही लुत्फ़ आ गया—सामने चर्च गेट स्टेशन था। नीचे बाज़ार में ख़ूब चहल-पहल थी। उधर बाज़ार के इख़्तिताम पर समंदर औंधे मुँह लेटा सुस्ता रहा था। बड़ी-बड़ी क़ीमती कारें सड़क की चमकीली सतह पर तैर रही थीं—थोड़ी देर के बाद एक हाँपता हुआ सड़कें कूटनेवाला इंजन नमूदार हुआ—मैंने ऐसे ही सोचा। ख़ुदा मालूम कहाँ से यह ख़याल मेरे दिमाग़ में आन टपका कि अगर इस टेरेस से कोई ख़ूबसूरत लड़की एक रुक़्क़ा गिराए, इस नीयत से कि वह जिसके हाथ लगेगा, वह उससे शादी करेगी तो क्या हो ? हो सकता है कि रुक़्क़ा किसी पैकार्ड मोटर में जा गिरे और यह भी हो सकता है कि रुक़्क़ा उड़ता-उड़ता सड़कें कूटनेवाले इंजन के ड्राइवर के पास जा पहुँचे[1]—हो सकने का यह सिलसिला कितना दराज़ था और कितना दिलचस्प!

मैंने इसका ज़िक्र अशोक और सावक से किया। उनको मज़ा आ गया। और मज़ा लेने की ख़ातिर हमने ब्रांडी का एक और दौर चलाया और बेलगाम ख़याल आराइयाँ शुरू कर दीं। जब महफ़िल बर्ख़ास्त हुई तो तय पाया कि कहानी की बुनियादें इसी ख़याल पर उस्तुवार की जाएँ।

कहानी तैयार हो गई, मगर उसकी शक्ल कुछ और ही थी। हसीना का लिखा हुआ रुक़्क़ा रहा, न सड़कें कूटने वाला इंजन। पहले-पहल ख़याल था कि ट्रेजिडी होनी चाहिए, मगर अशोक चाहता था कि कौमेडी हो और वह भी बहुत ही तेज़ रफ़्तार। चुनाँचे दिमाग़ की सारी क़ुव्वतें उसी तरफ़ सिर्फ़ होने लगीं। कहानी मुकम्मल हो गई तो अशोक को पसंद आई और शूटिंग शुरू हो गई। अब फ़िल्म का एक-एक फ़्रेम अशोक की हिदायत के मातहत तैयार होने लगा। बहुत कम लोग जानते हैं कि 'आठ दिन' तमामो-कमाल अशोक की डायरेक्शन का नतीजा थी। पर्दे पर डायरेक्टर का नाम डी एन पाई दिया गया

1 इस ख़याल की बुनियाद पर फ़िल्म 'नौजवान' बनी थी।

था, जिसने इस फ़िल्म का एक इंच भी डाइरेक्ट नहीं किया था—बंबे टाकीज़ में फ़िल्म डायरेक्ट को बहुत कम अहमियत दी जाती थी। सब मिलकर काम करते थे। जब फ़िल्म नुमाइश के लिए पेश होता था तो एक कारकुन का नाम बतौर डायरेक्टर के पेश कर दिया था। यह तरीक़ाए-कार फ़िल्मस्तान में भी राइज था। डी एन पाई फ़िल्म एडिटर था और अपने काम में बहुत होशियार। चुनाँचे मुत्तफ़िक़ा तौर पर यही फ़ैसला हुआ था कि बहैसियत डायरेक्टर के उसका नाम फ़िल्म के क्रेडिट टाइटिल्ज़ में पेश किया जाए।

अशोक जितना अच्छा किर्दारकार है, उतना ही अच्छा हिदायतकार भी है। उसका इल्म मुझे 'आठ दिन' की शूटिंग के दौरान में हुआ। मामूली से मामूली मंज़र पर भी वह बहुत मेहनत करता था। शूटिंग से एक रोज़ पहले वह मुझसे नज़रे-सानी किया हुआ सीन लेता और ग़ुस्लख़ाने में बैठकर घंटो उसकी नोक-पलक पर ग़ौर करता रहता—यह अजीब बात है कि बाथरूम के अलावा और किसी जगह वह पूरी तवज्जो से फ़िक्र-तलब उमूर पर ग़ौर नहीं कर सकता।

इस फ़िल्म में चार नए आदमी बतौर एक्टर पेश हुए। राजा मेहदी अली ख़ाँ, उपेंद्र नाथ अश्क, मोहसिन[1] अब्दुल्लाह और राक़िमुल-हुरुफ़—तय यह हुआ था कि एस मुखर्जी को एक रोल दिया जाएगा, मगर वक़्त आने पर वह अपनी बात से फिर गए, इसलिए कि उनके फ़िल्म 'चल-चल रे नौजवान' में कैमरे की दहशत के बाइस मैंने काम करने से इन्कार कर दिया था। मुखर्जी को बहाना हाथ आया। असल में वह ख़ुद कैमरे से ख़ौफ़ज़दा थे।

उनका रोल एक शैल शॉक्ड फ़ौजी का था। इसके लिए लिबास वग़ैरा सब तैयार थे। जब मुखर्जी ने इन्कार किया तो अशोक बहुत सिटपिटाया कि उन की जगह और किसे मुंतख़ब करे। कई दिन शूटिंग बंद रही। रायबहादुर चुन्नी लाल जब लाल-पीले होने लगे तो अशोक मेरे पास आया। मैं चंद मनाज़िर को दोबारा लिख रहा था। उसने मेज़ पर से मेरे काग़ज़ उठाकर एक तरफ़ रखे और कहा : "चलो मंटो।"

मैं उसके साथ चल पड़ा। मेरा ख़याल था कि वह मुझे नए गीत की धुन सुनवाने ले जा रहा है, मगर वह मुझे सेट पर ले गया और कहने लगा : "पागल का पार्ट तुम करोगे।"

मुझे मालूम था कि मुखर्जी इन्कार कर चुका है और अशोक को उस ख़ास रोल के लिए कोई आदमी नहीं मिल रहा, लेकिन यह मालूम नहीं था कि वह मुझसे कहेगा कि मैं यह रोल अदा करूँ—चुनाँचे मैंने उससे कहा : "पागल हुए हो ?"

अशोक संजीदा हो गया और कहने लगा : "नहीं मंटो, तुम्हें यह रोल लेना ही पड़ेगा।"

राजा मेहदी अली ख़ाँ और उपेंद्र नाथ अश्क ने भी इसरार किया—राजा ने कहा : "तुमने मुझको अशोक का बहनोई बना दिया, हालाँकि मैं शरीफ़ आदमी हरगिज़ इसके लिए तैयार न था क्योंकि मैं अशोक की इज़्ज़त करता हूँ··· तुम पागल बन जाओगे तो कौन-सी आफ़त आ जाएगी।"

1. पर अमृता नीना का साबिक शौहर।

इस पर मज़ाक़ शुरू हो गया और मज़ाक़-मज़ाक़ में सआदत हसन मंटो, पागल फ़्लाइट लेफ़्टिनेंट कृपा राम बन गया—कैमरे के सामने मेरी जो हालात हुई, उसको अल्लाह बेहतर जानता है।

फ़िल्म तैयार होकर नुमाइश के लिए पेश हुआ तो कामयाब साबित हुआ। नाक़िदीन ने उसे बेहतरीन कामेडी क़रार दिया—मैं और अशोक ख़ास तौर पर बहुत ही मसूर थे और हमारा इरादा था कि अब की कोई बिलकुल नए टाइप की फ़िल्म बनाएँगे, मगर क़ुदरत को यह मंज़ूर नहीं था।

सावक वाचा 'आठ दिन' की शूटिंग के आग़ाज़ ही में अपनी वालिदा के इलाज के सिलसिले में लंदन चला गया था। वह जब वापस आया तो फ़िल्मी सनअत में एक इंक़िलाब बर्पा हो चुका था। कई इदारों के दिवाले पिट गए थे। बंबे टाकीज़ की निहायत अबतर हालत थी। हिमांसू राय आँजहानी के बाद,देविका रानी चंद बरसों की इद्दत के बाद रूस के एक जिलावतन नवाब के आर्टिस्ट लड़के रोरक से रिश्ताए- इज़्दिवाज़ क़ाइम करके फ़िल्मी दुनिया त्याग चुकी थी।

देविका रानी के बाद बंबे टाकीज़ पर कई बेरूनी हमलावरों ने क़ब्ज़ा किया मगर उसकी हालत न सुधार सके। आख़िर सावक वाचा लंदन से वापस आए और जुर्अते-रिंदाना से काम लेकर बंबे टाकीज़ की इनाने-हुकूमत अशोक की मदद से अपने हाथ में ले ली।

अशोक को फ़िल्मस्तान छोड़ना पड़ा। इस दौरान में लाहौर से मिस्टर मोती बी गिडवानी ने मुझे तार के ज़रिए से एक हज़ार रुपए माहवार की ऑफ़र दी। मैं चला गया होता मगर मुझे सावक का इंतिजार था। जब अशोक और वह दोनों बंबे टाकीज़ में इकट्ठे हुए तो मैं उनके साथ था। यह वह ज़माना था कि हिंदुस्तान की तक़सीम के लिए अंग्रेज रफ़ कापियों पर नक़्शे बना रहा था। भुस में चिंगी डाल, यह बी जमालो अलग खड़ी होकर तमाशा देखने के लिए जगह बना रही थी।

मैंने जब बंबे टाकीज़ में क़दम रखा तो हिंदू-मुस्लिम फ़सादात शुरू थे। जिस तरह क्रिकेट के मैचों में विकटें उड़ती हैं, बाउंड्रीयाँ लगती हैं, इस तरह उन फ़सादों में लोगों के सिर उड़ते थे और बड़ी-बड़ी आगें लगती थीं।

सावक वाचा ने बंबे टाकीज़ की अबतर हालत का अच्छी तरह जाइज़ा लेने के बाद जब इंतिज़ाम संभाला तो उसे बहुत-सी मुश्किलें दरपेश आईं। ग़ैरज़रूरी उन्सुर को, जो मज़हब के लिहाज़ से हिंदू था, निकाल बाहर किया तो काफ़ी गड़बड़ हुई। मगर जब उसकी जगह पुर की गई तो मुझे महसूस हुआ कि किलीदी आसामियाँ मुसलमानों के पास हैं। मैं था, शाहिद लतीफ़ था, इस्मत चुगताई थी, कमाल अमरोही था, हसरत लखनवी था, नज़ीर अजमेरी, नाज़िम पानीपती और म्युज़िक डायरेक्टर ग़ुलाम हैदर थे। यह सब जमा हुए तो हिंदू कारकुनों में सावक वाचा और अशोक के ख़िलाफ़ नफ़रत के जज़्बात पैदा हो गए। मैंने अशोक से इसका ज़िक्र किया तो हँसने लगा। "मैं वाचा से कह दूँगा कि वह एक डाँट पिला दे···"

डाँट पिलाई गई तो उसका असर उलटा हुआ। वाचा को गुमनाम ख़त वसूल होने लगे कि

अगर उसने अपने स्टूडियो से मुसलमानों को बाहर न निकाला तो उसको आग लगा दी जाएगी। यह ख़त वाचा पढ़ता तो आग-बगूला हो जाता : "साले मुझसे कहते हैं कि मैं ग़लती पर हूँ मैं ग़लती पर हूँ तो इनके बाबा का क्या जाता है आग लगाएँ तो मैं इन सबको उसमें झोंक दूँगा।"

अशोक का दिलो-दिमाग़ फ़िर्क़े-वाराना तास्सुब से बिलकुल पाक है। वह कभी उन ख़ुतूत पर सोच ही नहीं सकता था, जिन पर आग लगाने की धमकियाँ देनेवाले सोचते थे—वह मुझसे हमेशा कहता : "मंटो, यह सब दीवानगी है आहिस्ता-आहिस्ता दूर हो जाएगी।"

मगर आहिस्ता-आहिस्ता दूर होने के बजाय वह दीवानगी बढ़ती ही चली जा रही थी और मैं ख़ुद को मुजरिम महसूस कर रहा था, इसलिए कि अशोक और वाचा मेरे दोस्त थे। वह मुझसे मश्वरे लेते थे, इसलिए कि उनको मेरे ख़ुलूस पर भरोसा था। लेकिन मेरा ख़ुलूस मेरे अंदर सिकुड़ रहा था—मैं सोचता था कि अगर बंबे टाकीज़ को कुछ हो गया तो मैं अशोक और वाचा को क्या मुँह दिखाऊँगा।

फ़सादात ज़ोरों पर थे—एक दिन मैं और अशोक बंबे टाकीज़ से वापस आ रहे थे। रास्ते में उसके घर देर तक बैठे रहे। शाम को उसने कहा : "चलो मैं तुम्हें छोड़ आऊँ।" शार्ट कट की ख़ातिर वह मोटर को एक ख़ालिस इस्लामी मौहल्ले में ले गया—सामने से एक बारात आ रही थी। जब मैंने बैंड की आवाज़ सुनी तो मेरे औसान ख़ता हो गए। एकदम अशोक का हाथ पकड़कर मैं चिल्लाया : "दादा मुनि, यह तुम किधर आ निकले!"

अशोक मेरा मतलब समझ गया—मुस्कराकर उसने कहा : "कोई फ़िक्र न करो।"

मैं क्योंकर फ़िक्र न करता। मोटर ऐसे इस्लामी मौहल्ले में थी जहाँ किसी हिंदू का गुज़र ही नहीं हो सकता था। और अशोक को कौन नहीं पहचानता था। कौन नहीं जानना था कि वह हिंदू है, एक बहुत बड़ा हिंदू जिसका क़त्ल मार्का-ख़ेज होता—मुझे अरबी ज़बान में कोई दुआ याद नहीं थी। क़ुरान की कोई मौज़ूँ व मुनासिब आयत भी नहीं आती थी। दिल ही दिल में अपने ऊपर लानतें भेज रहा था और धड़कते हुए दिल से अपनी ज़बान में बेजोड़-सी दुआ माँग रहा था कि "ऐ ख़ुदा मुझे सुर्ख़ रू रखियो ऐसा न हो, कोई मुसलमान अशोक को मार दे और मैं सारी उम्र उसका ख़ून अपनी गर्दन पर महसूस करता रहूँ—यह गर्दन, क़ौम की नहीं, मेरी अपनी गर्दन थी। मगर यह ऐसी ज़लील हरकत के लिए दूसरी क़ौम के सामने नदामत की वजह से झुकना नहीं चाहती थी।

जब मोटर बारात के जुलूस के पास पहुँची तो लोगों ने चिल्लाना शुरू कर दिया : "अशोक कुमार, अशोक कुमार।" मैं बिलकुल यख़ हो गया। अशोक स्टेरिंग पर हाथ रखे ख़ामोश था। मैं ख़ौफ़ो-हिरास की यख़बस्तगी से निकल कर हुजूम से यह कहने वाला था कि देखो होश करो, मैं मुसलमान हूँ और यह मुझे मेरे घर छोड़ने जा रहा है—कि दो नौजवानों ने आगे बढ़कर बड़े आराम से कहा : "अशोक भाई आगल रास्ता नहीं मिलेगा इधर बाजू की गली से चले जाओ।"

अशोक भाई? अशोक उनका भाई था। और में कौन था?

मैंने दफ़अतन अपने लिबास की तरफ़ देखा जो खादी का था—मालूम नहीं, उन्होंने मुझे

क्या समझा होगा। मगर हो सकता है कि उन्होंने अशोक की मौजूदगी में मुझे देखा ही न हो।

मोटर जब उस इस्लामी मौहल्ले से निकली तो मेरी जान में जान आई। मैंने अल्लाह का शुक्र अदा किया तो अशोक हँसा : "तुम ख़्वाहमख़्वाह घबरा गए · आर्टिस्टों को यह लोग कुछ नहीं कहा करते।"

चंद रोज़ बाद बंबे टाकीज़ में नज़ीर अजमेरी की कहानी[1] पर मैंने जब कड़ी नुक्ताचीनी की और उसमें कुछ तबदीलियाँ करना चाहीं तो नज़ीर अजमेरी ने अशोक और वाचा से कहा : "मंटो को आप ऐसे मुबाहिसों के दौरान में न बिठाया करें वह चूँकि ख़ुद अफ़साना नवीस है, इसलिए मुतास्सिब है "

मैंने बहुत ग़ौर किया। कुछ समझ में न आया। आख़िर मैंने अपने-आपसे कहा : "मंटो भाई, आगल रास्ता नहीं मिलेगा मोटर रोक लो। इधर बाजू की गली से चले जाओ।"

और मैं चुपचाप बाजू की गली से पाकिस्तान चला आया जहाँ मेरे अफ़साने 'ठंडा गोश्त' पर मुक़दमा चलाया गया।

1. जो 'मजबूर' के नाम से फिल्म बद हुई।

मेरठ की क़ैंची

'चल चल रे नौजवान' की नाकामी का सद्मा हमारे दिलो-दिमाग़ से क़रीबन मुंदमिल[1] हो चुका था—फ़िल्मिस्तान के लिए ज्ञान मुकर्जी एक प्रोपेगंडा कहानी लिखने में एक अर्से से मसरूफ़ थे। कहानी लिखने-लिखाने और उसे पास कराने से पेशतर नलिनी जयवंत और उसके शौहर विरेंद्र देसाई से, जिससे वह अब तलाक़ ले चुकी है, कांट्रेक्ट हो चुका था। ग़ालिबन पच्चीस हज़ार रुपए में। एक साल उस मुआहदे[2] की मीआद थी।

एस. मुकर्जी, प्रोडक्शन कंट्रोलर हस्बे-आदत सोच-बिचार में दस महीने गुज़ार चुके थे—कहानी का ढाँचा था कि तैयार होने में न आता था।

बसदमुश्किल जूँ-तूँ करके एक ख़ाका मअरज़े-वुजूद[3] में आया, जिसे ज्ञान मुकर्जी अपने चर्मी थैले में डालकर देहली रवाना हो गए ताकि ज़बानी तौर पर उसमें कुछ और बातें डालकर हुकूमत से पास करा लें।

ख़ाका पास हो गया—जब शूटिंग का मरहला आया तो विरेंद्र देसाई ने यह मुतालबा किया कि उसके साथ एक बरस का और कांट्रेक्ट किया जाए, इसलिए कि पहले मुआहदे की मीआद ख़त्म हो रही थी।

रायबहादुर चुन्नीलाल, फ़िल्मिस्तान के मैनेजिंग डायरेक्टर, बड़े अक्खड़ क़िस्म के आदमी थे। चुनांचे नतीजा यह हुआ कि मुक़दमेबाज़ी हुई—फ़ैसला विरेंद्र देसाई और उसकी ख़ूबरू बीवी नलिनी जयवंत के हक़ में हुआ। इस तरह प्रोपेगंडा फ़िल्म, जिसकी कहानी का अभी सिर्फ़ ग़ैर मुकम्मल ख़ाका ही बना था, पच्चीस हज़ार रुपयों के बोझ तले आ गई।

रायबहादुर चुन्नीलाल को बहुत उजलत[4] थी कि फ़िल्म जल्द तैयार हो, क्योंकि बहुत वक़्त ज़ाय हो चुका था—जल्दी-जल्दी वली साहब को बुलाकर उनकी बीवी मुम्ताज़ शांति से कांट्रेक्ट कर लिया गया और उनको चौदह हज़ार रुपए बतौर पेशगी अदा कर दिए गए, ब्लैक में यानी रसीद के बग़ैर।

दो दिन शूटिंग हुई—मुम्ताज़ शांति और अशोक कुमार के दरमियान मुख़्तसर-सा मुकालमा था, जो बड़ी मीनमेख़ के बाद फ़िल्माया गया। मगर जब पर्दे पर उस टुकड़े को देखा गया तो सबने मुम्ताज़ शांति को नापसंद किया। इस नापसंदीदगी में इस बात का भी बड़ा दख़ल था कि मुम्ताज़ शांति बुर्क़ा पहनकर आती थी, और वली साहब ने साफ़

अल्फ़ाज़ में एस. मुकर्जी से कह दिया था कि मुम्ताज़ शांति के जिस्म को कोई हाथ-वाथ न लगाए।

नतीजा यह हुआ कि मुम्ताज़ शांति को फ़िल्म से अलहदा कर दिया गया, इस बहाने से कि जो किरदार उसे अदा करना है, उसके लिए वह मुनासिब व मोज़ूँ नहीं, क्यों ऐसे कई मक़ाम आएँगे जहाँ हीरोइन को अपने जिस्म के बाज़ हिस्सों की उरियाँ नुमाइश करना पड़ेगी—क़िस्सा मुख़्तसर कि यह चौदह हज़ार भी गए।

अब कहानी का नामुकम्मल ढाँचा उनतालीस हज़ार रुपए के नीचे दबा पड़ा था।

रायबहादुर चुन्नीलाल तो बस लाल-पीले हो रहे थे—'चल चल रे नौजवान' की नाकामी ने कंपनी की हालत बहुत पतली कर दी थी। मारवाड़ियों से क़र्ज़ लेकर गुज़ारा बड़ी मुश्किल से हो रहा था—रायबहादुर की ख़फ़गी और परेशानी बजा थी।

एक दिन मैं, वाचा, पाई और अशोक कुमार स्टूडियो के बाहर कुर्सियों पर बैठे कंपनी की उन हिमाक़तों का ज़िक्र कर रहे थे, जिनके बायस इतना वक़्त और रुपया ज़ाया हुआ था कि अशोक कुमार ने यह इन्किशाफ़[5] किया कि जो चौदह हज़ार रुपए रायबहादुर ने मुम्ताज़ शांति को दिए थे, वह उन्होंने उससे क़र्ज़ लिए थे—अशोक कुमार ने यह इन्किशाफ़ अपनी काली पिंडी खुजलाते हुए कुछ इस अंदाज़ से किया कि हम सब बेइख़्तियार हँस पड़े, लेकिन फ़ौरन ही हमें चुप होना पड़ा।

सामने बजरी बिछी हुई रविश पर एक अजनबी औरत हमारी भारी-भरकम हेयर-ड्रैसर के साथ मेकअप-रूम की तरफ़ जा रही थी।

दत्ताराम पाई ने अपने काले, मोटे और बदशकल होंठ खोले और ख़ौफ़नाक तौर पर आगे बढ़े हुए औंधे-सीधे मैले दाँतों की नुमाइश की और वाचा को कोहनी का ठोका देकर अशोक कुमार से मुख़ातिब हुआ : "यह · यह कौन है ?"

वाचा ने पाई के सिर पर एक धौल जमाई : "साले, तू कौन होता है पूछनेवाला ?" पाई बदला लेने के लिए उठा तो वाचा ने उसकी कलाई पकड़ ली : "बैठ जा साले मत जा उधर··· तेरी शकल देखते ही भाग जाएगी।"

पाई अपने औंधे-सीधे दाँत पीसता रह गया।

अशोक कुमार, जो अभी तक ख़ामोश बैठा था, बोला : "गुड लुकिंग है !"

मैंने एक लहज़े के लिए ग़ौर से उस औरत को देखा और कहा : "हाँ नज़रों पर गराँ नहीं गुज़रती।"

अशोक कुमार मेरा मतलब न समझा : "कहाँ से नहीं गुज़रती ?"

मैं हँसा : "मेरा मतलब यह था कि जो औरत यहाँ से गुज़र कर गई है, उसे देखकर आँखों पर बोझ नहीं पड़ता · बड़ी साफ़-सुथरी है, लेकिन क़द की ज़रा छोटी है।"

पाई ने फिर अपने बदनुमा दाँतों की नुमाइश की : "अरे चलेगी क्यों वाचा ?"

वाचा अब पाई के बजाय अशोक कुमार से मुख़ातिब हुआ : "दादा मुनि, तुम जानते हो, वह कौन है ?"

अशोक कुमार ने जवाब दिया : "ज़्यादा नहीं जानता · मुकर्जी से सिर्फ़ इतना मालूम

हुआ था कि एक औरत टेस्ट के लिए आज आनेवाली है।"

कैमरा और साउंड टेस्ट किया गया, जिसे हमने पर्दे पर देखा और सुना और अपनी-अपनी राय दी—मुझे, अशोक कुमार और वाचा को वह बिलकुल पसंद न आई, इसलिए कि उसकी जिस्मानी हरकात चोबी[6] थीं। उसके आज़ा की हर जुंबिश में तसन्नो[7] था। मुकालमे अदा करते वक़्त उसके अबरू पेशेवर रक़्क़ासाओं की तरह नाचते थे। मुसकराहट भी ग़ैर दिलकश थी—लेकिन पाई उस पर लट्टू हो गया। उसने कई मर्तबा अपने बदनुमा दाँतों की नुमाइश की और एस. मुकर्जी से कहा : "वंडरफ़ुल स्क्रीन फ़ेस है।"

दत्ताराम पाई फ़िल्म एडिटर था, अपने काम का माहिर—फ़िल्मिस्तान चूँकि ऐसा इदारा है जहाँ हर शौबे के आदमी को इज़हारे-राय की आज़ादी है, इसलिए दत्ताराम पाई वक़्त-बे वक़्त अपनी राय से हम लोगों को मुस्तफ़ीद[8] करता रहता था, और ख़ासतौर पर मेरे तमस्ख़ुर[9] से दो-चार होता था।

हम लोगों ने अपना फ़ैसला सुना दिया था, लेकिन एस. मुकर्जी ने उस औरत को, जिसका नाम पारो था, प्रोपेगंडा फ़िल्म के एक रोल के लिए मुंतख़िब कर लिया—चुनांचे रायबहादुर चुन्नीलाल ने फ़ौरन उससे एक फ़िल्म कांट्रेक्ट मामूली-सी माहाना तनख़्वाह पर कर लिया।

अब पारो हर रोज़ स्टूडियो आने लगी—वह बहुत हँसमुख और घुलू-मिट्ठू हो जानेवाली तवाइफ़ थी। मेरठ उसका वतन था, जहाँ वह शहर के क़रीब-क़रीब हर रंगीन मिज़ाज रईस की मंज़ूरे-नज़र[10] थी—पारो को वह लोग मेरठ की क़ैंची कहते थे, इसलिए कि वह काटती थी और बड़ा महीन काटती थी—वहाँ हज़ारों में खेलती थी, पर उसे फ़िल्मों में आने का शौक़ था जो उसे फ़िल्मिस्तान ले आया।

जब उससे खुल के बातें करने का मौक़ा मिला तो मालूम हुआ कि हज़रते-जोश मलीहाबादी और हज़रते-साग़र निज़ामी भी अक्सर उसके हाँ आया-जाया करते थे और उसका मुजरा सुनते थे।

उसकी ज़बान बहुत साफ़ थी और जिल्द[11] भी, जिससे मैं बहुत ज़्यादा मुतास्सिर हुआ—छोटी आस्तीनोंवाले फँसे-फँसे ब्लाउज़ में उसकी सुडोल, मुतनासिब[12] और नंगी बाँहें हाथी के दाँतों की तरह दिखाई देतीं। सफ़ेद और ख़ूबसूरत जिल्द में ऐसी चिकनी चमक थी जो देवदार की लकड़ी पर रंदा फेरने से पैदा होती है।

वह सुबह स्टूडियो आती, नहाई-धोई, साफ़-सुथरी, उजली, सफ़ेद या किसी हल्के रंग की साड़ी में मलबूस। वह किसी साबुन का इश्तिहार मालूम होती—शाम को जब घर रवाना होती तो दिन गुज़रने के बावुजूद गर्दो-ग़ुबार का एक ज़र्रा तक उस पर नज़र न आता। वह वैसी ही तरो-ताज़ा होती, जैसी सुबह को होती।

दत्ताराम पाई उस पर और ज़्यादा लट्टू हो गया—शूटिंग शुरू नहीं हुई थी, इसलिए उसे फ़राग़त-ही-फ़राग़त थी—चुनांचे वह अक्सर पारो के साथ बातें करने में मशग़ूल रहता।

मालूम नहीं, वह उसके भौंडे और करख़्त लहजे, उसके औंधे-सीधे मैले दाँतों और उसके अनकटे मैल भरे नाख़ूनों को कैसे बर्दाश्त करती थी—सिर्फ़ एक ही बात समझ में आती है और वह यह कि तवाइफ़ अगर बर्दाश्त करना चाहे तो बहुत कुछ बर्दाश्त कर सकती है।

प्रोपेगंडा फ़िल्म की कहानी का ढाँचा मेरे हवाले किया गया कि मैं बड़े ग़ौर से उसका मुताला करूँ और वह तरमीमो-तनसीख़[13] मेरी समझ में आए, बयान कर दूँ—मैंने उस ढाँचे के तमाम जोड़ देखे और इस नतीजे पर पहुँचा कि ऐसा बेजोड़ ढाँचा शायद ही किसी ने तैयार किया हो। कोई सर था न पैर—चूँकि मेरी क़ाबलियत का इम्तिहान था, इसलिए मैंने उन्हीं ख़ुतूत पर एक और ढाँचा तैयार किया, बड़े ख़ुलूस और बड़ी मेहनत से। इसकी वजह यह थी कि डायरेक्शन के फ़राइज़[14] मेरे कहने पर सावक वाचा को सौंपे जानेवाले थे जो मेरा अज़ीज़ दोस्त था।

नया ढाँचा जब फ़िल्मिस्तान की 'फ़ुल बैंच' के सामने पेश हुआ तो मेरी वह हालत थी, जो किसी मुजरिम की हो सकती है।

एस. मुकर्जी ने अपना फ़ैसला इन चंद अल्फ़ाज़ में दिया : "ठीक है, मगर इसमें अभी काफ़ी इस्लाह की गुंजाइश है।"

ज्ञान मुकर्जी से पूछा गया तो उन्होंने अपनी आदत के मुताबिक़ मुँह सिकोड़कर सिर्फ़ इतना कहा : "आल मोस्ट ठीक है।"

ज्ञान मुकर्जी वह हज़रत थे जो एस. मुकर्जी की डायरेक्ट की हुई तमाम फ़िल्मों के डायरेक्टर कहलाते थे, हालाँकि उन्होंने अपनी ज़िंदगी में एक फ़ुट फ़िल्म भी डायरेक्ट नहीं की थी।

असल में फ़िल्मिस्तान में काम करने का ढब ही निराला था—सारी फ़िल्म आपने डायरेक्ट की है, लेकिन पर्दे पर मेरा नाम दिया जा रहा है, कहानी मेरी है, लेकिन उसका मुसन्निफ़ आपको बना दिया गया है—बात यह थी कि वहाँ सब मिलजुलकर काम करते थे। आप इससे अंदाज़ा कर लीजिए कि दत्ताराम पाई, जिसे मालूम ही नहीं था कि फ़िल्मी कहानी क्या होती है, मुझे मशवरे दिया करता था।

प्रोपेगंडा फ़िल्म की कहानी लिखने की दुशवारियाँ वही समझ सकता है, जिसने कभी ऐसी कहानी लिखी हो। सबसे ज्यादा मुश्किल मेरे लिए यह थी कि मुझे पारो को, उसकी शक्लो-सूरत, उसके क़द और उसकी फ़नी कमज़ोरियों के पेशे-नजर उस कहानी में दाख़िल करना था—बहरहाल बड़ी मग़ज़पाशियों[15] के बाद तमाम मराहिल तय हो गए। कहानी की नोकपलक निकल आई और शूटिंग शुरू हो गई।

हमने बाहम मशवरा करके यह तय किया कि जिन मनाज़िर[16] में पारो का काम है, वह सबसे आख़िर में फ़िल्माए जाएँ ताकि पारो फ़िल्मी फ़ज़ा से और ज़्यादा मानूस हो जाए और उसके दिमाग़ से कैमरे की झिझक निकल जाए।

किसी मंज़र की भी शूटिंग होती, पारो बराबर हमारे दरमियान होती—दत्ताराम पाई अब उससे इतना खुल गया था कि बाहम मज़ाक़ भी होने लगे थे। पाई की छेड़-छाड़ मुझे बहुत

भौडी मालूम होती और मै पारो की अदम मौजूदगी मे उसका तमस्खुर उडाता—कमबख्त बडी ढिटाई से कहता "साले, तू क्यो जलता है ?"

जैसा कि मै इससे पहले बयान कर चुका हूँ, पारो बहुत हँसमुख और घुल-मिट्ठ हो जानेवाली तवाइफ थी। स्टूडियो के हर कारकुन से वह ऊँच-नीच से बेपरवा बडे तपाक से मिलती थी। यही वजह है कि वह बहुत थोडे अर्से मे मकबूल हो गई—स्टूडियो के निचले तबके ने उसे एहतिरामन पारो देवी कहना शुरू कर दिया और यह इतना आम हुआ कि फिल्म के उनवानात मे पारो के बजाय पारो देवी लिखा गया।

दत्ताराम पाई ने एक कदम और आगे बढाया और कुछ ऐसी टिप्पस लडाई कि एक दिन पारो के घर पहुँच गया। थोडी देर वहाँ बैठा, उससे अपनी खातिर-मदारात[17] कराई और चला आया—इसके बाद उसने हफ्ते मे एक-दो मर्तबा बाकाइदगी के साथ वहाँ जा धमकना शुरू कर दिया।

पारो अकेली नही रहती थी। उसके साथ एक अधेड उम्र का मर्द भी रहता था कदो-कामत मे उससे दोगुना—मैंने दो-तीन मर्तबा उसे पारो के साथ देखा था। वह उसका पतिदेव कम और 'थामू' ज्यादा नजर आता था।

पाई ऐसे फख्रो-इब्तिहाज[18] से कैंटीन मे पारो से अपनी मुलाकातो का जिक्र नीम आशिकाना अदाज मे करता कि हँसी आ जाती। मैं और वाचा उसका खूब मजाक उडाते मगर वह कुछ ऐसा ढीट था कि उस पर कुछ असर न होता—कभी-कभी पारो भी मौजूद होती। मै उसकी मौजूदगी मे भी पाई के खाम और भोंडे इश्क का मजाक उडाता। वह बुरा न मानती और मुसकराती रहती—उस मुसकराहट मे उसने मेरठ मे जाने कितने दिलो को अपनी कैंची से कतरा होगा।

पारो मे आम तवाइफो ऐसा भडकीला या छिछोरापन नही था। वह मुहज्जब[19] महफिलो मे बैठकर बडी शाइस्तगी[20] से गुफ्तगू कर सकती थी—इसकी वजह यही हो सकती है कि मेरठ मे उसके यहाँ आने-जानेवाले ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे नही होते थे। उनका ताल्लुक सोसाइटी के उस तबके से था, जो शाइस्तगी के साथ महज तफ्रीह की खातिर कोठो की तरफ माइल होता है।

पारो अब, स्टूडियो की फजा मे बडी अच्छी तरह घुलमिल गई थी—फिल्मी दुनिया मे अक्सर ऐसा होता है कि जब कोई औरत या लडकी एक्ट्रेस बनती है तो उसको कोई-न-कोई फौरन दबोच लेता है, जैसे वह गेंद है और जिसे बल्ले के साथ किसी ने हिट लगाई है और फील्ड मे खडे खिलाडी इस ताक मे है कि वह उनके हाथ मे चली आए।

लेकिन पारो के साथ ऐसा न हुआ, शायद इसलिए कि फिल्मिस्तान दूसरे निगारखानो के मुकाबले मे बहुत हद तक 'पाकबाज' था—एक वजह यह भी हो सकती है कि पारो को कोई इतनी ज्यादा जल्दी नही थी—और शायद ऐसा भी था कि फील्ड मे खडे हुए खिलाडी अपने-अपने तौर पर मसरूफ थे।

मोहसिन अब्दुल्लाह* अपनी यक आहंग ख़ुश्क मुजर्रिद[21] जिंदगी से उकताकर पारसी लड़की वीरा को, जिसकी ज़िंदगी मोहसिन अब्दुल्लाह ही के मानिंद सपाट थी, शरीके-हयात[22] बनाने की कोशिश में मसरूफ़ था। इसी ग़र्ज़ के लिए उसे हमारे साथ सैकिंड क्लास में सफ़र करना छोड़ना पड़ा, क्योंकि वीरा फ़र्स्ट क्लास में आती-जाती थी। इसके बाद उसको रवायती 'ऐटीकेट' के मुताबिक़ आते-जाते वीरा की कुतिया की ज़ंजीर थामना पड़ती—आशिक़ों के इमाम मियाँ मजनूँ को भी तो लैला की कुतिया अज़ीज़ थी—इसलिए मोहसिन अब्दुल्लाह अपनी 'मसरूफ़ियत' के सबब पारो की तरफ़ तवज्जोह न दे सका।

वाचा को पारो से कोई दिलचस्पी नहीं थी—उसने बड़ी मुश्किलों के बाद ताज़ा-ताज़ा अपनी बदकार फ़्रांसिसी बीवी से निजात[23] हासिल की थी।

एस. मुकर्जी तो परी चेहरा नसीम बानो के चक्कर मे था और ज्ञान मुकर्जी का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था कि वह एक औरत से शादी करके ही भर पाया था।

अपने मुताल्लिक मैं सिर्फ़ इतना कह सकता हूं कि मुझे पारो की जिल्द बहुत पसंद थी—एक दिन मैंने शाहिद लतीफ+ से इसका ज़िक्र किया तो उसने मुसकराकर कहा, "जिल्द बहुत पसंद है, ठीक है लेकिन तुम्हे क्या मालूम, अंदर किताब कैसी है और मज़मून कैसा है?"

पाई की हालत अब बहुत मजहकाख़ेज़ हो गई थी—पारो ने एक रोज़ उसे अपने घर मदऊ[24] किया था और उसे अपने हाथ से दो पटियाला पैग जानी वॉकर के पिलाए थे, और जब उसको बहुत ज़्यादा नशा हो गया था तो उसको बडे प्यार से अपने सोफ़े पर लिटा दिया था—पाई को यक़ीन हो गया था कि पारो उस पर मरती है। और हम लोग चूँकि नाकाम रहे हैं, इसलिए हसद[25] की आग में जलते हैं—इस बारे में पारो का रद्दे-अमल क्या था, यह मुझे मालूम नहीं।

शूटिंग जारी थी। वीरा फिल्म‡ की हीरोइन थी और साइड हीरोइन का रोल पारो को अदा करना था। उसे बर्मा के किसी आज़ाद जंगली क़बीले की एक शोख़ो-शंग[26], तेज व तर्रार लडकी का रूप धारना था।

जूं-जूं पारो के मनाजिर फिल्माए जाने का वक्त करीब आता गया, मेरे अंदेशे बढ़ते गए—मुझे डर था कि वह इम्तिहान में पूरी न उतरेगी और हम सबकी कोफ़्त का मूजिब होगी।

आखिर वह दिन आ गया, जो उसका पहला शूटिंग डे था—मेकअप और कास्ट्यूम से

* परइमरगर नीना का साबिक़ ख़ाविंद—नीना 'फिल्म 'मन की जीत' की हीरोइन—इस फिल्म के गीत जोश मलीहाबादी ने लिखे थे। —संपादक

+ शाहिद लतीफ इस्मत चुगताई का शौहर—प्रोड्यूसर-डायरेक्टर—मशहूर और अच्छी फिल्में 'ज़िद्दी', 'आरज़ू' और 'बुज़दिल'।

‡ फिल्म का नाम 'शिकारी' था।

मुज़ैयन[27] होकर वह कैमरे के सामने आई—अजीबो-ग़रीब तराश के भड़कीले रंगोंवाली फँसी-फँसी चोली, नाफ़ से ऊपर पेट की हल्की-सी झलक, घुटनों से बालिश्त भर ऊपर लहँगा।

ऐसा मालूम होता था कि वह कैमरे, माइक और ख़ैराकुन रोशनियों से क़त्अन मरऊब या ख़ाइफ़[28] नहीं है। मुकालमा उसको अच्छी तरह याद करवा दिया गया था और उम्मीद थी कि वह बोल जाएगी—मगर जब टेक का वक़्त आया तो उसका सारा वुजूद लकड़ी हो गया। मुँह खोला तो मुकालमा सपाट।

कई रिहर्सलें कराई गईं, मगर उस लकड़ी में जान के आसार पैदा न हुए। वह पेशेवर रक़्क़ासाओं की तरह अपने अबरू नचाती, जैसे भाव बता रही हो—तीन-चार रिटेक हुए तो मैं बिलकुल मायूस हो गया। वाचा तबअन बहुत जल्द घबरा जाता था। उसने देखा कि ऊँटनी की कोई कल सीधी नहीं तो एस. मुकर्जी से कहा कि वह उसे ठीक करे।

मुकर्जी उसे क्या ठीक करता—वह बनी ही कुछ ऐसे आबो-गिल[29] से थी, जिसमें बनाव, भाव और नृत्य कूट-कूटकर भरे हुए थे—उसने एक टेक गवारा-सी एक्टिंग की तो एस. मुकर्जी ने ग़नीमत समझकर साद[30] कर दिया।

हम सबने बड़ी कोशिश की कि उसका तसन्नो और 'चोबीपन' किसी-न-किसी हीले दूर हो जाए, मगर नाकाम रहे—शूटिंग जारी रही और वह बिलकुल न सुधरी। उसको कैमरे और माइक का कोई ख़ौफ़ नहीं था, मगर सेट पर वह हम्बे-मन्शा अदाकारी के जौहर दिखाने से क़ासिर[31] थी—इसकी वजह मेरठ के मुजरों के सिवा और क्या हो सकती थी। बहरहाल इतनी उम्मीद ज़रूर थी कि वह किसी-न-किसी रोज़ मँज जाएगी।*

चूँकि मुझे उसकी तरफ़ से बहुत मायूसी हुई थी, इसलिए मैंने उसके रोल में कतर-ब्योंत शुरू कर दी। मेरी इस चालाकी का इल्म उसको पाई के ज़रिए से हो गया। चुनांचे उसने ख़ाली औक़ात में मेरे पास आना शुरू कर दिया। घंटों बैठी इधर-उधर की बातें करती रहती, बड़े शाइस्ता अंदाज़ में, मुनासिबो-मोज़ूँ अल्फ़ाज़ में, जिनमें चापलूसी का रंग बज़ाहिर न होता—हाँ मेरी तारीफ़ होती।

एक-दो मर्तबा उसने मुझे अपने घर पर मदऊ भी किया। मैं शायद चला जाता, लेकिन उन दिनों मैं बहुत मसरूफ़ था—हर वक्त मेरे आसाब[32] पर प्रोपेगंडा फिल्म† का मंज़रनामा सवार रहता था। यूँ तो मेरा हाथ बँटाने के लिए तीन आदमी, राजा मेहंदी अली ख़ाँ, मोहसिन अब्दुल्लाह और दीक्षित मौजूद थे, लेकिन—राजा मेहंदी अली ख़ाँ ने तआवुन[33] से इनकार कर दिया था, इसलिए कि वह हर वक्त अपनी रूठी हुई बीवी को ख़त

---

* आख़िर एक वक़्त आया और पारो मँज गई—फ़िल्मिस्तान की कामयाब फ़िल्म 'शबनम' में उसने दिलीपकुमार और कामिनी कौशल के मुक़ाबिल एक ख़ानाबदोश लड़की का किरदार बख़ूबी निभाया था। —संपादक

† इससे पेशतर भी मंटो ने 'प्रोपेगंडा फ़िल्म' का ज़िक्र किया है—प्रापगंडा फ़िल्म से मुराद एंटी वार, एंटी जापान फ़िल्म है। —संपादक

लिखने म मसरूफ़ रहता था; मोहसिन अब्दुल्लाह तो वीरा से अपने ताल्लुक़ात मुस्तह्कम[34] करने में मशगूल था; और दीक्षित सिर्फ़ पारो को मुकालमे याद कराता रहता था।

फ़िल्म मे पारो को हीरो अशोक कुमार से अपने जारहाना इश्क़ का इज़हार करना था—मैं कुछ अर्से से नोट कर रहा था कि जब पारो और अशोक कुमार सेट पर एक-दूसरे के सामने होते हैं तो पारो की आँखें अशोक की आँखों में गड़ जाना चाहती हैं, जैसे उनको यह बताना मक़सूद[35] हो : "देखो, जो कुछ हो रहा है, झूठ नहीं, सच है।"

अशोक कुमार तबअन बहुत झेंपू क़िस्म का आदमी है। वह किसी औरत से खुल्लमखुल्ला इजहारे-इश्क़ नहीं कर सकता मझे मालूम था कि उसको पारो पसंद है, लेकिन उसमें इतनी जुर्रात नहीं थी कि वह पारो से जिस्मानी ताल्लुक़ात पैदा कर सकता।

अशोक कुमार की ज़िंदगी में सैकड़ों नहीं, हज़ारों लड़कियाँ आईं। वह लॉर्ड बायरन बन सकता था, मगर वह अपनी शर्मीली तबीयत के बायस उन आसानी से फँस जानेवाली तितलियों को नाउम्मीद करता रहा। यह वह ज़माना था, जब वह किसी भी एक्ट्रेस पर हाथ डाल सकता था, बड़ी आसानी से। कई एक्ट्रेसें अपना दिल उसके क़दमों में पा अंदाज़ की तरह बिछाने के लिए तैयार थीं।

मैंने सोचा, पारो के दिल में जो खुदबुद हो रही है, वह कोई ताज्जुब की बात नहीं—फिर पारो नोवारिद[16] थी और ख़ुद को अशोक कुमार के साथ मुसलिक[17] करके बामे-शोहरत[18] पर बड़ी जल्दी पहुँच सकती थी।

फिल्म में पारो का रोल एक आज़ाद जंगली कबीले की खुदसर और जारहाना क़िस्म का इश्क़ करनेवाली लड़की का था, जो अशोक कुमार से मुहब्बत करती थी, मगर वह वीरा के इश्क़ में गिरफ्तार था—यह फिल्मी तस्लीस[19] पारो के अदरूनी जज्बात को मुश्तइल करने के लिए काफ़ी सामान बहम पहुँचा रही थी।

शूटिंग जारी थी, इनडोर और आउटडोर—एक दिन किश्तियों का एक सीन फ़िल्माया जाना था। इसके लिए बहुत दूर एक खाडी मुंतखिब की गई। दो किश्तियाँ थीं। एक में अशोक कुमार को सवार होना था और दूसरी में पारो को। उसे यह हिदायत थी कि जब उसकी किश्ती अशोक कुमार की किश्ती के पास पहुँचे तो वह अशोक कुमार की किश्ती में कूद जाए।

पानी बहुत गहरा था—पारो हस्बे-हिदायत अशोक कुमार की किश्ती मे कूदी मगर उसी वक़्त दोनो किश्तियों मे फ़ासला कुछ ज़्यादा हो गया और वह पानी में गिर पड़ी।

वाचा मदद के लिए चिल्लाया—फौरन साहिल पर से दो-तीन मछेरे पानी के अंदर घुसे और पारो को घसीटते हुए बाहर ले आए।

पारो, औरतज़ाद, मगर हैरत है कि उस हादिसे ने उसे बिलकुल खौफ़ज़दा न किया—कपड़े खुश्क हुए तो वह दूसरे टेक के लिए तैयार हो गई।

जब वह अपने भीगे हुए कपड़े निचोड़ रही थी तो मैंने और अशोक कुमार ने उसकी एक टाँग की झलक देखी, जो काफ़ी दिलचस्प और शरीर थी।

जब हम लोकेशन से फ़ारिग़ होकर घर की तरफ़ रवाना हुए तो रास्ते में अशोक कुमार ने

मुझसे कहा : "पारो की टाँग बड़ी अच्छी थी· जी चाहता था, रोस्ट करके खा जाऊँ।"

अजीब बात है कि अशोक कुमार ऐसा डरपोक और झेंपू अंदरूनी तौर पर सादियतपसंद था—इसकी वजह यही हो सकती है कि वह चूँकि अपने जज़्बात दबा लेने का आदी था, इसलिए रद्दे-अमल की सूरत में यह सादियत पैदा हो गई थी, कम-अज़-कम सोच की हद तक।

टू सीटर एम. जी कार में अशोक कुमार और मैं, दोनों स्टूडियो से घर वापस जाया करते और रास्ते में इधर-उधर की मुख़्तलिफ़ बातें किया करते—मोटर उस सड़क पर से भी गुज़रती, जिससे मुलाहिक़ा[40] गली में पारो का फ़्लैट था।

एक शाम जब हम उस सड़क पर से गुज़रे तो थोड़ी दूर आगे निकलकर अशोक कुमार ने मोटर रोक ली।

मैंने पूछा : "क्या बात है ?"

मुड़कर अशोक कुमार ने उस गली की तरफ़ देखा और कहा : "आज होली की ख़ुशी में पारो ने दावत दी है जाऊँ या न जाऊँ ?"

मुझे क्या एतिराज़ हो सकता था—मैंने कहा : "जाओ।"

"तो चलो, तुम भी चलो।"

मैंने कहा : "मैं क्यों चलूँ मुझे उसने मदऊ नहीं किया है।"

"इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है ?" यह कहकर उसने तेज़ी से मोटर घुमाई और फिर गली में दाखिल होकर पारो के फ़्लैट के पास ब्रेक लगाई।

हॉर्न बजाया तो बालकनी में वाचा और पाई नमूदार हुए।

पाई ने मुझे देखा तो अपने मक्रूह[41] दाँतों की नुमाइश करते हुए बोला : "अरे तुम भी आ गए !"

वाचा ने अशोक कुमार से कहा : "आओ, दादा मुनि आओ तुम्हारा ही इंतजार हो रहा था।"

पारो ख़िलाफ़े-मामूल पारसी साड़ी में मलबूस दुलहन-सी बनी बैठी थी।

हम कमरे में दाखिल हुए तो उसने उठकर इस्तिक़बाल किया—मुझे देखकर उसने बड़े मुनासिब व मोज़ूँ अल्फ़ाज़ में माजरत की कि वह मुझे मदऊ करना भूल गई थी।

फ़ौरन शराब का दौर शुरू हो गया।

पहला पैग ख़त्म हुआ तो पाई झूमने लगा—वाचा ने फ़रमाइश की कि एक-आध गाना हो जाए।

पारो ने चुग़लियाँ खानेवाली निगाहों से अशोक कुमार की तरफ़ देखा और कहा : "क्यों अशोक साहब, आप कुछ सुनेंगे ?"

अशोक झेंप गया और अपने मख़्सूस अक्खड़ अंदाज़ में सिर्फ़ इतना कह सका : "आप गाएँगी तो मैं सुनूँगा।"

गाना शुरू हुआ—बाज़ारी क़िस्म की ठुमरी थी। इसके बाद एक ग़ज़ल गाई गई, फिर कोई फ़िल्मी गीत।

इस दौरान में पारो का शौहर, या जो कोई भी वह था, गिलासों में शराब और सोडा उँडेलता रहा।

दूसरे पैग के बाद पाई की आँखें मुँदने लगीं। अशोक कुमार ज़्यादा पीने का आदी नहीं, इसलिए वह डेढ़ पैग से आगे न बढ़ सका। वाचा ने तीसरे के बाद अपने गिलास का मुँह बंद कर दिया।

ठुमरियाँ, ग़ज़लें, गीत, बहुत देर तक होते रहे—फिर जब पारो ने एक भजन सुनाया तो मेरी मौजूदगी का एहसास करके एक नअत[42] शुरू की।

मैंने फ़ौरन उसको रोक दिया : "पारो देवी, यह महफिले-निशात है शराब के दौर चल रहे हैं यहाँ काली कमलीवाले का ज़िक्र न किया जाए तो अच्छा है।"

उसने अपनी ग़लती का एतिराफ़ किया और माफ़ी की तलबगार हुई।

खाना बहुत अच्छा था।

अशोक कुमार जल्दी फारिग़ हो गया—उसके हाथ धुलवाने के लिए पारो उठी।

जब अशोक कुमार वापिस आया तो घबराया हुआ-सा था—उसने जल्दी-जल्दी रुख़्सत चाही और मुझे साथ लेकर वहाँ से चल दिया।

रास्ते में कोई बात न हुई—उसने मुझे मेरे घर छोड़ा और चला गया।

कई दिन गुज़र गए—शूटिंग बाक़ाइदगी से हो रही थी।

एक शाम जब मैं और अशोक कुमार वापिस जा रहे थे तो शिवाजी पार्क के पास, जहाँ पारो का फ़्लैट था, उसने मोटर की रफ़्तार कम की और मुझसे मुख़ातिब हुआ. " मंटो, तुम्हें एक दिलचस्प बात बताऊँ !" उसके लहजे में किसी क़दर कँपकँपाहट थी।

मैंने एक लहज़े के लिए सोचा कि दिलचस्प बात क्या हो सकती है। फिर मैंने कहा "बताओ।"

अशोक कुमार हँसने लगा : "तुम्हें याद है, उस रोज़ जब मैं खाने से फ़ारिग़ हो गया तो पारो मेरे हाथ धुलवाने के लिए उठी थी ?"

उसने इतना कहा तो मुझे उसकी उस दिन की घबराहट याद आ गई : "हाँ-हाँ !"

"हाथ धुलवाने के बाद जब ग़ुस्लख़ाने में उसने मुझे तौलिया दिया तो आहिस्ता से कहा : 'कल आप अकेले आइए, शाम को साढ़े छः बजे ' मैं घबरा गया और तौलिया फेंककर बाहर निकल आया।"

अशोक कुमार ने मोटर सड़क के किनारे ठहरा ली।

मैंने पूछा : "तुम गए ?"

"हाँ " अशोक कुमार ने स्टेयरिंग व्हील पर से हाथ उठाए और उन्हें ज़ोर-ज़ोर से मलने लगा : "लेकिन भाग आया।"

मैं सबकुछ तफ़सील से जानना चाहता था—मैंने पूछा : "हुआ क्या मुझे पूरा सीनेरियो[43] बताओ।"

अशोक कुमार ने कहा : "मैं बड़ा डरपोक हूँ जाने मुझे ऐसे मौक़ों पर क्या हो जाता है उसने मुझे सोफ़े पर बिठाया और आप क़ालीन पर मेरे साथ लगकर बैठ गई फिर

उसने दो पैग मुझे पिलाए और थोडी-सी खुद भी पी और फिर वह लगी अपनी मुहब्बत जताने मैं सुनता रहा और काँपता रहा जब उसने मेरा हाथ थामा और दबाया तो जाने मुझे क्या हुआ मैंने उसे बडे जोर से झटक दिया उसकी आँखो मे आँसू आ गए, लेकिन फौरन ही कही गायब हो गए वह मुसकराकर कहने लगी 'भैया अशोक, मैं तो आप का इम्तिहान ले रही थी 'मैने यह सुना तो चकरा गया। उठा तो उसने फिर कहा 'अशोक साहब, मैं तो आपको अपना भाई समझती हूँ ' मैंने कुछ न कहा और नीचे उतर आया कार मे बैठा, घर पहुँचकर आधा पैग पिया और और जब सोचा तो मुझे गुजरे हुए वाके पर बडा अफसोस हुआ क्या हर्ज था, अगर मैं '' अशोक कुमार के लहजे मे तास्सुफ[44] था।

मैंने कहा ''हाँ कोई हर्ज नही था।''

अशोक कुमार के लहज मे तास्सुफ और ज्यादा हो गया ''और मुझे वह पसद भी थी।''

यह सुनकर मेरी नजरो के सामने वह मजर आ गया जो एक रात पहले नौ बजे, स्टूडियो से बाहर सख्त सरदी मे फिल्माया गया था—जश्ने-मसर्रत[45] मे लोग नाच रहे थे। अशोक कुमार अपनी हीरोइन वीरा की बाँहो मे बाँहे डाले महवे-रक्स था और पारो देवी एक तरफ मुजस्समा ए-अफसुर्दगी[46] बनी अकेली खडी थी।

1 भग्ना 2 अनुबध, 3 अस्तित्व मे 4 जल्दी 5 रहस्योद्घाटन, 6 काष्ठमय, 7 बनावट, 8 लाभान्वित, 9 व्यग्य 10 कृपापात्र 11 मधुर 12 समानुपातिक, 13 सशोधन एव काट-छाँट, 14 दायित्वो 15 दिमाग खपाई 16 दृश्यो, 17 आवभगत 18 गर्वमिश्रित प्रसन्नता, 19 सभ्य, 20 शिष्टता, 21 अविवाहित, कुआँरी 22 जीवन-सगिनी 23 मुक्ति, 24 आमंत्रित 25 ईर्ष्या, 26 चचल, चतुर व सुदर युवती 27 मुर्माज्जित, 28 भयभीत, 29 मनुष्य का ढाँचा, 30 स्वीकार, 31 असमर्थ, 32 स्नायुतत्र, 33 सहयोग, 34 मजदू 35 उद्देश्य, 36 नवागतुक, 37 जोडकर, 38 प्रसिद्धि के शिखर, 39 त्रिकोण, 40 जुडी हुई, 41 घृणित, 42 इस्लाम का धार्मिक गीत, 43 दृश्य 44 पश्चाताप 45 आनदोत्सव, 46 दुख की मूरत।

मुरली की धुन

अप्रैल की तेईस या चौबीस थी, मुझे अच्छी तरह याद नहीं है—मैं पागल ख़ाने में शराब छोड़ने के सिलसिले में ज़ेरे-इलाज था कि श्याम की मौत की ख़बर एक अख़बार में पढ़ी। उन दिनों एक अजीबो-ग़रीब कैफ़ियत मुझ पर तारी थी। मैं बेहोशी और नीम-बेहोशी के एक चक्कर में फँसा हुआ था। कुछ समझ में नहीं आता था कि होशमंदी का इलाक़ा कब शुरू होता हैऔर मैं बेहोशी के आलम में कब पहुँच जाता हूँ। दोनों की सरहदें कुछ इस तरह आपस में गडमड हो गई थीं कि मैं ख़ुद को नोमेंसलैंड में भटकता महसूस करता था।

श्याम की मौत की ख़बर चुनाँचे जब मेरी नज़रों से गुज़री तो मैंने समझा, यह सब तर्के-शराब की कारस्तानी है जिसने मेरे ज़ेहन में हलचल पैदा कर रखी है। इस से क़ब्ल नीम-ख़्वाबी के आलम में कई अज़ीज़ों की मौतें मेरे लिए वाके हो चुकी थी और नीम-होशमंदी के वक़्त मुझे यह भी मालूम हो चुका था कि वह सबके सब ज़िंदा हैं और मेरी सेहत के लिए दुआएँ माँग रहे हैं।

मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैंने यह ख़बर पढ़ी तो साथ वाले कमरे के पागल से कहा : "जानते हो, मेरा एक निहायत ही अज़ीज दोस्त मर गया है"

उसने पूछा : "कौन?"

मैंने गुलूगीर आवाज़ में जवाब दिया : "श्याम।"

"कहाँ? यहाँ पागलख़ाने में?"

मैंने कोई जवाब न दिया। ऊपर तले कई तस्वीरें मेरे मुज़्तरिब दिमाग में उभरीं जिनमें श्याम था—मुस्कराता श्याम, हँसता श्याम, शोर मचाता श्याम, जिंदगी से भरपूर श्याम, मौत और उसकी हौलनाकियों से क़त्अन नाआश्ना श्याम—मैंने सोचा : "जो कुछ मैंने पढ़ा है, बिलकुल ग़लत है : अख़बार का वुजूद मेरे दिमाग़ की इख़्तिरा है।"

आहिस्ता-आहिस्ता अलकोहल की धुंध दिमाग़ से हटने लगी और मैं तमाम वाक़िआत को उनके सही ख़दोख़ाल में देखने लगा, मगर यह अमल कुछ इस क़द्र सुस्त रफ़्तार था कि जब मैं श्याम की मौत के हादिसे से दो चार हुआ तो मुझे एक ज़बरदस्त धक्का न लगा। मुझे यूँ महसूस हुआ जैसे वह अर्सा हुआ, मर चुका था और उसकी मौत का सदमा भी, अर्सा हुआ, मुझे पहुँच चुका था। अब सिर्फ़ उसके आसार बाक़ी थे। सिर्फ़ मल्बा रह गया था,

आहिस्ता-आहिस्ता जिसकी मैं खुदाई कर रहा था—शिकस्ता ईंटों के ढेर में कहीं श्याम की मुस्कराहट दबी हुई मिल जाती थी, कहीं उसका बाँका क़हक़हा।

पागलख़ाने से बाहर फ़रज़ानों की दुनिया में यह मशहूर था कि सआदत हसन मंटो, श्याम की मौत की ख़बर सुनकर पागल हो गया है—अगर ऐसा होता तो मुझे बहुत अफ़्सोस होता—श्याम की मौत की ख़बर सुनकर मुझे ज़्यादा होशमंद हो जाना चाहिए था। दुनिया की बेसबाती का एहसास मेरे दिलो-दिमाग़ में ज़्यादा शदीद हो जाना चाहिए था और ईंतिक़ामी जज़्बे के तहत अपनी ज़िंदगी को पूरी तरह इस्तेमाल करने का अज़्म मेरे अंदर पैदा हो जाना चाहिए था—श्याम की मौत की ख़बर सुनकर पागल हो जाना, महज़ पागलपन होता

तेशे बग़ैर मर न सका कोहकन असद
सरगश्ताए-खुमार रुसूम व क़ुयूद था।

रुसूम व क़ुयूद के बुतों को तोड़नेवाले श्याम की मौत पर पागल हो जाना, उसकी बहुत बड़ी तौहीन होती।

श्याम ज़िंदा है, अपने दो बच्चों में जो उसकी बेलौस मुहब्बत का नतीजा हैं। ताजी[1] में जो बक़ौल उसके, उसकी कमज़ोरी थी और उन तमाम औरतों में जिनकी ओढ़नियों के आँचल उसके मुहब्बत भरे दिल पर गाहे-गाहे साया करते रहे और मेरे दिल में जो सिर्फ इसलिए सोगवार है कि वह उसकी मौत के सिराहने यह नारा बुलंद न कर सका—श्याम-ज़िंदाबाद।

मुझे यक़ीन है, मौत के होठों को बड़े ख़ुलूस से चूमते हुए उसने अपने मख़सूस अंदाज में कहा होता : "मंटो, ख़ुदा की कसम, इन होठों का मजा कुछ और ही है"

मैं जब भी श्याम के मुताल्लिक़ सोचता हूँ तो मुझे मशहूर रूसी नाविल नवीस आर-तज़्बी शेफ का हीरो सीनाइन याद आ जाता है—श्याम आशिक था, इश्क़ पेशा नहीं था। वह हर खूबसूरत चीज़ पर मरता था—मेरा ख़याल है कि मौत ज़रूर ख़ूबसूरत होगी, वर्ना वह कभी न मरता।

उसको तपिश और हिद्दत से प्यार था। लोग कहते हैं कि मौत के हाथ ठंडे होते हैं। मैं नहीं मानता। श्याम ठंडे हाथो का बिलकुल काइल नहीं था। अगर वाकिई मौत के हाथ ठंडे होते तो उसने यह कहकर एक तरफ झटक दिए होते : "हटो बड़ी बी, तुम में ख़ुलूस नहीं है!"

मुझे एक ख़त में लिखता है :

क़िस्सा यह है, जाने-मन कि यहाँ हर एक 'हिपटुल्ला' है, लेकिन असली 'हिपटुल्ला' तो यहाँ से बहुत दूर है—मेरी पूछते हो तो भई कोई ऐसी वजह मालूम नहीं होती कि हर्फ़े-शिकायत लब पर लाऊँ—ज़िंदगी ख़ूब गुज़र रही है—रिंदी व मय नोशी, मय नोशी व रिंदी साथ-साथ चल रही है—ताजी छः महीने के अर्से के बाद वापस आ गई है। वह अभी तक मेरी एक बड़ी ज़बरदस्त कमज़ोरी है—और तुम जानते हो, औरत की मुहब्बत की गर्मी

1. मुम्ताज।

की राहत महसूस करना कितनी फ़रहत-अँग्रेज़ चीज़ है—आख़िर मैं इन्सान हूँ, एक नोर्मल इन्सान।

निगार[1] कभी-कभी मिलती है लेकिन अव्वलीन हक़ त का है।

शामों को तुम्हारी दानिशमंदाना बक्वास अक्सर याद आती है

श्याम ने इस ख़त में एक लफ़्ज़ 'हिपटुल्ला' इस्तेमाल किया है। इसकी तशरीह चूँकि ख़ाली-अज़-दिलचस्पी नहीं, इसलिए आप भी सुन लीजिए।

मैं बंबई टाकीज़ में मुलाज़िम था। उन दिनों कमाल अमरोही की फ़िल्मी कहानी 'हवेली[2]' की तशकीलो-तक्मील हो रही थी। अशोक, वाचा, हसरत लखनवी और मैं, सब हर रोज बहसो-तम्हीस में शामिल होते थे। इन निशस्तों में काम के अलावा कभी-कभी ख़ूब ज़ोरों पर गप भी चलती थी। एक दूसरे से मज़ाक़ होते। श्याम को जब फ़िल्म 'मजबूर' की शूटिंग से फ़राग़त होती तो वह भी हमारी महफ़िल में शरीक हो जाता।

कमाल अमरोही को आम गुफ़्तगू में भी ठेट क़िस्म के अदबी अल्फ़ाज़ इस्तेमाल करने की आदत है, मेरे लिए यह एक मुसीबत हो गई थी, इसलिए कि अगर मैं आम फ़हम अंदाज में कहानी के मुताल्लिक़ अपना कोई नया ख़याल पेश करता तो उसका असर कमाल पर पूरी तरह नहीं होता था। इसके बरअक्स अगर मैं ज़ोरदार अल्फ़ाज़ में अपना अमदिया बयान करता तो अशोक और वाचा की समझ में कुछ न आता। चुनांचे मैं एक अजीब क़िस्म की मिली-जुली ज़बान इस्तेमाल करने लगा।

एक रोज सुबह घर से बंबई टाकीज़ आते हुए मैंने ट्रेन में अख़बार का स्पोर्टस कालम खोला। ब्रेबोर्न स्टेडियम में क्रिकेट मैच हो रहे थे। एक खिलाड़ी का नाम अजीबो-गरीब था: 'हिप टुल्ला'—एच. इ. पी. टी. यू. एल. एल. एच. ए—हिप टुल्ला'—मैंने बहुत सोचा कि आख़िर यह क्या हो सकता है, मगर कुछ समझ में न आया। शायद हैबतुल्लाह की बिगडी हुई शक्ल थी।

स्टूडियो पहुँचा तो कमाल की कहानी की फ़िल्मी तशकील का काम शुरू हुआ। कमाल ने अपने मख़सूस अदीबाना और असर पैदा करनेवाले अंदाज में कहानी का एक बाब सुनाया। मझसे अशोक ने राय तलब की: "क्यों मटो?"

मालूम नही, क्यों मेरे मुँह से निकला: "ठीक है, मगर हिपटुल्ला नहीं!"

बात कुछ बन ही गई। 'हिपटुल्ला' मेरा मतलब बयान कर गया। मैं कहना यह चाहता था कि सिक्वेंस ज़ोरदार नहीं है।

कुछ अर्से के बाद हसरत ने उसी बाब को एक नए तरीक़े से पेश किया। मेरी राय पूछी गई तो मैंने अबकी दफ़ा इरादी तौर पर कहा: "भई हसरत, बात नहीं बनी कोई हिप टुल्ला चीज़ पेश करो, हिप टुल्ला।"

दूसरी मर्तबा हिपटुल्ला कहकर मैंने सबकी तरफ़ रद्दे-अमल मालूम करने के लिए

1 निगार सुल्ताना,

2 जो 'महल' के नाम से फिल्माई गई।

देखा। यह लफ़्ज़ अब मानी इख़्तियार कर चुका था। चुनाँचे उस निश्स्त में बिला-तकल्लुफ़ मैंने इसे इस्तेमाल किया। हिपटिलेटी नहीं, हिपटोलाइज़ करना चाहिए वगै़रा-वगै़रा। लेकिन आचानक एक बार अशोक मुझसे मुख़ातिब हुआ। "हिपटुल्ला का असल मतलब क्या है? किस ज़बान का लफ़्ज़ है?"

श्याम उस वक़्त मौजूद था, जब अशोक ने मुझसे यह सवाल किया। उसने ज़ोर का क़हक़हा लगाया। उसकी आँखें सिकुड़ गईं। ट्रेन में वह मेरे साथ था, जब मैंने क्रिकट के खिलाड़ी के उस अजीबो-ग़रीब नाम की तरफ़ उसको मुतव्वजे किया था। हँस-हँस के दोहरा होते हुए उसने सबको बताया : "यह मंटो की नई मंटोइयत है इसे तो कुछ न कुछ करना होता है और कुछ नहीं सूझा तो अब यह हिपटुल्ला को खींचकर फ़िल्मी दुनिया में ले आया है " कहना यह है कि खींचा-तानी के बग़ैर यह लफ़्ज़ बंबे के फ़िल्मी हलक़ों में राइज हो गया।

29-7-48 के ख़त में श्याम मुझे लिखता है :

प्यारे मंटो, अबकी दफ़ा तुम फिर ख़ामोश हो। तुम्हारी यह ख़ामोशी मुझे बहुत दिक़ करती है। इसके बावजूद कि मैं तुम्हारे दिमाग़ी तसाहुल से बख़ूबी वाकिफ हूँ, मैं ग़ुस्से से दीवाना हुए बग़ैर नहीं रह सकता, जबकि तुम यकलख़्त चुप साध लेते हो। इसमें शक नहीं कि मैं भी कोइ बहुत बड़ा ख़त-बाज नहीं हूँ लेकिन मुझे ऐसे ख़त लिखने और वुसूल करने में लुत्फ़ हासिल होता है जो जरा अलग क़िस्म के हों, यानि हिपटुल्ला!

लेकिन हिपटुल्ला यहाँ बहुत ही नायाब चीज़ हो गई है—इसे काग़ज़ पर लिखो तो कमबख़्त हिपटुल्ली बन जाती है और अगर यह हिपटुल्ली भी दस्तयाब न हो तो बताओ कितनी कोफ़्त होती है। माफ़ करना, अगर मैंने हिपटोलाइज़ करना शुरू कर दिया हो—लेकिन क्या करूँ। जब हक़ीक़तें गुम हो जाएँ तो इन्सान हिपटोलेट ही करता है, मगर मुझे कुछ पर्वा नहीं कि तुम क्या कहोगे, क्या नहीं कहोगे। मैं इतना जानता हूँ और तुम्हें इसका इल्म होगा कि तुम ऐसे बड़े हिपटुल्ला को इस मैदान में शिकस्त देने का सेहरा सिर्फ मेरे ही सिर है।

मटो, किसी ने कहा है कि जब आशिक़ के पास लफ़्ज़ ख़त्म हो जाते हैं तो वह चूमना शुरू कर देता है और जब किसी मुकर्रिर के पास अल्फ़ाज़ का जख़ीरा ख़त्म हो जाता है तो वह खाँसने लगता है। मैं इस कहावत में एक और चीज़ शामिल करता हूँ। जब मर्द की मर्दागी ख़त्म हो जाती है तो वह अपने माज़ी को पलट-पलट कर देखने लगता है—लेकिन तुम फिक्रमंद न होना मैं इस आख़िरी मंजिल से कुछ दूर हूँ। जिंदगी बहुत मसरूफ़ और भरपूर है। और भरपूर जिंदगी में, तुम जानते हो, दीवानगी के लिए बहुत कम फ़ुर्सत मिलती है, हालाँकि मुझे इसकी अशद जरूरत महसूस होती है।

नसीम वाला फ़िल्म[1] क़रीब-क़रीब निस्फ़ मुकम्मल हो चुका है। अमर नाथ से एक फ़िल्म का कंट्रेक्ट कर चुका हूँ। जरा सोचो तो मेरी हीरोइन कौन है—निगार—मैंने ख़ुद

---

1 चाँदनी रात।

उसका नाम तज्वीज़ किया था, महज़ यह मालूम करने के लिए कि पर्दे पर उन पुराने जज़्बात का एआदा कैसे लगता है जो कभी किसी से हकीक़त की दुनिया में मुताल्लिक़ रहे हैं—पहले मसर्रत थी, अब महज़ कारोबार—लेकिन, क्या ख़याल है तुम्हारा, यह सिलसिला जोश-आफ़रीं नहीं रहेगा ?

ताजी अभी तक मेरी ज़िंदगी में है। निगार बहुत ही अच्छी है और उसका सुलूक बेहद नर्मो-नाज़ुक है। पिछले दिनों से रमोला भी यहाँ बंबे में है। उससे मुलाक़ात करने पर मुझे मालूम हुआ कि वह अभी तक उस कमज़ोरी को जो उसके दिलो-दिमाग़ में मेरी तरफ़ से मौजूद है, मग्लूब नहीं कर सकी है। चुनाँचे उसके साथ भी सैरो-तफ़रीह रही।

ओल्ड ब्वाय, मैं इन दिनों फ्लर्टेशन के फन में एडंवास ट्रेनिंग ले रहा हूँ मगर दोस्त, यह सारा सिलसिला बहुत ही पेचीदा हो गया है। बहरहाल, मैं पेचीदगियाँ पसंद करता हूँ।

वह मेरे अंदर जो क़िस्मत-आज़मा, मुहिम-जू और आवारा-गद हैं, अभी तक काफ़ी ताक़तवर है। मैं किसी मखसूस जगह का नहीं और न किसी मख़सूस जगह का होना चाहता हूँ। मैं लोगों से मुहब्बत करता हूँ और उनसे नफ़रत करता हूँ। ज़िंदगी यूँ ही गुजर रही है। दरअसल ज़िंदगी ही एक ऐसी माशूका है जिससे मुझे मुहब्बत है—लोग जाएँ जहन्नुम में!

मुझे मुसन्निफ़ का नाम भूल गया है मगर उसका एक जुमला याद रह गया है। शायद वह भी दुरुस्त न हो मगर मफहूम कुछ इसी क़िस्म का था : ''वह लोगों से इस कद्र मुहब्बत करता था कि (ख़ुद को मुहब्बत करने में) कभी तन्हा महसूस नहीं करता था। लेकिन वह इस तौर पर उनसे नफ़रत करता था कि (नफ़रत करने में ख़ुद को) यको-तन्हा महसूस करता था ''

मैं इसमें और कोई फ़िक़्रा शामिल नहीं कर सकता।

इन दो ख़तों में ताजी का ज़िक्र आया है। ख़ुतूते-वहदानी मे इतना तो मैं बता चुका हूँ कि यह मुमताज़ की तस्ग़ीर है। मुमंताज़ कौन है यह ख़ुद श्याम बता चुका है कि वह उसकी कमज़ोरी है। सच पूछिए तो निगार, रमोला,सब उसकी कमज़ोरियाँ थीं। औरत दरअसल उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी थी और यही उसके किर्दार का मजबूत-तरीन पहलू था।

मुमताज़, ज़ैब क़ुरैशी एम. ए. की छोटी बहन है। ज़ैब के साथ बंबे गई तो वहाँ जहूर राजा के भारी भरकम इश्क़ में फँस गई। कुछ अर्से के बाद उससे अपना दामन छुड़ा कर लाहौर वापस आई तो श्याम के साथ रोमांस शुरू हो गया। बंबे में जब श्याम की माली हालत दुरुस्त हुई तो उसने अपने होनेवाले बच्चों की ख़ातिर उससे शादी कर ली।

श्याम को बच्चों से बहुत प्यार था, ख़ास तौर पर ख़ुबसूरत बच्चों से, ख़्वाह वह हद दर्जा बदतमीज़ ही क्यों न हों। तहारत व नफ़ासत पसंद तब्क़ों की नज़र में वह ख़ुद बहुत बड़ा बदतमीज़ था। बाज़ औरतें तो उससे उसकी बदतमीज़ियों की वजह से सख़्त नफ़रत करती थीं, मगर वह बिल्कुल बेपर्वा था। उसने कभी उन औरतों की ख़ुशनूदी के लिए अपनी आदात सँवारने की कोशिश न की। उसका ज़ाहिरो-बातिन एक था। ''मंटो, मेरी बातें सुनकर यह नाक-भौं चढ़ानेवाली सालियाँ सब बनती हैं मेकअप की दुनियाँ में रहती हैं।''

लेकिन बाज़ औरतें उसकी बदतमीज़ियों से मुहब्बत भी करती थीं, क्योंकि उनमें बिस्तर की बू नहीं होती थी। श्याम उनसे खुले मज़ाक़ करता। वह भी उससे ऐसी बातें करतीं जो मुहज़्ज़ब सोसाइटी में क़ाबिले-सत्रपोश ममझी जाती थीं—होठों पर मुस्कराहटें नाचतीं। हलक़ से क़हक़हे उछलते। हँसते-हँसते श्याम की आँखों में आँसू आ जाते। और मुझे ऐसा महसूस होता कि दूर कोने में तहारत पसंदी नोकीले कीलों पर आसन जमाए अपने गुनाह बख़्शवाने की रायगाँ कोशिश कर रही है।

श्याम से मेरी पहली मुलाक़ात कब और कहाँ हुई, मुझे बिल्कुल याद नही। ऐमा मालूम होता है कि मैं उससे मिलने से पहले ही मिल चुका था। वैसे अब सोचता हूँ तो इतना याद आता है कि बंबई में उससे शुरू-शुरू की मुलाकातें शायद लेडी जमशेद जी रोड पर हुई थीं जहाँ मेरी बहन रहती थी। 'हाइनेस्ट' में बालाई मंज़िल के एक फ़्लैट में डाइमंड रहती थी। उसके हाँ श्याम का आना जाना था। दो तीन मर्तबा ग़ालिबन सीढ़ियों पर उमसे मिलना हुआ। यह मुलाक़ातें गो रस्मी थीं, लेकिन फिर भी ग़ायत दर्जे तक बेतकल्लुफ थीं, क्योंकि श्याम ने मुझे ख़ुद ही बता दिया था कि डाइमंड नाम की औरत, जो मिसिज़ श्याम कहलाती है, दरहक़ीक़त उसकी बीवी नहीं, लेकिन ताल्लुक़ात की बिना पर वह बीवी से कुछ ज़्यादा ही है। वह इज़्दिवाजी रिश्ते और उसके इश्तिहार का बिल्कुल काइल नहीं था। लेकिन जब एक तक्लीफ़ के सिलसिले में उसे डाइमंड को हस्पताल में दाख़िल कराना पड़ा तो उसने रजिस्टर में उसका नाम मिसिज़ श्याम ही लिखवाया।

बहुत देर तक डाइमड के शौहर ने मुकदमे बाजी की। श्याम को भी उसमें फँमाया गया, लेकिन मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया। और डाइमड जो कि अब फिल्मी दुनिया मे क़दम रख चुकी थी, और वजनी जेबें देख चुकी थी, श्याम की जिंदगी मे निकल गई—मगर श्याम उसको अक्सर याद करता था।

मुझे याद है, पूने के एक बाग़ में उसने मुझे सैर कराते हुए कहा : "मटो, डाइमड ग्रेट औरत थी   ख़ुदा की क़सम, जो औरत इस्क़ात बर्दाश्त कर मकती है, वह दुनिया की बडी से बड़ी मउबत का मुक़ाबला कर सकती है   " लेकिन फ़ौरन ही उसने कुछ सोचकर कहा · "यह क्या बात है मंटो, औरत फल-फूल से क्यों डरती है   क्या इसलिए कि यह गुनाह का होता है ? मगर यह गुनाह और सवाब की बकवास क्या है, एक नोट असली या जाली हो सकता है, एक बच्चा हलाल का या हराम का नही हो सकता। वह झटका या कलमा पढ़ के छुरी फेरने से पैदा नहीं होता। उमकी पैदाइश का मूजिब तो वह अज़ीमुश्शान दीवानगी है जिसके मुर्तकिब सबसे पहले बाबा आदम और अम्माँ हव्वा हुए थे   आह यह दीवानगी !"

और वह देर तक अपनी मुख़्तलिफ़ दीवानगियों की बातें करता रहा।

श्याम बहुत बुलंद-बाँग था। उसकी हर बात, उसकी हर हरकत, उसकी हर अदा ऊँचे सुरों में होती थी। एतिदाल का वह बिलकुल क़ाइल नहीं था। महफ़िल में सन्जीदगी व मतानत की टोपी पहन कर बैठना उसके नज़दीक मस्ख़रापन था। शग़्ले-मय-नोशी के दौरान में ख़ास तौर पर अगर कोई ख़ामोश हो जाता या फ़लसफ़ी बन जाता तो उसे

नाक़ाबिले-बयान कोफ़्त होती। वह इस क़द्र झुंझला जाता कि बाज़ औक़ात बोतल और गिलास तोड़फोड़ कर गालियाँ देता महफ़िल से बाहर चला जाता।

पूने का एक वाक़िआ है। श्याम और मसूद परवेज़ दोनों 'ज़ुबेदा काटेज' में रहते थे। एक कहानी फ़रोख़्त करने के सिलसिले में मुझे वहाँ ठहरना पड़ा। मसूद तबअन ख़ामोशी पसंद है। शराब पीकर वह और भी ज़्यादा मुन्जमिद हो जाता। एक दिन सुबह से रम का दौर शुरू हुआ। इस दौरान में कई आए और बहक कर चले गए। मैं, मसूद और श्याम डटे हुए थे। श्याम बहुत ख़ुश था, इसलिए कि वह बहकने वालों से मिलकर जी भरके शोर मचाता रहा था। मगर शाम के क़रीब उसको दफ़अतन महसूस हुआ कि मसूद दिन की तमाम हाउ हू से अलग-थलग रहा है। नशे से चूर आँखों को सुकेड़कर उसने मसूद की तरफ़ देखा और तन्ज़िया लहजे में कहा : "क्यों हज़रते परवेज़, क्या आपने अपना मर्सिया मुकम्मल फ़र्मा लिया है?"

मसूद हस्बे-आदत मुस्करा दिया। इतने में कृष्ण चंद्र आ गया और श्याम, मसूद की मुन्जमिद मुस्कराहट के पैदा कर्दा असर को भूल गया। दो एक दौर और चले तो श्याम ने कृष्ण से मसूद के नाक़ाबिले-बर्दाश्त इन्जमाद का ज़िक्र किया। कृष्ण की ज़बान का ताला खोलने के लिए दो पेग काफ़ी थे। चुनाँचे मसूद से मुख़ातिब होकर उसने लान-तान शुरू कर दी : "तुम कैसे शाइर हो परवेज़   सुबह से पी रहे हो और तुमने अभी तक कोई वाहियात बात नहीं की   ख़ुदा की क़सम, जो शाइर वाहियात बकवास करना नहीं जानता, वह शाइरी भी नहीं कर सकता। मुझे हैरत है कि तुम शाइरी कैसे कर लेते हो। मेरा ख़याल है, तुम्हारी यह शाइरी यक़ीनन बकवास होगी और तुम्हारा पीकर यूँ केसटरआइल की बोतल बन जाना तुम्हारी असल शाइरी है   "

यह सुनकर श्याम इस क़द्र हँसा कि उसकी आँखों से आँसू टप-टप गिरने लगे।

जब कुछ देर तक मसूद से छेड़ जारी रही तो वह उकसा। उठकर उसने हम सबके गिलास ख़ाली कर दिए और कहा : "चलो बाहर चलें।"

हम बाहर निकले। मसूद के कहने पर सबने जूते उतारकर जेबों में रख लिए और दौड़ने लगे। उस वक़्त रात के बारह बजे होंगे। पूने की सब सड़कें सुनसान थीं। मैं, मसूद, श्याम और एक और, जिसका नाम मुझे याद नहीं रहा, दीवानावार शोर मचाते दौड़ रहे थे, बिलकुल बेमतलब, अपनी मंज़िल से नाआशना।

रास्ते में कृष्ण चंद्र का मकान पड़ता था। वह दौड़ से पहले हमसे अलग होकर चला गया था। दरवाज़ा खुलवाकर हमने उसे बहुत परेशान किया। उसकी समीना ख़ातून हमारा शोर सुनकर दूसरे कमरे से बाहर निकल आई। इस से कृष्ण और भी ज़्यादा परेशान हुआ, जिसके पेशे-नज़र हम वहाँ से रुख़्सत हुए और फिर सड़क-पैमाई शुरू कर दी।

पूना मंदिरों का शहर है। हर फ़र्लांग पर एक न एक मंदिर ज़रूर होता है। मसूद ने एक का घंटा बजाया। मैं और श्याम सजदे में चले गए और शिव शम्भू, शिव शम्भू कहने लगे। इसके बाद जो भी मंदिर आता, हम चारों यही अमल दोहराते और ख़ूब क़हक़हे लगाते। जब कोई पुजारी आँखें मलता बाहर निकलता तो हम ख़ामोश हो जाते और

चुपचाप चल पड़ते।

इस तरह तीन बज गए—एक मड़क में खड़े होकर मसूद ने वह मुग़ल्लज़ात बकीं कि मैं दंग रह गया, क्योंकि उसकी ज़बान से मैंने कभी नाशाइस्ता कलमा नहीं सुना था। मगर जब वह मोटी-मोटी गालियाँ उगल रहा था तो मैंने महसूस किया कि वह उसकी ज़बान पर ठीक तौर पर बैठती नहीं थीं।

चार बजे हम ज़ुबैदा काटेज पहुँचे और सो गए, लेकिन मसूद शायद जागता और शेर कहता रहा।

मय-नोशी के मामले में भी श्याम एतिदाल पसंद नहीं था। वह खुल-खेलने का क़ाइल था, मगर अपने सामने मैदान की वुसअत देख लेता था। उसकी लंबाई चौड़ाई को अच्छी तरह जाँच लेता था ताकि हुदूद से आगे निकल न जाए। वह मुझसे कहा करता था: "मै चौके पसंद करता हूँ धक्के महज़ इत्तिफ़ाक से लग जाते हैं।"

एक छक्का मुलाहिज़ा हो:

तक़सीम होने से चंद माह पेशतर का ज़िक्र है। श्याम, शाहिद लतीफ के घर से मेरे यहाँ चला आया था। बंबई की ज़बान में कड़की यानि मुफ़्लिसी के दिन थे, मगर मय नोशी बड़ी बाक़ाइदगी से जारी थी। एक शाम बातों-बातों में ज़्यादा पी गए। राजा मेंहदी अली खाँ भी इत्तिफ़ाक़ से मौजूद था। कर्फ़्यु का वक़्त हुआ तो उसने जाने की इजाज़त चाही। मैंने उससे कहा: "पागल हुए हो, पकड़े जाओगे।"

श्याम ने उससे अज़-राहे-मजाक कहा: यहीं सो जाओ। आजकल ताजी यहाँ नहीं है।"

राजा ने मुस्कराकर जवाब दिया: "मुझे नीद नहीं आएगी। स्प्रिंग वाले पलँगों पर मैं क़त्अन सो नहीं सकता।"

श्याम ने एक गिलास में राजा के डील-डोल के मुताबिक़ ब्रांडी का पेग डाला और उसको दे दिया। "यह लो, इससे नींद आ जाएगी।"

राजा एक जुरए में सारा गिलास चढ़ा गया। बहुत देर तक ताजी की बातें होती रहीं, जो श्याम से नाराज़ होकर अपनी बहन के पास चली गई थी—हर आठवे दसवें रोज़ निकम्मी-निकम्मी बातों पर दोनों में चख़ हो जाती थी। मैं बिलकुल दख़ल नहीं देता था, इसलिए कि श्याम को यह बिलकुल पसंद नहीं था। हम दोनों में गोया दिल ही दिल में यह मुआहदा हो चुका था कि एक दूसरे के कामों में दख़्लअंदाज़ी नहीं करेंगे।

ताजी यूँ गई थी जैसे कभी वापस नहीं आएगी, और श्याम ने भी उसे यूँ विदा किया था जैसे वह फिर कभी उसकी शक्ल तक देखने का रवादार नहीं होगा। मगर दोनों एक दूसरे से दूर बैठे तड़पते रहते थे। शामों को तो श्याम अक्सर ताजी के मामले में बहुत जज़्बाती हो जाता था। मैं सोचता कि वह ज़रूर रात भर उसकी याद में जागता रहेगा, मगर कमबख़्त नींद का कुछ ऐसा माता था कि पलँग पर लेटते ही सो जाता।

मेरे फ़्लैट में सिर्फ़ दो कमरे थे। एक सोने का, दूसरा बैठने का। सोने वाला कमरा मैंने श्याम और ताजी को दे दिया था, और बैठने वाले कमरे में गद्दा बिछाकर मैं ख़ुद सोता था।

ताजी चूँकि मौजूद नहीं थी, इसलिए उसका पलँग राजा मेहदी अली ख़ाँ को मिल गया। रात बहुत गुज़र गई थी, इसलिए हम सब अपनी-अपनी जगह पर सो गए।

हस्बे-मामूल पौने छः के क़रीब मेरी जाग खुली। नीम ख़्वाबी के आलम में यूँ महसूस हुआ कि मेरे साथ कोई लेटा है। पहले मैंने ख़याल किया कि बीवी है, मगर वह तो लाहौर बैठी थी। आँखें खोलकर देखा तो मालूम हुआ कि श्याम है। अब मैंने सोचना शुरू किया कि यह कैसे मेरे पास पहुँच गया। अभी यह सोच ही रहा था कि जले हुए कपड़े की बू नाक में घुसी। पास ही सोफ़ा पड़ा था। अर्सा हुआ सिगरेट गिरने से उसका एक हिस्सा जल गया था, मगर इतनी देर के बाद अब बू आने का क्या मतलब था। आँखें ज़्यादा खुलीं तो मैंने धुएँ की कड़वाहट महसूस की और हलके-हलके दूधिया बादल भी देखे—उठकर मैं दूसरे कमरे में गया। क्या देखता हूँ कि वह पलँग, जिस पर श्याम सोया करता था, सुलग रहा है और पास ही दूसरे पलँग पर राजा मेहदी अली ख़ाँ अपनी तौंद निकाले, पड़ा ख़र्राटे ले रहा है।

मैंने क़रीब जाकर पलँग के जले हुए हिस्से का मुआयना किया। मेट्रस में बड़ी रकाबी के बराबर सूराख़ था जिसमें से धुआँ निकल रहा था। ऐसा मालूम होता था कि किसी ने आग बुझाने की कोशिश की है, क्योंकि पलँग पानी में तरबतर था। मगर मामला चूँकि रुई और नारियल के फूस का था, इसलिए आग पूरी तरह बुझी नहीं थी और बराबर सुलग रही थी। मैंने राजा को जगाने की कोशिश की मगर वह करवट बदल कर और ज़ोर से ख़र्राटे लेने लगा। एकदम पलँग के सियाह सूराख़ से एक लाल-लाल शोला बाहर लपका। मैं फ़ौरन ग़ुस्लख़ाने की तरफ़ भागा। एक बाल्टी पानी की उस सूराख़ में डाली और जब पूरी तरह इत्मीनान हो गया कि आग बुझ गई है तो राजा को झंझोड़-झंझोड़ कर जगाया। उससे जब आतिश ज़दगी की वारदात के मुताल्लिक़ इस्तिफ़सार किया तो उसने अपने मख़सूस मिज़ाहिया अंदाज में ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर वाक़िआत बयान किए

तुम्हारा यह श्याम, हनूमान महाराज है रात ब्रांडी के तालाब में ग़ोता लगाते हुए मैं सो गया। दो बजे के क़रीब जब अजीब-अजीब आवाज़ें आईं तो मैं जाग पड़ा। क्या देखता हूँ कि श्याम एक बहुत बड़ा हनुमान है। उसकी गुफ़्फ़े-दार दुम के साथ मिट्टी के तेल से डूबी चिंदियाँ बँधी हैं और उनमें आग लगी है। श्याम पलँग पर ज़ोर-ज़ोर से उछल-कूद रहा है और अपनी दुम से आग लगा रहा है। जब आग लग गई तो मैंने आँखें बंद कर लीं और ब्रांडी के तालाब में ग़ोता लगा गया। सोने ही वाला था कि मुझे तुम्हारा ख़याल आया कि ग़रीब आदमी का पलँग, ऐसा न हो कि जलकर राख हो जाए। चुनाँचे उठा। श्याम ग़ाइब था। दूसरे कमरे में तुम्हें हालात से आगाह करने के लिए गया तो क्या देखता हूँ कि श्याम अपने असली रूप में तुम्हारे साथ चिपटा लेटा है। मैंने तुम्हें जगाने की कोशिश की। अपने फेफड़ों पर ज़ोर लगा-लगाकर तुम्हें पुकारा। घंटे बजाए, ऐटम बम चलाए, मगर तुम न उठे। आख़िर मैंने होले-होले तुम्हारे कान में कहा: "ख़्वाजा उठो, स्काच व्हिस्की की एक पूरी पेटी आई है । तुम ने फ़ौरन आँखें खोल दीं और पूछा 'कहाँ ' मैंने कहा: 'होश में आओ सारा मकान जल रहा है आग लग गई है आग ' तुमने कहा: 'बकते हो ' मैंने कहा: 'नहीं ख़्वाजा मैं ख़्वाज़ा ख़िज़्र की क़सम खाकर कहता हूँ, आग

लगी है ' जब तुम्हें मेरे बयान पर यकीन आ गया तो तुम आराम में यह कहते हुए सो गए : ''फ़ायर ब्रिगेड को इत्तिला दे दो ' तुम्हारी तरफ़ से मायूस होकर मैंने श्याम को हालात की नज़ाकत से आगाह करने की कोशिश की। जब वह इस क़ाबिल हुआ कि मेरी बात उसके दिमाग़ तक पहुँच सके तो उसने मुझसे कहा : ''तुम बुझा दो न यार क्यों तँग करते हो ' और सो गया आग आख़िर आग है और उसका बुझाना हर इन्सान का फ़र्ज़ है। इसलिए मैं फौरन अपनी सारी इन्सानियत मुजस्मा करके फ़ायर बिग्रेड बन गया और वह जग, जो मैंने तुम्हारी सालगिरह पर तोहफ़े के तौर पर दिया था, भर के आग पर डाल दिया मेरा काम चूँकि पूरा हो चुका था, नतीजा ख़ुदा के हाथ सौंप कर सो गया।''

श्याम जब पूरी नींद सोकर उठा तो मैंने और राजा ने उससे पूछा कि आग कैसे लगी थी। श्याम को यह क़त्अन मालूम नहीं था। बहुत देर ग़ौरो-फ़िक्र के बाद उसने कहा : ''मैं आतिश-ज़दगी की इस वारदात पर कोई रौशनी नहीं डाल सकता '' मगर जब राजा दूसरे कमरे से श्याम की जली हुई रेशमी क़मीस उठाकर लाया तो श्याम ने मुझसे कहा : ''अब तफ़्तीश करनी ही पड़ेगी।''

सबने मिलकर तफ़्तीश की तो मालूम हुआ कि श्याम साहब ने जो बनियान पहना हुआ है, वह भी दो एक जगह से जला हुआ है। ज़्यादा गहराइयों में गए तो देखा उनकी छाती पर रुपए-रुपए जितने दो बड़े आबले हैं। चुनाँचे शर्लक होम्ज़ ने अपने दोस्त वास्टिन से कहा : ''यह बात क़त्अई तौर पर पायाए-सुबूत को पहुँच गई है कि आग ज़रूर लगी थी, और श्याम सिर्फ इस गर्ज से कि उसके हमसाए राजा मेहदी अली ख़ाँ को तक्लीफ़ न हो, चुप-चाप उठकर मेरे पास चला आया था ''

जब श्याम ने तहज़ीबो-तमद्दुन के मुरव्वजा कवानीन के पेशे-नज़र ताजी से बाक़ाइदा शादी की तो मेरा ख़याल है, सिर्फ़ एक इंतिक़ामी जज़्बे के तहत उसने इतनी शानदार दावत की कि देर तक फ़िल्मी दुनिया मे उसके चर्चे रहे। इतनी शराब बहाई गई कि ख़ुम के ख़ुम ख़ाली हो गए, मगर अफ़्सोस कि तहज़ीबो-तमद्दुन की सत्रपोश चोली के दाग़ धुल न सके।

श्याम सिर्फ़ बोतल और औरत ही का रसिया नहीं था। ज़िंदगी में जितनी नेमतें मौजूद हैं, वह उन सबका आशिक़ था। अच्छी किताब से भी वह उसी तरह प्यार करता था जिस तरह एक अच्छी औरत से करता था। उसकी माँ उसके बचपन ही में मर गई थी, मगर उसको अपनी सौतेली माँ से भी वैसे ही मुहब्बत थी जो हक़ीक़ी माँ से हो सकती है। उसके छोटे-छोटे सौतेले बहन-भाई थे। उन सबको वह अपनी जान से ज़्यादा अज़ीज़ समझता था। बाप की मौत के बाद सिर्फ़ उसकी अकेली जान थी जो इतने बड़े कुनबे की देख-भाल करती थी।

एक अर्से तक वह इंतिहाई ख़ुलूस के साथ दौलत और शुहरत हासिल करने के लिए हाथ-पाँव मारता रहा। उस दौरान में तक़्दीर ने उसे कई गुच्चे दिए, मगर वह हँसता रहा : ''जाने मन, एक दिन ऐसा भी आएगा कि तू मेरी बग़ल में होगी ''और कई बरसों के बाद आख़िर वह दिन आ ही गया कि दौलत और शुहरत दोनों उसकी जेब मे थी।

मौत से पहले उसकी आमदनी हज़ारों रुपए माहवार थी। बंबे के मुज़ाफ़ात मे एक ख़ूबसूरत बँगला उसकी मिलकीयत था। और कभी वह दिन थे कि उसके पास सिर छुपाने को जगह नहीं थी, मगर मुफ़्लिसी के उन ऐयाम में भी वही हँसता हुआ श्याम था। दौलत व शुहरत आई तो उसने उनका यूँ इस्तिक़बाल न किया जिस तरह लोग डिप्टीकमिश्नर का करते हैं। यह दोनों मोहतरिमाएँ उसके पास आईं तो उसने उन को अपनी लोहे की चारपाई पर बिठा लिया और पटाख़-पटाख़ बोसे दाग़ दिए।

मैं और वह जब एक छत के नीचे रहते थे तो दोनों की हालत पतली थी। फ़िल्म इंडस्ट्री मुल्क की सियासियात की तरह एक बड़े ही नाज़ुक दौर मे गुज़र रही थी। मैं बंबई टाकीज़ में मुलाज़िम था। उसका वहाँ एक पिक्चर का कंट्रेक्ट था, दस हज़ार रुपए में। अर्से की बेकारी के बाद उस को यह काम मिला था, मगर वक्त पर पैसे नहीं मिलते थे। बहरहाल हम दोनों का गुज़र किसी न किसी तौर हो जाता था। मियाँ-बीवी होते तो उन मे रुपए-पैसे के मामले में ज़रूर चख़ होती, मगर श्याम और मुझे कभी महसूस तक न हुआ कि हम में से कौन ख़र्च कर रहा है और कितना कर रहा है।

एक दिन उसे बड़ी कोशिशों के बाद मोटी-सी रक़म मिली—ग़ालिबन पाँच सौ रुपए थे—मेरी जेब ख़ाली थी। हम मलाड से घर आ रहे थे। रास्ते में श्याम का यह प्रोग्राम बन गया कि वह चर्च गेट किसी दोस्त से मिलने जाएगा। मेरा स्टेशन आया तो उसने जेब से दस दस रुपए के नोटों की गड्डी निकाली। आँखें बंद करके उसके दो हिस्से किए और मुझसे कहा। "जल्दी करो मंटो, इनमें से एक ले लो।"

मैंने गड्डी का एक हिस्सा पकड़ कर जेब में डाल लिया और प्लेट फार्म पर उतर गया। श्याम ने मुझे 'टाटा' कहा और कुछ नोट जेब से निकाल कर लहराए: "तुम भी क्या याद रखोगे सेफ़्टी की ख़ातिर मैंने यह नोट अलाहिदा रख लिए थे हिपटुल्लौं!"

शाम को जब वह अपने दोस्त से मिल कर आया तो कबाब हो रहा था। मशहूर फिल्म स्टार के के ने उसको बुलाया था कि वह उससे एक प्राइवेट बात करना चाहती है—श्याम ने ब्रांडी की बोतल बग़ल से निकालकर और गिलास मे एक बडा पैग डालकर मुझसे कहा "प्राइवेट बात यह थी मैंने लाहौर मे एक दफ़ा किसी से कहा था कि के के मुझ पर मरती है ख़ुदा की क़सम, बहुत बुरी तरह मरती थी, लेकिन उन दिनों मेरे दिल में कोई गुंजाइश नहीं थी। आज उसने मुझे अपने घर बुलाकर कहा: "तुमने बकवास की थी मैं तुम पर कभी नहीं मरी ' मैंने कहा: "तो आज मर जाओ ' मगर उसने हठ धर्मी से काम लिया और मुझे ग़ुस्से में आकर उसके एक घूँसा मारना पडा।"

मैंने उससे पूछा: "तुमने एक औरत पर हाथ उठाया?"

श्याम ने मुझे अपना हाथ दिखाया, जो ज़ख़्मी हो रहा था · "कमबख़्त आगे से हट गई निशाना चूका और मेरा घूँसा दीवार के साथ जा टकराया।"

यह कहकर वह ख़ूब हँसा: "साली बेकार तंग कर रही है।"

मैंने ऊपर रुपए-पैसे का ज़िक्र किया है—ग़ालिबन दो बरस पीछे की बात है। मैं यहाँ लाहोर में फ़िल्मी सन्अत की ज़बूँ-हाली और अपने अफ़साने 'ठंडा गोश्त' के मुक़दमे की

वजह से बहुत परेशान था। अदालते-मातहत ने मुझे मुजिम करार देकर तीन महीने कैदे-बा-मशक्कत और तीन सौ रुपए जुर्माने की सजा दी थी। मेरा दिल इस कद्र खट्टा हो गया था कि जी चाहता था, अपनी तमाम तसानीफ को आग में झोंककर कोई और काम शुरू कर दूँ, जिसका तख्लीक से कोई इलाका न हो—चुंगी के महकमे में मुलाज़िम हो जाऊँ और रिश्वत खाकर अपना और अपने बाल बच्चों का पेट पाला करूँ—किसी पर नुक्ताचीनी करूँ, न किसी मामले में अपनी राय दूँ।

एक अजीबो-गरीब दौर से मेरा दिलो-दिमाग गुजर रहा था। बाज लोग समझते थे कि अफ़साने लिखकर उन पर मुकदमे चलवाना मेरा पेशा है। बाज कहते थे कि मैं सिर्फ़ इसलिए लिखता हूँ कि सस्ती शुहरत का दिलदादा हूँ और लोगों के सिफ्ली जज़्बात मुश्तइल करके अपना उल्लू सीधा करता हूँ। मुझ पर चार मुकदमे चल चुके हैं। उन चार उल्लुओं को सीधा करने में जो खम मेरी कमर में पैदा हुआ, उसको कुछ मैं ही जानता हूँ।

माली हालत कुछ पहले ही कमजोर थी। आस-पास के माहौल ने जब निकम्मा कर दिया तो आमदनी के महदूद जराए और भी सिकुड़ गए। एक सिर्फ "मक्तबा जदीद लाहौर" के चौधरी बिरादरान थे जो मक्दूर भर मेरी इमदाद कर रहे थे। गम गलत करने के लिए जब मैंने कसरत से शराब-नोशी शुरू की तो उन्होंने चाहा कि अपना हाथ रोक लें, मगर वह इतने मुख्लिस थे कि मुझे नाराज करना नहीं चाहते थे।

उस जमाने में मेरी किसी से खतो-किताबत नहीं थी। दरअसल मेरा दिल बिलकुल उचाट हो चुका था। अक्सर घर से बाहर रहता और अपने शराबी दोस्तों के घर पड़ा रहता, जिनका अदब से दूर का भी वास्ता नहीं था। उनकी सोहबत में रहकर मैं जिस्मानी व रूहानी खुद-कुशी की कोशिश में मसरूफ़ था।

एक दिन मुझे किसी और के घर के पते से एक खत मिला जो तहसीन पिक्चर्स के मालिक की तरफ से था। लिखा था कि मैं फौरन मिलूँ। बंबे से उन्हें मेरे बारे में कोई हिदायत मौसूल हुई थी—सिर्फ़ यह मालूम करने के लिए कि यह हिदायत भेजने वाला कौन है, मैं तहसीन पिक्चर्स वालों से मिला। मालूम हुआ कि बंबे से श्याम के पै-दरपै उन्हें कई तार मिले हैं कि मुझे ढूँढ़कर पाँच सौ रुपए दे दिए जाएँ। मैं जब उनके दफ्तर में पहुँचा तो वह श्याम के ताजा ताकीदी तार का जवाब लिख रहे थे कि तलाशे-बिस्यार के बावजूद उन्हें मंटो नहीं मिल सका।

मैंने पाँच सौ रुपए ले लिए और मेरी मख्मूर आँखों में आँसू आ गए।

मैंने बहुत कोशिश की कि श्याम को खत लिखकर उसका शुक्रिया अदा करूँ और पूछूँ कि उसने मुझे यह पाँच सौ रुपए क्यों भेजे थे। क्या उसको इल्म था कि मेरी माली हालत कमजोर है। इस गर्ज़ से मैंने कई खत लिखे और फाड़ दिए। ऐसा महसूस होता कि मेरे लिखे हुए अल्फाज़ श्याम के उस जज़्बे का मुँह चिढ़ा रहे हैं जिसके ज़ेरे-असर उसने मुझे यह रुपए रवाना किए थे।

पिछले साल जब श्याम अपने ज़ाती फिल्म की नुमाइश के सिलसिले में अमृतसर आया तो थोड़ी देर के लिए लाहौर भी आ गया। यहाँ उसने बहुत-से लोगों से मेरा अता-पता

पूछा, मगर इस दौरान में इत्तिफ़ाक़ से मुझे ही मालूम हो गया कि वह लाहोर में मौजूद है। मैं उसी वक़्त दौड़ा उस सिनेमा पहुँचा जहाँ वह एक दावत खा के आ रहा था।

मेरे साथ रशीद अतरे था, श्याम का पूने का पुराना दोस्त—जब मोटर सिनेमा के सेहन में दाख़िल हुई तो श्याम ने मुझे और रशीद को देख लिया, एक ज़ोर का नारा उसने बुलंद किया। उसने ड्राइवर से मोटर रोकने के लिए बहुत कहा, मगर उसके इस्तिक़बाल के लिए इस क़द्र हुजूम था कि ड्राइवर न रुका। मोटर से निकलकर पुलिस की मदद से श्याम और ओम एक ही क़िस्म का लिबास और सिर पर सफ़ेद पनामा हेट पहने सिनेमा के अंदर पिछले दरवाज़े से दाख़िल हुए। बड़े दरवाज़े से हम अंदर पहुँचे। श्याम—वही श्याम था, मुस्कराता, हँसता और क़हक़हे लगाता श्याम।

दौड़कर हम दोनों से लिपट गया। फिर इस क़द्र शोर मचा कि हम में से कोई भी मतलब की बात न कर सका। ऊपर-तले इतनी बातें हुईं कि अंबार लग गए और हम उनके नीचे दब के रह गए। सिनेमा से फ़ारिग़ होकर उसे एक डिस्ट्रीब्यूटर के दफ्तर मे जाना था। वह हमें भी अपने साथ ले गया। यहाँ जो बात भी शुरू होती, फ़ौरन कट जाती। लोग धड़ाधड़ आ रहे थे। नीचे बाज़ार में हुजूम शोर बर्पा कर रहा था कि श्याम दर्शन देने के लिए बाहर बालकनी में आए।

श्याम की हालत अजीबो-ग़रीब थी। उस को लाहोर में अपनी मौजूदगी का शदीद एहसास था, उस लाहोर में जिसकी मुतादि्दद सड़कों पर उसके रोमानों के छींटे बिखरा करते थे। उस लाहोर में जिसका फ़ासला अब अमृतसर मे हजारों मील हो गया था। और उसका रावलपिंडी कहाँ था, जहाँ उसने अपने लड़कपन के दिन गुज़ारे थे। लाहोर, अमृतसर और रावलपिंडी, सब अपनी-अपनी जगह पर थे, मगर वह दिन नहीं थे। वह गते नहीं थीं, जो श्याम यहाँ छोड़कर गया था। सियासत के गोरकन ने उन्हें नामालूम कहाँ दफ़न कर दिया था।

श्याम ने मुझ से कहा: "मेरे साथ-साथ रहो।" मगर उसके दिलो-दिमाग की मुज़्तरिब कैफ़ियत के एहसास ने मुझे सख़्त परागंदा कर दिया। उससे यह वादा करके कि रात को उस से फ़्लेटी होटल में मिलूँगा, चला गया।

श्याम से इतनी देर के बाद मुलाक़ात हुई थी मगर ख़ुशी के बजाय एक अजीब क़िस्म की घुटी-घुटी कोफ़्त महसूस हो रही थी। तबीयत में इस क़द्र झुंझलाहट थी कि जी चाहता था, कि किसी से ज़र्बदस्त लड़ाई हो जाए। ख़ूब मार-कुटाई हो और मैं थक कर सो जाऊँ। घुटन का तज्ज़िया किया तो कहाँ का कहाँ पहुँच गया। एक ऐमी जगह जहाँ ख़यालात के मारे धागे बुरी तरह आपस में उलझ गए। इससे तबीयत और भी झुंझला गई और फ्लेटीज में जाकर मैंने एक दोस्त के कमरे में पीना शुरू कर दी।

नो साढ़े नो के क़रीब शोर मुनने पर मालूम हुआ कि श्याम आ गया है। उमके कमरे में मिलनेवालों की वैसी ही भीड़ थी। थोड़ी देर वहाँ बैठा, मगर खुलकर कोई बात न हुई। ऐसा मालूम होता था कि हम दोनों के जज़्बात में ताले लगाकर चाबियाँ किमी ने एक बहुत बड़े गुच्छे में पिरो दी थीं। हम दोनों उम गुच्छे में से एक एक चाबी निकालकर यह ताले

खोलने की कोशिश करते और नाकाम रहते थे।

मैं उकता गया। डिनर के बाद श्याम ने बड़ी जज़्बाती क़िस्म की तक़रीर की, मगर मैंने उसका एक लफ़्ज़ तक न सुना। मेरा अपना दिमाग़ बड़े ऊँचे सुरों में जाने क्या बक रहा था। श्याम ने अपनी बकवास ख़त्म की तो लोगों ने भरे पेट के साथ तालियाँ पीटीं। मैं उठकर कमरे में चला आया। वहाँ फ़ज़्ली बैठे थे। उनसे एक मामूली बात पर चख़ हो गई। श्याम आया तो उसने कहा : "यह सब लोग हीरा मंडी जा रहे हैं। चलो, आओ, तुम भी चलो।"

मै क़रीब-क़रीब रो दिया : "मैं नहीं जाता। तुम जाओ और तुम्हारे यह लोग जाएँ।"

"तो मेरा इंतिज़ार करो मैं अभी आया।"

यह कहकर श्याम हीरा मंडी जाने वाली पार्टी के साथ चला गया। मैंने श्याम को और फिल्मी सन्अत से मुताल्लिक़ तमाम लोगों को मोटी-मोटी गालियाँ दीं और फ़ज़्ली से कहा : "मेरा ख़याल है, आप तो यहाँ इंतिज़ार करेंगे। अगर तक्लीफ़ न हो तो अज़-राहे-करम अपनी मोटर में मुझे मेरे घर तक छोड़ आइए।"

रात भर ऊट-पटाँग ख़्वाब देखता रहा। श्याम से कई मर्तबा लड़ाई हुई। सुबह दूधवाला आया तो मैं खोखले ग़ुस्से में जैसे उससे कह रहा था : "तुम बिलकुल बदल गए हो उल्लु के पट्ठे, कमीने, ज़लील तुम हिंदू हो।"

नींद खुली तो मैंने महसूस किया कि मेरे मुँह से एक बहुत बड़ी गाली निकल गई है, लेकिन जब मैंने ख़ुद को अच्छी तरह टटोला तो यक़ीन हो गया कि वह मेरा मुँह नहीं था, सियासत का भोंपू था जिससे यह गाली निकली थी। इसके मुताल्लिक़ सोचते हुए मैंने दूधवाले से दूध लिया जिसमें एक चौथाई पानी था। इस ख़याल ने मुझे बड़ी ढारस दी कि श्याम हिंदू था मगर पानी मिला हिंदू नहीं था।

अर्सा हुआ, जब तक़्सीम पर हिंदू-मुसलमानों में ख़ूँ-रेज़ जंग जारी थी और तरफ़ैन के हज़ारों आदमी रोज़ाना मरते थे, श्याम और मैं रावलपिंडी से भागे हुए एक सिख ख़ानदान के पास बैठे थे। उसके अफ़राद अपने ताज़ा ज़ख़्मों की रूदाद सुना रहे थे जो बहुत ही दर्दनाक थी। श्याम मुतास्सिर हुए बग़ैर न रह सका। वह हलचल जो उसके दिलो-दिमाग़ में मच रही थी, उसको मैं बख़ूबी जानता था। जब हम वहाँ से रुख़्सत हुए तो मैंने श्याम से कहा : "मैं मुसलमान हूँ क्या तुम्हारा जी नहीं चाहता कि मुझे क़त्ल कर दो।"

श्याम ने बड़ी संजीदगी से जवाब दिया : "इस वक़्त नहीं लेकिन इस वक़्त जबकि मैं मुसलमानों के ढाए हुए मज़ालिम की दास्तान सुन रहा था, मैं तुम्हें क़त्ल कर सकता था।"

श्याम के मुँह से यह सुनकर मेरे दिल को ज़बर्दस्त धक्का लगा। उस वक़्त शायद मैं भी उसे क़त्ल कर सकता था, मगर बाद में जब मैंने सोचा और उस वक़्त और इस वक़्त में ज़मीनो-आसमान का फ़र्क़ महसूस किया तो उन तमाम फ़सादात का नफ़्सियाती पस-मंज़र मेरी समझ में आ गया जिसमें रोज़ाना सैकड़ों बेगुनाह हिंदू और मुसलमान मौत के घाट उतारे जा रहे थे।

इस वक़्त नहीं, उस वक़्त, हाँ—क्यों? आप सोचिए तो आपको इस 'क्यों' के पीछे

इन्सान की फ़ित्रत में इस सवाल का सही जवाब मिल जाएगा।

बंबई में भी फ़िर्के वाराना कशीदगी दिन बा दिन बढ़ती चली जा रही थी। बंबे टाकीज की उनाने-हुकूमत जब अशोक और वाचा ने संभाली तो बड़े-बडे ओहदे इत्तिफ़ाक मे मुसलमानों के हाथ में चले गए। इससे बंबे टाकीज के हिंदू स्टाफ़ में नफ्रत और ग़ुस्मे की लहर दौड़ गई। वाचा को गुमनाम ख़त मौसूल होने लगे जिसमें स्टूडियो को आग लगाने और मरने मारने की धमकियाँ होती थीं। अशोक और वाचा, दोनों को उनकी कोई पर्वा नहीं थी, लेकिन कुछ ज़कीउल-हिस होने के बाइस और कुछ मुसलमान होने की वजह से मैं हालात की नज़ाकत को बहुत ज़्यादा अहमियत दे रहा था। कई मर्तबा मैंने अशोक और वाचा से अपनी तश्वीश का इजहार किया और उनको राय दी कि वह मुझे बंबे टाकीज मे अलग कर दें, क्योंकि हिंदू यह समझते थे कि सिर्फ़ मेरी वजह से मुसलमान वहाँ दाखिल हो रहे हैं। मगर उन्होंने कहा कि मेरा दिमाग ख़राब है।

दिमाग़ मेरा वाकई ख़राब हो रहा था। बीवी बच्चे पाकिस्तान में थे, तब से, जब वह हिंदुस्तान का एक हिस्सा था, और में उसे जानता था। उसमें वक्तन फवक्तन जो हिंदू-मुस्लिम फ़सादात होते रहते थे, मैं उन से भी वाक़िफ़ था। मगर अब उस ख़ित्ताए-ज़मीन को नए नाम ने क्या बना दिया था, इसका मुझे इल्म नहीं था। अपनी हुकूमत क्या होती है, इस की तस्वीर भी कोशिश के बावजूद मेरे ज़ेहन मे नहीं आती थी।

14 अगस्त का दिन मेरे सामने बंबे में मनाया गया। पाकिस्तान और हिंदुस्तान दोनो आज़ाद मुल्क क़रार दिए गए थे। लोग बहुत मसरूर थे, मगर कत्ल और आग की वारदाते बाक़ाइदा जारी थीं। 'हिंदुस्तान जिंदाबाद' के साथ-साथ 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के नारे भी लगते थे। कांग्रेस के तिरंगे के साथ इस्लामी परचम भी लहराता था। पंडित जवाहर लाल नेहरू और क़ाइदे-आज़म मुहम्मद अली जिनाह, दोनों के नारे बाजारों और सडकों में गूँजते थे। समझ में नहीं आता था हिंदुस्तान अपना वतन है या पाकिस्तान। और वह लहू किसका है जो हर रोज़ इतनी बेदर्दी मे बहाया जा रहा है। वह हड्डियाँ कहाँ जलाई या दफ्न की जाएँगी जिन पर से मज़्हब का गोश्त-पोस्त, चीलें और गिध नोच-नोचकर खा गए थे। अब कि हम आज़ाद हुए हैं, हमारा गुलाम कौन होगा—जब गुलाम थे तो आज़ादी का तसव्वुर कर सकते थे, अब आज़ाद हुए हैं तो गुलामी का तसव्वुर क्या होगा। लेकिन सवाल यह है कि हम आज़ाद भी हुए हैं या नहीं।

हिंदू और मुसलमान धड़ाधड मर रहे थे। कैसे मर रहे थे, क्यों मर रहे थे, इन सवालों के मुख़्तलिफ जवाब थे। हिंदुस्तानी जवाब, पाकिस्तानी जवाब, अंग्रेजी जवाब। हर सवाल का जवाब मौजूद था, मगर उस जवाब में हक़ीक़त तलाश करने का सवाल पैदा होता तो उसका कोई जवाब न मिलता। कोई कहता, इसे ग़द्र के खंडरात में तलाश करो। कोई कहता, नहीं, यह ईस्ट इंडिया कंपनी की हुकूमत में मिलेगा। कोई और पीछे हटकर इसे मुग़लिया ख़ानदान की तारीख़ में टटोलने के लिए कहता। सब पीछे ही पीछे हटते जाते थे और क़ातिल और सफ़्फ़ाक बराबर आगे बढ़ते जा रहे थे और लहू और लोहे की ऐसी तारीख़ लिख रहे थे जिसका जवाब तारीख़े-आलम में कहीं भी नहीं मिलता।

हिंदुस्तान आज़ाद हो गया था, पाकिस्तान आलमे-वुजूद में आते ही आज़ाद हो गया था लेकिन इन्सान इन दोनों ममूलुकतों में ग़ुलाम था। तास्सुब का ग़ुलाम, मज़हबी जुनून का ग़ुलाम, हैवानियत व बरबरीयत का ग़ुलाम।

मैंने बंबई टाकीज़ जाना छोड़ दिया। अशोक और वाचा आते तो मैं ख़राबीए-तबीयत का बहाना कर देता। इसी तरह कई दिन गुज़र गए। श्याम मुझे देखता और मुस्करा देता। उसको मेरी क़ल्बी कैफ़ियात का बख़ूबी इल्म था। कुछ दिनों तो मैं ज़्यादा पीता रहा, फिर मैंने यह शग़ल भी छोड़ दिया। सारा दिन गुम-सुम सोफ़े पर लेटा रहता। एक दिन श्याम स्टूडियो से आया, तो उसने मुझे लेटा देखकर मिज़ाहिया अंदाज़ में कहा : "क्यों ख़्वाजा, जुगाली कर रहे हो?"

मुझे बहुत झुंझलाहट होती थी कि श्याम मेरी तरह क्यों नहीं सोचता। उसके दिलो-दिमाग़ में वह तूफ़ान क्यों बर्पा नहीं हैं जिन के साथ मैं दिन-रात लड़ता रहता हूँ। वह उसी तरह मुस्कराता, हँसता और शोर मचाता रहता, मगर शायद वह इस नतीजे पर पहुँच चुका था कि जो फ़ज़ा उस वक़्त गिर्दो-पेश थी, उस में सोचना बिलकुल बेकार है।

मैंने बहुत ग़ौरो-फ़िक्र किया, मगर कुछ समझ में न आया। आख़िर तंग आकर मैंने कहा, हटाओ, चलें यहाँ से—श्याम की नाइट शूटिंग थी। मैंने अपना अस्बाब वग़ैरा बाँधना शुरू कर दिया। सारी रात इसी में गुज़र गई। सुबह हुई तो श्याम शूटिंग से फ़ारिग़ हो कर आया। उसने मेरा बँधा हुआ अस्बाब देखा तो मुझसे सिर्फ़ इतना पूछा : "चले?"

मैंने भी सिर्फ़ इतना ही कहा : "हाँ!"

इसके बाद मेरे और उसके दरमियान हिज्रत के मुताल्लिक़ कोई बात न हुई। बक़ाया सामान बँधवाने में उसने मेरा हाथ बटाया। इस दौरान में रात की शूटिंग के लतीफ़े बयान करता रहा और ख़ूब हँसता रहा। जब मेरे रुख़्सत होने का वक़्त आया तो उसने अल्मारी में से ब्रांडी की बोतल निकाली। दो पेग बनाए और एक मुझे देकर कहा : "हिपटुल्ला।"

मैंने जवाब में 'हिपटुल्ला' कहा और उसने क़हक़हे लगाते हुए मुझे अपने चौड़े सीने के साथ भींच लिया : 'सुअर कहीं के '

मैंने अपने आँसू रोके : "पाकिस्तान के "

श्याम ने पुर-ख़ुलूस नारा बुलंद किया : "ज़िंदाबाद पाकिस्तान।"

"ज़िंदाबाद हिंदुस्तान" और मैं नीचे चला गया, जहाँ ट्रक वाला मेरा इंतिज़ार कर रहा था।

बदरगाह तक श्याम मेरे साथ गया। जहाज़ चलने में काफ़ी देर थी। वह इधर-उधर के लतीफ़े सुनाकर मेरा दिल बहलाता रहा। जब विसिल हुआ तो उसने 'हिपटुल्ला' कहकर मेरा हाथ दबाया और गैंग वे से नीचे उतर गया—मुड़कर उसने मेरी तरफ़ न देखा और मज़बूत क़दम उठाता बंदरगाह से बाहर चला गया।

मैंने लाहोर पहुँच कर उसको ख़त लिखा। उन्नीस एक अड़तालीस को उसका जवाब आया :

"यहाँ तुम्हें सब लोग याद करते हैं। तुम्हारी और तुम्हारी बज़्ला-संजी की ग़ैर

मौजूदगी को महसूस करते हैं जो तुम बड़ी फ़राख़-दिली से उन पर ज़ाया करते थे। वाचा अभी तक इस बात पर मुसिर है कि तुम कन्नी कतरा गए। अबकी दफ़ा उसको इत्तिला दिए बग़ैर पाकिस्तान भागकर। अजीब मुतनाक़िज़ बात है कि वह जो बंबे टाकीज़ में मुसलमानों के दाख़िले की मुख़ालफ़त में सबसे आगे था, सबसे पहला आदमी था जो पाकिस्तान भाग कर चला गया—ख़ुद को अपने नज़रिए का शहीद बनाते हुए—यह वाचा का अपना नज़रिया है। मुझे उम्मीद है कि तुम ने उसको ज़रूर ख़त लिखा होगा। अगर नहीं लिखा तो फ़ौरन लिखो। कम-अज़-कम शराफत का यही तकाज़ा है।

तुम्हारा श्याम

आज चौदह अगस्त है, वह दिन जब पाकिस्तान और हिंदुस्तान आजाद हुए थे। इधर और उधर दोनों तरफ ख़ुशियाँ मनाई जा रही हैं, और साथ ही साथ हमले और दिफ़ा की तैयारियाँ भी ज़ोरो-शोर से जारी हैं—मैं श्याम की रुह से मुख़ातिब होता हूँ "प्यारे श्याम मैं बंबे टाकीज़ छोड़कर चला गया था। क्या पंडित जवाहर लाल नेहरू कश्मीर नहीं छोड सकते है ना हिप्टुल्ला बात!"

के. के.

के. के.—यह उस मशहूर एक्ट्रेस का नाम है जो हिंदुस्तान के मुतादि्दद फ़िल्मों में आ चुकी है और आपने यक़ीनन उसे सीमीं पर्दे पर कई मर्तबा देखा होगा। मैं जब भी उसका नाम किसी फ़िल्म के इश्तिहार में देखता हूँ तो मेरे तसव्वुर में उसकी शक्ल बाद में, लेकिन सबसे पहले उसकी नाक उभरती है—तीखी, बहुत तीखी नाक। और फिर मुझे बंबे टाकीज़ का वह दिलचस्प वाक़िआ याद आ जाता है जो मैं अब बयान करनेवाला हूँ

बटवारे पर जब पंजाब में फ़सादात शुरू हुए तो कुलदीप कौर, जो लाहौर में थी और वहाँ फ़िल्मों में काम कर रही थी, हिज्रत करके बंबई चली गई। उसके साथ उसका दाश्ता प्राण भी था जो पंचोली के कई फ़िल्मों में काम करके शुहरत हासिल कर चुका था।

अब प्राण का ज़िक्र आया है तो उसके मुताल्लिक़ भी चंद तआरुफ़ी सुतूर लिखने में कोई मुज़ाइक़ा नहीं। प्राण अच्छा-ख़ासा ख़ुश शक्ल मर्द है। लाहौर में उसकी शुहरत इस वजह से भी थी कि वह बड़ा ही ख़ुशपोश था। बहुत ठाट से रहता था। उसका ताँगा घोडा, लाहौर के रईसी ताँगों में सबसे ज्यादा ख़ुबसूरत और दिलकश था।

मुझे मालूम नहीं, प्राण से कुलदीप कौर की दोस्ती कब और किस तरह हुई, इसलिए कि मैं लौहार में नहीं था, लेकिन फ़िल्मी दुनिया में दोस्तियाँ अजाइब में दाख़िल नहीं। वहाँ एक फ़िल्म की शूटिंग के दौरान में एक्ट्रेसों का दोस्ताना बयक-वक़्त कई मर्दों से हो सकता है जो उस फ़िल्म से वाबस्ता हों।

जिन दिनों प्राण और कुलदीप कौर का मुआश्क़ा चल रहा था, उन दिनों श्याम मर्हूम भी वहीं था। पूना और बंबई में क़िस्मत आज़माई करने के बाद वह लाहौर चला गया था, जिससे उसे वालेहाना मुहब्बत थी। इश्क़ पेशा इन्सान था और कुलदीप भी उस मैदान में उससे पीछे नहीं थी—दोनों का तसादुम हुआ। क़रीब था कि वह एक दूसरे में मुदग़म हो जाते कि एक और लड़की श्याम की ज़िंदगी में दाख़िल हो गई।

उसका नाम मुमताज़ था, जो ताजी के नाम से मशहूर हुई। यह ज़ैब क़ुरेशी एम ए की छोटी बहन थी। कुलदीप को श्याम की यह कलाबाजी पसंद न आई, चुनाँचे वह उससे नाराज़ हो गई और हमेशा नाराज़ रही। मैं यहाँ आपको यह बता दूँ कि कुलदीप बड़ी हटीली औरत है। जो बात उसके दिमाग़ में समा जाए उस पर अड़ी रहती है—मैं आपको एक दिलचस्प बात बताऊँ। यह वाक़िआ बंबई का है।

हम तीनों बंबई टाकीज़ में थे और शाम को बर्क़ी ट्रेन से अपने घर जा रहे थे। फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा उस दिन क़रीबन क़रीबन ख़ाली था। हम तीनों के सिवा उसमें और कोई मुसाफिर न था।

श्याम तबअन बडा बुलंद बाँग और मुँह फट था। जब उसने देखा कि कंपार्टमेंट मे कोई ग़ैर नहीं तो उसने कुलदीप कौर से छेड़ख़ानी शुरू कर दी—मैं समझता हूँ कि उसका असल मकसद यह था कि वह रिश्ता, जो लाहौर में काइम होते-होते रह गया था, अब यहाँ बबई में क़इम हो जाए, क्योंकि ताजी से उसकी खटपट हो गई थी। रमोला कलकत्ता मे थी और निगार सुलताना, नग़मा-नवीस मधोक के पास। वह उन दिनो बकौल उसके ख़ाली हाथ था।

चुनाँचे उसने कुलदीप कौर से कहा : "के-के., तुम मुझसे दूर-दूर क्यो रहती हो इधर आओ मेरी जान, मेरे पास बैठो।"

कुलदीप कौर की नाक और तीखी हो गई· "श्याम साहब, आप मुझ पर डोरे न डाले।"

मैं उनकी गुफ़्तगू, जो मुझे मुकम्मल तौर पर याद है, यहाँ नक़ल करना नही चाहता, इसलिए कि वह बहुत बेबाक थी। वैसे उसकी रूह अपने लफ्ज़ों मे बयान किए देता हूँ—श्याम कभी सजीदगी से बात नहीं करता था। उसके हर लफ्ज़ में एक कहक़हा होता था। उसने कुलदीप से उसी मख़सूस अंदाज़ में कहा : "जानेमन, उस उल्लू के पट्ठे प्राण को छोड़ दो और मेरे साथ नाता जोड़ लो वह मेरा दोस्त है लेकिन यह मामला बडी आसानी से तय हो सकता है।"

कुलदीप कौर की आँखें उसकी नाक की तरह बड़ी और तीखी हैं। उसका लबे-दहान भी बडा तीखा है। उसके चेहरे का हर ख़दोख़ाल तीखा है। जब वह अपनी बड़ी-बडी आँखे झपका कर बात करती है तो आदमी बौखला जाता है कि यह क्या मुसीबत है—उसने तेज-नेज निगाहों से श्याम की तरफ देखा और उससे ज्यादा नेज लहजे में उससे कहा. "मुँह धोकर रखिए श्याम साहब!"

श्याम पर औरतों की तेज गुफ़्तारी का भला क्या असर होता। उसने एक कहकहा लगाया और कहा "के. के. मेरी जान, तुम लाहौर मे मुझ पर मरती थी। याद नही तुम्हे?"

अब कुलदीप ने कहकहा लगाया जिस में निस्वानी तन्ज भरा था· "आपको वहम हो गया था।"

श्याम ने कहा : "तुम गलत कहती हो तुम यकीनन मुझ पर मरती हो।"

मैंने कुलदीप की तरफ देखा और मुझे महसूस हुआ कि उसके जिस्म पर सुपुर्दगी की ख़्वाहिश मौजूद है, मगर उसका हटीला दिमाग़ उसकी उस ख़्वाहिश को रद्द करने की कोशिश में मसरूफ़ है—चुनाँचे उसने अपनी तीखी पलकें फड़फड़ा कर कहा : "मरती थी, लेकिन अब नहीं मरूँगी।"

श्याम ने अपने उसी लाउबालियाना अंदाज़ में कहा : "अब नहीं मरोगी तो कल मरोगी मरना बहरहाल तुम्हें मुझ पर ही है।"

कुलदीप कौर भन्ना गई : "श्याम, तुम मुझसे आज आख़िरी बार सुन लो कि तुम्हारा मेरा कोई सिलसिला नहीं हो सकता। तुम इतराते हो। हो सकता है लाहौर में कभी मेरी तबीयत तुम पर आई हो लेकिन जब तुमने बेरुख़ी बरती तो मैं क्यों तुम्हें मुँह लगाऊँ। अब इस क़िस्से को ख़त्म करो।"

क़िस्सा ख़त्म हो गया, सिर्फ़ वक़्ती तौर पर, क्योंकि श्याम ज़्यादा बहस बहसी का आदी नहीं था।

कुलदीप कौर अटारी के एक मशहूरो-मारूफ़ और मालदार सिख घराने से ताल्लुक़ रखती है। उसका एक फ़र्द लाहौर की एक मशहूर मुसलमान औरत से मुन्सलिक है, जिस को उसने लाखों रुपए दिए और सुना है कि अब भी देता है। यह मुसलमान औरत किसी जमाने में यकीनन ख़ूबसूरत होगी मगर अब मोटी और भद्दी हो गई है। वह अटारी के सिख हजरत अब भी बाक़ाइदा यहाँ लाहौर में फ़्लेटी होटल में आते हैं और अपनी मुसलमान महबूबा के साथ चंद रोज गुज़ार कर वापस चले जाते हैं।

जब बटवारा हुआ तो कुलदीप कौर और प्राण को अफ़रा-तफ़री में लाहौर छोड़ना पड़ा। प्राण की मोटर जो ग़ालिबन कुलदीप कौर की मिलकियत थी, लाहौर ही में रह गई—कुलदीप कौर एक बाहिम्मत औरत है। इसके अलावा उसे यह भी मालूम है कि वह मर्दों का अपनी उंगलियों पर नचा सकती है? वह कुछ देर के बाद लाहौर आई और फ़सादात के दौरान में यह मोटर ख़ुद चलाकर बंबई ले गई।

जब मैंने मोटर देखी और प्राण से पूछा कि यह कब ख़रीदी गई है, तो उसने मुझे सारा वाकिआ सुनाया कि के. के. लाहौर से लेकर आई है, और यह कि रास्ते में उसे कोई तक्लीफ़ नहीं हुई, बस सिर्फ़ देहली में उसे चंद रोज़ ठहरना पड़ा कि एक गड़बड़ हो गई थी—यह गडवड़ क्या थी, इसके मुताल्लिक मुझे कुछ इल्म नहीं।

जब वह मोटर लेकर आई तो उसने सिक्खों पर मुसलमानों के मज़ालिम बयान किए और इस अंदाज से बयान किए कि मालूम होता था, वह मेज़ पर से मक्खन लगाने वाली छुरी उठाएगी और मेरे पेट में घोंप देगी—मुझे बाद में मालूम हुआ कि वह जज़्बाती हो गई थी, वर्ना मुसलमानों से उसे कोई अदावत या बुग्ज़ नहीं।

असल मे उसका कोई मज़्हब नही। वह सिर्फ़ औरत है, एक ऐसी औरत जो जिस्मानी लिहाज से बड़ी पुर-ख़ुलूस है।

उसकी नाक बेहद तीखी है। उसकी आँखें बहुत तेज़ हैं। उसका लबे-दहान बहुत बारीक है—यही वजह है कि उसके चेहरे पर ज़रा-सा चढ़ाव बहुत तेज़ो-तुंद बन जाता है। इसके अलावा उसका लहजा और उसकी आवाज भी गैर मामूली तौर पर तुंदो-तर्रार है।

कुलदीप कौर की तीखी नाक का ज़िक्र मैं कई बार कर चुका हूँ। इस सिलसिले में आप एक लतीफ़ा सुन लीजिए।

मैं फ़िल्मस्तान छोड़कर अपने दोस्त अशोक कुमार और सावक वाचा के साथ बंबे टाकीज चला गया था। उस ज़माने में फ़सादात का आग़ाज़ था। उसी दौरान में कुलदीप कौर और उसका दाश्ता प्राण मुलाज़मत के लिए वहाँ आया।

प्राण से जब मेरी मुलाक़ात श्याम के तवस्सुत से हुई तो मेरी उसकी फ़ौरन दोस्ती हो गई कि बड़ा बोरिया आदमी है—कुलदीप कौर से अलबत्ता कुछ रस्मी क़िस्म की मुलाकात रही।

उन दिनों तीन फ़िल्म हमारे स्टूडियों में शुरू होने वाले थे—चुनाँचे जब कुलदीप कौर ने मिस्टर सावक वाचा से मुलाक़ात की तो उन्होंने जोजफ़ वार्शिग जर्मन कैमरा मैन से कहा कि वह उसका कैमरा टैस्ट कर ले ताकि इत्मीनान हो जाए।

जोज़फ वार्शिग गोरे रँग और अधेड उम्र का मोटा-सा आदमी है। उसको हिमाम् राय मर्हूम अपने साथ जर्मनी से लाए थे—जब जंग शुरू हुई तो उसे देव लाली में नज़र बंद कर दिया गया। एक अर्से तक वह वहाँ रहा। जब जग ख़त्म हुई तो उसे रिहा कर दिया गया और वह फिर वापस बंबे टाकीज़ में आ गया, इसलिए कि मिस्टर वाचा से उसके दोस्ताना ताल्लुक़ात थे। वह अर्सा हुआ, बंबे टाकीज़ मे इकट्ठे एक दूसरे के साथ काम करते रहे थ। उन दिनों मिस्टर वाचा साउड रिकार्डिस्ट थे।

वार्शिग ने स्टूडियो में रौशनी का इंतिज़ाम कराया और मैकअप मैन से कहा कि वह कुलदीप कौर को तैयार करके कैमरा टेस्ट के लिए लाए। वह ख़ुद तैयार था। कैमरा नया था। उसको उसने अच्छी तरह देखा। रौशनियाँ दुरुस्त कराईं और अपना चुर्ट सुलगाए एक तरफ़ खड़ा हो गया।

कुलदीप कौर आई। मैंने उसे देखा। उसकी नाक पर मैकअप मैन ने सुर्ख़ी और सफ़ेदे के कुछ ऐसे ख़त लगाए थे कि वह दस गुना और तीखी हो गई थी। जब वार्शिग ने उसको देखा तो वह घबरा गया क्योंकि वह सर-ता-पा नाक थी।

कुलदीप कौर बिलकुल बेख़ौफ़ बेझिझाक कैमरे के सामने खड़ी हो गई। वार्शिग ने अब उसको कैमरे की आँख से देखा। मैं महसूस कर रहा था कि उसको बड़ी उलझन हो रही है। वह उसकी नाक ऐसे ज़ाविए पर बैठाने की कोशिश कर रहा था कि मायूब मालूम हो।

बेचारा उस कोशिश मे पसीनों-पसीना हो गया। आख़िर उसने थक हार कर मुझसे कहा : "मैं अब एक कप चाय पीऊँगा " मैं सारा मामला समझ गया था। चुनाँचे हम दोनों केंटीन में पहुँच गए। वहाँ उसने अपना पसीना पोंछते हुए मुझसे कहा : "मिस्टर मंटो, उसकी नाक भी एक आफत है। कैमरे में घुसी चली आती है। चेहरा बाद में आता है, नाक पहले आती है। अब मैं क्या करूँ। कुछ समझ में नहीं आता।"

मैंने कहा : "मेरी समझ मे ख़ुद कुछ नहीं आता तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।"

फिर उसने एक और उलझन का इज़हार किया, लेकिन मेरे कान में : "मिस्टर मंटो उसका वह मामला भी ठीक नहीं है, लेकिन मैं उस से कैसे कहूँ " यह कह कर मोटे वार्शिग ने अपना पसीना फिर पोंछा।

मैं उसका मतलब समझ गया, लेकिन वार्शिग ने फिर भी मुझे वज़ाहत से सबकुछ बता दिया और मुझसे दर्ख़्वास्त की कि मैं के.के. से दर्ख़्वास्त करूँ कि वह उस मामले को ठीक करे कि वह बहुत ज़रूरी है। नाक का वह कोई न कोई ज़ाविया निकाल लेगा, मगर उस मामले के मुताल्लिक़ वह कुछ भी नहीं कर सकता कि वह उसका काम है—मैंने उसकी

तशफ़्फ़ी की कि मैं सब ठीक कर दूँगा, क्योंकि उसने मुझे उस मामले की दुरुस्ती का हल बता दिया था, जो पैंतीस रुपए में वाईट वे एंड लेडाला की दुकान से दस्तयाब हो सकता था।

उस रोज़ टैस्ट किसी बहाने मौकूफ़ कर दिया गया। कुलदीप जब स्टूडियो से बाहर निकली तो मैंने बेतकल्लुफ़ी से सारी बात, जो उस मामले के मुताल्लिक़ थी, उसे बता दी और उससे कहा कि वह आज ही फ़ोर्ट में जाकर वह चीज खरीद ले जिससे उसके जिस्म का नक्स दूर हो जाएगा। उसने बिला झिझक मेरी बात सुनी और कहा कि यह कौन-सी बड़ी बात है—चुनाँचे वह उसी वक़्त प्राण के साथ गई और वह चीज़ खरीद लाई। जब दूसरे रोज स्टूडियो मे उससे मुलाकात हुई तो जमीनो-आसमान का फर्क था—यह चीजें ईजाद करने वाले भी बला के आदमी हैं, जो यूँ चुटकियों में "मामलो" को कहाँ से कहाँ पहुँचा देते हैं।

वाशिंग ने जब उसे देखा तो वह मुत्मइन था। गो कुलदीप की नाक उसे तंग कर रही थी मगर अब दूसरा मामला बिलकुल ठीक था। चुनाँचे उसने टेस्ट लिया और जब उसका प्रिंट तैयार हुआ और हम सबने उसे अपने प्रोजेक्शन हाल में देखा तो उसकी शक्लो-सूरत को पसंद किया और यह राय मुत्तफ़िका तौर तर काइम हुई कि वह ख़ास रोल्ज़ के लिए बहुत अच्छी रहेगी, ख़ुसूसन वैंप के रोल् के लिए।

कुलदीप कौर से मुझे ज़्यादा मिलने-जुलने का इत्तिफ़ाक़ नहीं हुआ—प्राण चूँकि दोस्त था और उसके साथ अक्सर शामें गुज़रती थीं, इसलिए कुलदीप भी कभी-कभी हमारे साथ शरीक हो जाती थीं। वह एक होटल में रहती थी जो साहिल समंदर के पास था। प्राण भी उससे कुछ दूर एक स्क्वायर में मुक़ीम था जहाँ उसकी बीवी और बच्चा भी था, लेकिन उसका ज़्यादा वक़्त कुलदीप कौर के साथ गुज़रता था। मैं अब आपको एक दिलचस्प वाक़िआ सुनाता हूँ।

मैं और श्याम, ताज होटल में बीयर पीने जा रहे थे कि रास्ते में मशहूर नग़मा नवीस मधोक से मुलाकात हो गई। वह हमें एयरवेज सिनेमा के बार में ले गए। वहाँ हम सब देर तक बीयर नोशी में मशग़ूल रहे। मधूक टैक्सियों का बादशाह मशहूर है। बाहर एक ग्रान्डील टैक्सी खड़ी थी। यह मधोक साहब के पास तीन दिन से थी।

जब हम फारिग़ हुए तो उन्होंने पूछा कि हमें कहाँ जाना है—मधोक साहब को अपनी महबूबा निगार सुलताना के पास जाना था, जिससे किसी ज़माने में श्याम का भी ताल्लुक़ था। कुलदीप कौर भी निगार के आस-पास ही रहती थी—श्याम ने मुझसे कहा : "चलो प्राण से मिलते हैं।"

चुनाँचे मधोक साहब की टैक्सी में बैठकर हम वहाँ पहुँचे। वह तो अपनी निगार सुलताना के पास चले गए और हम दोनों कुलदीप कौर के हाँ। प्राण वहाँ बैठा था। एक मुख़्तसर-सा कमरा था। बीयर पी हुई थी। ग़ुनूदगी तारी थी, उसको ज़ाइल करने के लिए श्याम ने सोचा कि ताश खेलनी चाहिए। कुलदीप फ़ौरन तैयार हो गई लेकिन यह कहा कि फ्लाश होगी। हम मान गए।

फ़्लाश शुरू हो गई। कुलदीप और प्राण एक साथ थे। प्राण ही पत्ते बाँटता और वही

उठाता था। कुलदीप उसके कांधे के साथ अपनी नुकीली ठोड़ी टिकाए बैठी थी, अलबत्ता जितने रुपए प्राण जीतता था, उठाकर अपने पास रख लेती थी।

उस खेल में हम सिर्फ़ हारा किए। मैंने फ़्लाश कई मर्तबा खेली है लेकिन वह फ़्लाश कुछ अजीबो-ग़रीब क़िस्म की थी। मेरे पिछत्तर रुपए पंद्रह मिनट के अंदर अदर कुलदीप कौर के पास थे। मेरी समझ में नहीं आता था कि आज पत्तों को क्या हो गया है कि ठिकाने के आते ही नहीं।

श्याम ने जब यह रंग देखा तो मुझसे कहा: "मंटो, अब बंद करो।" मैंने खेलना बंद कर दिया—प्राण मुस्कराया और उसने कुलदीप से कहा: "के. के., पैसे वापस कर दो मंटो साहब के।"

मैंने कहा: "यह गलत है तुम लोगों ने जीते हैं। वापसी का सवाल ही कहाँ पैदा होता है।"

तब प्राण ने मुझे बताया कि वह अव्वल दर्जे का नोसर बाज़ है। उसने जो कुछ मुझसे जीता है, अपनी चाबुक-दस्ती की बदौलत मुझसे जीता है। चूँकि मैं उसका दोस्त हूँ, इसलिए वह मुझसे धोका करना नहीं चाहता—मैं पहले समझा कि वह इस हीले से मेरे रुपए वापस करना चाहता है, लेकिन जब उसने ताश की गड्डी उठाकर तीन चार बार पत्ते तक़सीम किए और हर बार बड़े दाव जीतने वाले पत्तें अपने पास गिराए तो मैं उसके हथकडे का क़ाइल हो गया, यह काम वाक़िई बड़ी चाबुकदस्ती का है।

प्राण ने कुलदीप कौर से कहा कि वह रुपए वापस कर दे मगर उसने इन्कार कर दिया—श्याम कबाब हो गया। प्राण नाराज़ होकर चला गया, गालिबन उसे अपनी बीवी के साथ कहीं जाना था। श्याम और मैं वहीं बैठे रहे। थोडी देर श्याम उससे ग़ुफ़्तगू करता रहा। फिर उसने कहा कि आओ चलो, सैर करें। कुलदीप राजी हो गई।

टैक्सी मँगवाई गई। हम सब बाइकला रवाना हुए। क्लीयर रोड पर मेरा फ्लैट था। हम सीधे वहाँ पहुँचे। घर में उन दिनो कोई भी नहीं था। श्याम मेरे साथ रहता था। हम फ्लैट में दाख़िल हुए तो श्याम ने कुलदीप से छेडखानी शुरू कर दी। कुलदीप बहुत जल्द नग आनेवाली औरत नहीं। वह किमी मर्द से घबराती भी नही। उमको खुद पर पूरा-पूरा एतिमाद है, चुनांचे वह देर तक श्याम के साथ हँसती खेलती रही।

हाँ मैं आपको यह बताना भूल गया कि जब हम क्लीयर गेड पर पहँचे तो कुलदीप ने एक स्टोर के पास टैक्सी रोकने के लिए कहा कि वह सेन्ट की शीशी खरीदना चाहती है—श्याम सख़्त कबाब था कि वह उम रुपए मे हर चीज खरीदेगी जो प्राण ने नौसर बाजी के जरिए मुझसे जीते थे।

मैंने उससे कहा: "कोई हर्ज नहीं। तुम इस बात का कुछ खयाल न करो। हटाओ इम क़िम्से को।"

कुलदीप के साथ मैं स्टोर में गया। उमने पारडे का सेन्ट पसंद किया। उसकी क़ीमत बाइस रुपए आठ आने थी। कुलदीप ने खूबसूरत शीशी अपने पर्स में रखी और मुझसे कहा: "मंटो साहब, क़ीमत अदा कर दीजिए।"

मैं उस सेंट के दाम हरगिज़ अदा नहीं करना चाहता था। मगर दुकानदार मेरा वाक़िफ़ था और फिर एक औरत ने इस अंदाज में मुझसे कीमत अदा करने को कहा था कि इन्कार करना मर्दाना वक़ार की तज़्लील का बाइस होता। चुनाँचे मैंने जेब से रुपए निकाले और अदा कर दिए—फ़्लैट में जब श्याम को मालूम हुआ कि सेंट मैंने ख़रीदकर दिया है तो वह आग बगूला हो गया। उसने मुझे और कुलदीप कौर को पेट भर कर गालियाँ दीं, लेकिन बाद नर्म हो गया। उसका असल मक़सद यह था कि कुलदीप किसी न किसी तरह राम हो जाए। मैंने भी कोशिश की और कुलदीप कौर को समझाया कि अब उसके इख़्तिलाफ़ात मिट जाने चाहिएँ। कुलदीप मान गई। मैंने श्याम और उससे कहा कि मैं जाता हूँ कि तुम दोनों आपस मैं समझौता कर लो, मगर उसने कहा कि नहीं, यह समझौता उसके होटल मे होगा—टैक्सी नीचे खड़ी थी। दोनों उसमें चले गए।

मैं ख़ुश था कि चलो, यह क़िस्सा तय हुआ।

मगर पौन घंटे बाद ही श्याम लौट आया। वह सख़्त गुस्से में भरा हुआ था। मैंने जब उसे ब्रांडी का ग्लास पेश किया तो मैंने देखा कि उसका हाथ ज़ख़्मी है। ख़ून बह रहा है। मैंने बडी तश्वीश के साथ पूछा। वह कबाब था, लेकिन ब्रांडी ने उसके मूड को किसी क़द्र दुरुस्त कर दिया। उसने बताया कि जब वह के. के. के साथ उसके होटल में पहुँचा और वह टैक्सी से बाहर निकले तो वह मुन्किर हो गई। मुझे सख़्त ग़ुस्सा आया। हम दोनों एक पत्थरीली दीवार के पास खड़े थे। मैंने उससे कहा : तुम लाहौर में मुझ पर मरती थीं। अब यह क्या नख़रा है। उसने जवाब में कुछ ऐसी बात कही कि मेरे तन बदन में आग लग गई। मैंने तानकर घूँसा मारा मगर वह एक तरफ़ हट गई और मेरा घूँसा दीवार के साथ जा टकराया। वह हँसती क़हक़हे लगाती ऊपर होटल में चली गई और मैं खड़ा अपना ज़ख़्मी हाथ देखता रहा।''

कुलदीप कौर अजीबो-ग़रीब शख़्सीयत की मालिक है। जिस तरह उसकी नाक तीखी है, उसी तरह उसका किर्दार तीखा और नुकीला है।

पिछले दिनों यह ख़बर आई थी कि उस पर हिंदुस्तान में पाकिस्तान की जासूसी का इल्ज़ाम लगाया है। मालूम नहीं, इसमें कहाँ तक सदाक़त है लेकिन मैं वुसूक़ से इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि उस जैसी औरत, जिसका ज़ाहिर बातिन एक हो, माता हरी कभी नहीं बन सकती।

नवाब काश्मीरी

यूँ तो कहने को वह एक एक्टर था जिसकी इज्जत अक्सर लोगो की नजर मे कुछ नही होती, जिस तरह मुझे महज अफ्साना निगार समझा जाता है यानि एक फ़ुजूल-सा आदमी, पर यह फ़ुजूल-सा आदमी उस फ़ुजूल-से आदमी का जितना एहतिराम करता था, उतना एहतिराम कोई बेफ़ुजूल-सी शख्सीयत किसी बेफ़ुजूल-सी शख्सीयत का नही कर सकती।

वह अपने फन का बादशाह था। उस फन के मुताल्लिक आपको यहाँ का कोई वजीर कुछ न बता सकेगा—आप किसी चीथडे पहने हुए मजदूर से पूछ देखिए, जिसने चवन्नी देकर नवाब काश्मीरी को किसी फिल्म मे देखा है तो वह उसके गुन (गुण) गाने लगेगा और वह अपनी खास जबान मे आपको बताएगा कि नवाब काश्मीरी ने क्या-क्या कमाल दिखाए हैं।

इगलिस्तान की यह रस्म है कि जब उनका कोई बादशाह मरता है तो फौरन ऐलान किया जाता है "बादशाह मर गया है, बादशाह की उम्र दराज हो।" -

नवाब काश्मीरी मर गया है—मैं किस नवाब काश्मीरी की दराजी-ए-उम्र के लिए दुआ माँगूँ। मुझे तो उसके मुकाबले मे तमाम किर्दार निगार प्यादे मालूम होते हैं।

नवाब काश्मीरी से मेरी मुलाकात बबई मे हुई। खान काश्मीरी, जो उसका करीबी रिश्तेदार है, साथ था। बबई के एक स्टूडियो मे हम देर तक बैठे और बाते करते रहे। इसके बाद मैंने उसको अपनी एक फिल्मी कहानी सुनाई। उस पर कुछ असर न हुआ। उसने मुझसे बिला तकल्लुफ कह दिया "ठीक है, लेकिन मुझे पसद नही।"

मैं उसकी इस बेबाक तन्कीद से बहुत मुतास्सिर हुआ।

दूसरे रोज मैंने उसे फिर एक कहानी सुनाई। सुनने के दौरान मे उसकी आँखो से आँसू टपकने लगे—जब मैंने कहानी खत्म की तो उसने रूमाल से आँसू खुश्क करके मुझसे कहा "यह कहानी आप किस फिल्म कपनी को दे रहे हैं भडवे का रोल मुझे बहुत पसद है।"

मैंने उससे कहा "यह कहानी कोई प्रोड्यूसर लेने के लिए तैयार नही।"

नवाब ने कहा "तो लानत भेजो उन पर।"

नवाब मर्हूम को पहली बार मैंने 'यहूदी की लडकी' मे देखा था, जिसमें रतनबाई हीरोइन थी। नवाब, अजरा यहूदी का पार्ट अदा कर रहा था—मैंने इससे पहले यहूदियो की शक्ल तक नही देखी थी। जब मैं बबई गया तो यहूदियो को देखकर मैंने महसूस किया कि

नवाब ने उनका सही, सौ फीसदी सही चरबा उतारा है[1]—जब नवाब मर्हूम से बंबई में मुलाकात हुई तो उसने मुझे बताया कि अजरा यहूदी का पार्ट अदा करने के लिए उसने कलकत्ता में पार्ट अदा करने से पहले कई यहूदियों के साथ मुलाकात की, उनके साथ घंटों बैठा रहा। जब उसने महसूस किया कि वह अजरा यहूदी का रोल अदा करने के काबिल हो गया है तो उसने मिस्टर बी. एन. सरकार, मालिक 'न्यू थियेटर्ज' से हामी भर ली।

जिन अस्हाब ने 'यहूदी की[2] लडकी' फिल्म देखा है, वह नवाब काश्मीरी को कभी नहीं भूल सकते। उसने बूढ़ा बनने के लिए और पोपले मुँह से बातें करने के लिए अपने सारे दाँत निकलवा दिए थे ताकि किर्दार निगारी पर कोई हर्फ न आए।

नवाब बहुत बडा किर्दार निगार था। वह किसी ऐसे फिल्म में हिस्सा लेने के लिए तैयार न था जिसमें कोई ऐसा रोल न हो, जिसमें वह समा न सकता हो। चुनाचे वह किसी फिल्म कंपनी से मुआहिदा करने से पहले पूरी कहानी सुनता था। फिर घर जाकर उस पर कई दिन गौर करता था। आइने के सामने खडा होकर अपने चेहरे पर मुख्तलिफ जज्बात पैदा करता था—जब वह अपनी तरफ से मुत्मइन हो जाता तो मुआहिदे पर दस्तखत कर देता।

उसको आगा हश्र काश्मीरी के ड्रामों से बहुत मुहब्बत थी—ताज्जुब है कि वह शख्स जो अर्से तक इंपीरियल थियेटेरिकल कंपनी के ड्रामों में स्टेज पर आता रहा और दादे-तहसीन वुसूल करता रहा, फिल्म में आते ही एकदम बदल गया—उसके लबो-लहजे में कोई थियेटरपन नहीं था। वह अपने मुकालमे उसी तरह अदा करता था जिस तरह कि लोग आम गुफ्तगू करते हैं।

जिस थियेटरिकल कंपनी का मैंने जिक्र किया है, उसके ड्रामों 'खूबसूरत बला', 'तूरे-वतन' और 'बागे-ईरान' में नवाब मर्हूम ने अपनी अदाकारी के ऐसे जौहर दिखाए थे कि उसकी धाक बैठ गई थी।

नवाब काश्मीरी, लखनऊ के बडे इमाम बाडे के सैयद मर्सिए-आजम का इकलौता लडका था—कुदरत की यह कितनी सितम जरीफी है, कहाँ इमाम बाडे का मर्सिए-आजम और कहाँ सडवा—लेकिन बचपन ही से नवाब काश्मीरी को नाटक से लगाव था।

लखनऊ में एक नाटक कंपनी आई, जिसका मालिक कोई अग्रवाल था। उस कंपनी के खेल नवाब बाकाइदा देखता रहा। उसने महसूस किया कि वह उसी सिलसिले के लिए पैदा हुआ है—वह खेल देखकर घर आता तो घंटों उस ड्रामे के याद रह हुए मुकालमे अपने अंदाज में बोलता।

उस नाटक कंपनी में चुनाचे एक मर्तबा उसने खुद को पेश किया कि वह उसका इम्तिहान ले—डायरेक्टर ने जब नवाब की एक्टिंग देखी और मकालमा की अदाइगी सुनी तो हैरानो शशदर रह गया। उसने फौरन उसे अपने यहाँ मुलाजिम रख लिया—यह मुझे

1 मेरा ख्याल यह नाराजी जल्ला भोग है।

2 आगा हश्र काश्मीरी का यह ड्रामा दूसरी बार 'यहूदी' के नाम से फिल्माया गया। बिमल राय डायरेक्टर थे और यहूदी का रोल सोहराब मोदी ने अदा किया था। द्वितीय बार भी मीनाकुमारी की मौजूदगी के बावजूद फिल्म घटिया था।

मालूम नही कि उसकी तन्खाह क्या मकर्रर हई।

उस कपनी के साथ नवाब कलकत्ता पहुँचा, और वहाँ उसने अपने मजीद जाहर दिखाए। वह केरेक्टर एक्टर मशहूर हो गया—काउस जी खटाऊ जी ने उसकी अदाकारी देखी तो उसको एलफ्रेड थियेटर कपनी मे ले गया।

सेठ सुखलाल करनानी, एलफ्रेड थियेटर का मालिक था ओर परले दर्जे का गधा और बेवकूफ था। उसने अपने हवारियो से सना था कि कोई एक्टर, जिसका नाम नवाब है और जो कमाल कर रहा है और जिसका कोई जवाब नही है, तो उसने अपने ठेट अदाजे-गफ्तगू मे कहा था 'तो ले आओ उस साड को।'

उस साड को काउस जी खटाऊ जी ले आया- जाहिर है वह साड नवाब काश्मीरी था। उसको ज्यादा तन्खाह देकर एलफ्रेड थियेटर मे रख लिया गया—नवाब देर तक, मेरा मतलब है दो साल तक, करनानी की कपनी के खेलो मे काम करता रहा।

मुझे याद नही, कौन-सा सन था। गालिबन यह वह जमाना था, जब बबई की इपीरियल फिल्म कपनी ने हिदस्तान का पहला बोलता फिल्म 'आलम आरा' बनाया था—जब बोलती फिल्मो का दौर शुरू हआ तो मिस्टर बी एन सरकार ने, जो बडे तालीम याफ्ता और सझबझ के मालिक थे, 'न्यू थियेटर्ज' की बुनियाद रखी। वह नवाब काश्मीरी से अक्सर मिलते रहते थे। उन्होने नवाब को इस बात पर आमादा कर लिया कि वह थियेटर छोडकर फिल्मी दनिया मे आ जाए।

बी एन सरकार, नवाब को अपना मुलाजिम नही, महबूब समझते थे। उनका जौक बहुत अरफा व आला था। वह आर्ट के गरवीदा थे—नवाब मर्हूम का पहला फिल्म 'यहूदी की लडकी' था। उस फिल्म की हीरोइन रतन बाई थी जिसके सर के बाल उसके टखनो तक पहुँचते थे। उस फिल्म के डायरेक्टर एक बगाली मिस्टर अठार्थी थे जो अब दुनिया त्याग चुके हैं। उस टीम मे हाफिज जी और म्युजिक डायरेक्टर बाली थे—उस तिगडम मे क्या कुछ होता था, मेरा खयाल है, इस मज्मून मे जाइज नही।

मिस्टर अठार्थी ने, जो बहुत पढे लिखे और काबिल आदमी थी, मुझसे कहा था "नवाब ऐसा एक्टर फिर कभी नही पैदा होगा। वह अपने रोल मे ऐसे धस जाता है, जैसे दस्ताने मे हाथ वह अपने फन का मास्टर है।"

हाफिज जी भी नवाब की तारीफ मे रत्बुलूलिसान थे। वह कहते थे कि उन्होने अपनी जिंदगी मे ऐसा अच्छा एक्टर कभी नही देखा।

खैर इन बातो को छोडिए—मैं अब एक्टर नवाब की तरफ आता हूँ।

एक फिल्म मे, जिसका उन्वान गालिबन "माया" था, मर्हूम को जेबकतरे का पार्ट दिया गया। उसने जब सारी कहानी सुनी तो यह कहकर इन्कार कर दिया "मैं यह रोल अदा नही कर सकता, इसलिए कि मैं जेबकतरा नही हूँ। मैंने आज तक किसी की जेब नही काटी" फिर वह कलकत्ते के एक वाहियात होटल मे हर रोज जाता रहा। वहाँ उसकी कई जेबकतरो और उठाइगीरो से मुलाकाते होती रही। सुना है कि उनके साथ उसने शराब भी पी, हालाँकि उसे शराब की आदत नही थी—एक हफ्ते के बाद वह मुत्मईन हो गया।

चुनांचे उसने फ़िल्म कंपनी के मालिक से कह दिया कि वह जेबकतरे का रोल अदा करने के लिए तैयार है—उसने इस दौरान में कई बदमाशों और बदकिर्दारो से दोस्ती पैदा कर ली थी और उनके तमाम ख़साइस सीख लिए थे। यही वजह है कि वह उस रोल में कामयाब रहा।

मर्हूम की ज़िंदगी यूँ बडी पाक साफ थी—उसका एक अजीज ए एम अम्माद है। उसने मुझे बताया कि नवाब बड़ा तहाग्त पसद था। शिया था। कोई काम बगैर इस्तिखारे के नहीं करता था—सुन्नी और शिया होने में क्या फर्क है, इसे जाने दीजिए। जब इन दो फिर्कों में लड़ाई झगड़े होते हैं तो इतना समझ मे आता है कि उनके दिमागो मे मज़्हबी फुतूर है।

मैं तो नवाब मर्हूम की बात कर रहा था—मैं 'मुक्ति' का वह सीन कभी नही भूल सकता, जिसमें उसने अपनी बदचलन बीवी को भुने हुए चने दिए थे। उसके बढे हुए हाथ म इतना ग़मो-अंदोह था जो चेहरा भी ज़ाहिर नही कर सकता।

'देवदास' में जब सहगल उसके मुँह पर थप्पड मारता है तो वह कुछ देर अपना चेहरा सहलाता है, जहाँ जर्ब आई है। फिर सिर्फ इतना कहता है ''तमने दीनू भाई को मारा ' अब मैं क्या कहूँ, सारे हस्सास तमाशाई लर्ज जाते हैं।

फिल्म 'जिद्दी' में उसके भतीजे की बीवी कुलदीप कौर उसके पास से गुजरती है। वह गुस्से के आलम में (अपने यार) प्राण एक्टर के साथ जा रही होती है। नवाब काश्मीरी मर्हूम इनवेलिड्ज़ चेयर मे बैठा है। वह कुलदीप कौर को जाते हुए देखता है और अजीब फलसफीयाना अंदाज मे हमकलामी करता है ''फर-से चली गई ''

मैं ज्यादा तफ्सील मे नही जाना चाहता, लेकिन आपको फिलहाल यह इत्तिला देना चाहता हूँ जो अभी तक किसी पर्चे मे शाया नहीं हुई—उसकी पहली बीवी उसके अपने वतन की थी। उस लडकी से उसकी शादी कब हुई इसके मुताल्लिक मैं कुछ नहीं जानता। उस बीवी से उसकी कोई औलाद न हुई। जब उस तरफ से नाउम्मीदी हुई तो नवाब ने इधर-उधर किसी दूसरे रिश्ते को टटोलना शुरू किया। आखिर उसने प्रिंस महर कद्र बादशाहे-अवध के बडे लडके की बेटी को निकाह मे ले लिया।

जब यह शादी हुई तो घर मे एक कोहराम मच गया। नवाब ने कोई पर्वा न की। नतीजा इसका यह हुआ कि उसकी पहली बीवी ने खुदकुशी कर ली—अब आप उस खुदकुशी का मुख्तसर हाल सुन लीजिए जब उसकी पहली बीवी को मालूम हुआ कि उसके खाविंद ने दूसरी शादी कर ली है तो उसने नौकरानी से तोशक मँगवाई। उस पर मिट्टी का तेल छिडका। इसके बाद अपने तनबदन पर भी यही तेल मला। अपने कपडों को भी उससे मानूस किया। फिर आराम से चारपाई पर लेटी, दियासलाई जलाई और खुद को आग लगा ली और मर गई—नवाब को मालूम ही नही था कि उसकी पहली बीवी कोयला बन गई है। वह अपनी दूसरी बीवी के साथ दूसरे घर मे था।

जब नवाब को मालूम हुआ कि वह मर गई है तो उसने उसकी तज्हीजो-तकफीन का इंतिजाम किया—बाद में उसे मालूम हुआ कि आखिरी वक्त वह यह वसीयत कर गई थी ''मैं अपनी दस हज़ार की इन्शोरेन्स पालिसी अपने खाविंद के नाम करती हूँ। इसके अलावा एक सौ साठ तोले सोना भी उनकी तहवील मे देती हूँ।''

नवाब सुनकर बहुत मुताज्जिब हुआ—उसे देर तक मिट्टी के तेल की बू आती रही।

मैं जब कभी सोचता हूँ तो मुझे यूँ महसूस होता है कि मैं मिट्टी का तेल हूँ, कैरोसीन हूँ, नवाब काश्मीरी हूँ—काश्मीरी मैं भी हूँ, लेकिन इतना जालिम नही, जितना कि वह था, इसलिए कि उसने सिर्फ औलाद की खातिर अपनी पहली बीवी को खुदकुशी करने पर मजबूर कर दिया।

मै भी काश्मीरी हूँ। मुझे काश्मीरियो से बहुत मुहब्बत है, लेकिन मैं ऐसे काश्मीरियो से नफ़रत करता हूँ जो अपनी बीवियो मे बुरा सुलूक करते हैं।

मैं नवाब मर्हूम के फन का काइल हू। मैं उमे बहत बडा फनकार मानता हूँ—लेकिन जब भी मैंने उमे स्क्रीन पर देखा, मुझे घामलेट यानि मिट्टी के तेल की बू आई।

खुदा करे उसे दोजख नसीब हो कि वहाँ वह ज्यादा खुश रहेगा।

पुर असरार नीना

शाहिदा, मोहसिन अब्दुल्लाह की फर्मांबरदार बीवी थी और अपने घर मे खुश थी, इसलिए कि अलीगढ़ मे मियां बीवी की मुहब्बत हुई थी, और यह मुहब्बत उन दोनो के दिलो मे एक अर्से तक बरकरार रही।

शाहिदा उस किस्म की लडकी थी जो अपने खाविद के सिवा और किसी मर्द की तरफ नजर उठाकर भी नही देखती लेकिन मोहसिन अब्दुल्लाह ऐसा नौजवान था जो मुख्तलिफ मेवे चखने का आदी थी। शाहिदा को उसकी इस आदत का इल्म नही था। वैसे वह जानती थी कि उसके खाविद की बहने बडी आजाद खयाल हैं, वह मर्दो से बडी बेबाकी से मिलती है, उनसे जिन्सियात के बारे मे गुफ्तगू करने मे भी नही झिझकती—मगर शाहिदा को उनके यह अंदाज पसद नही थे।

मोहसिन अब्दुल्लाह की एक बहन डाक्टर रशीद जहां ने तो ऐसे पर पुर्जे निकाले थे कि हद ही कर दी थी—मै उन दिनो एम ए ओ कालिज अमृतसर मे पढता था। उस कालिज मे एक नए प्रोफेसर साहबजादा महमदुज्जफर आए—यह डाक्टर रशीद जहां के खाविद थे।

मै बहुत पीछे चला गया हूँ, लेकिन वाकिआत क्योंकि अचानक मेरे दिमाग मे आ रहे है इसलिए मै मजबूर हूँ कि इस मज्मून का तसल्सुल कायम नही रह सकेगा—बहरहाल आप पढेंगे तो आप कडियां मिला सकेंगे।

प्रोफेसर साहबजादा महमदुज्जफर बडे खुशशक्ल नौजवान थे। उनके खयालात इश्तिराकी थे—उसी कालिज मे फैज अहमद फैज साहब जो बडे अफीमी किस्म के आदमी थे, पढाया करते थे। उनसे मेरे बडे अच्छे मरासिम थे।

एक हफ्ते की शाम फैज साहब ने मुझसे कहा कि वह डेरादून जा रहे है—चद चीजे उन्होने मुझे बताई कि मै खरीदकर ले आऊँ—मैने उनके हुक्म की तामील की—इसके बाद हर हफ्ते उनके हुक्म की तामील करना मेरा मामूल हो गया।

फैज साहब दर असल डेरादून मे डाक्टर रशीद जहां से मिलने जाते थे। रशीद जहां से गालिबन उनको इश्क की किस्म का कोई लगाव था—मालूम नही उस लगाव का क्या हश्र हुआ, मगर उन्होंने उन दिनो अपनी अफीमगी के बावजूद, बडी खूबसूरत गजले लिखी।

यह तमाम अकबी मनाजिर है।

मोहसिन अब्दुल्लाह को किसी दोस्त की वसातत से बबे टाकीज मे मुलाजमत मिल

गई– उन दिनो यह फिल्मी इदारा बडा वकार रखता था। इसके रूहे-रवाँ हिमाम् राय थ वह तन्जीम और अच्छी फजा के बहुत काइल थे। उनकी यही ख्वाहिश होती थी कि वह पढ-लिख लोगों को अपने स्टूडियो मे जगह दे।

मोहसिन अब्दुल्लाह को लेबारेट्री म जगह मिल गई।

हिमाम राय आजहाँनी के अहकाम के मुताबिक स्टडियो के किमी आला और मुत्वस्सित कारकुन को मलाड मे जहाँ कि यह निगार खाना था, दर रिहाइश इख्तियार करने की इजाजत नही थी। करीब-करीब सब स्टूडियो क आस-पास ही रहते थे– मोहसिन अब्दल्लाह अपनी बीवी शाहिदा के साथ, करीब ही एक छोटी-सी टूटी-फूटी कोठी मे मुकीम था।

मोहसिन लेबारेट्री मे बडी तवज्जे मे काम करता था। हिमाम् राय उससे बहुत खुश थे—मोहसिन की तन्खाह उतनी ही थी जितनी अशोक कुमार की थी, जब अशोक कुमार उस लेबारेट्री मे मुलाजिम हुआ था। यह अलग बात है कि अब अशोक कुमार एक कामयाब एक्टर बन रहा था। उन दिनो आजूरी और मुमताज भी वही थे। मिस्टर मुकर्जी जो उस वक्त साउड रिकार्डिस्ट मिस्टर वाचा के असिस्टट थे, सब खुशबाश आदमी थ।

हर साल होली के मौके पर बडा दिलकश हगामा बर्पा होता था। सब एक दूसरे पर रग फेकत, और बडी प्यारी रंग रलियाँ मचती।

पुनर मिलन' की शूटिंग शुरू हुई तो हिमाम राय ने स्नेह प्रभा प्रधान को जो खासी पढी-लिखी लडकी थी, अपने इस फिल्म के लिए हीरोइन मुन्तखब किया—उन दिनो ख्वाजा अहमद अब्बास वहाँ पब्लिसिटी का काम करते थ। मोहसिन और अब्बास दोनो इस लडकी पर आशिक हो गए, जो सिंध की रहनवाली थी और बबई मे नर्सिंग का काम मुकम्मल कर चुकी थी—मोहसिन और अब्बास दोनो चाहते थे कि प्रभा उनके जज्बात की नर्सिंग करे, मगर वह बडी तेज नशतर थी। वह दोनो को चरके लगाती थी।

यह एक लबी कहानी है, जिसे मै फिर किसी वक्त लिखूँगा[1]।

मोहसिन स्नेहा प्रभा प्रधान के इश्क मे कुछ ऐसा मुब्तला हुआ कि उसने बेतहाशा जुआ खेलना शुरू कर दिया—उसे जितनी तन्खाह मिलती, सब किमार बाजी की नजर हो जाती।

शाहिदा सख्त परेशान थी। उसको अपने घर मे हर महीने कुछ न कुछ मंगवाना पडता था। उसके एक बच्चा भी हो चुका था जो आए दिन बीमार रहता। बच्चे के इलाज पर काफी खर्च करना पडता था।

शाहिदा ने एक दिन मोहसिन से बडे शरीफाना अदाज मे कहा "मोहसिन, तुम मेरा खयाल नही करते कम अज कम अपने बच्चे का तो करो।"

वह उस पर बहुत बरसा, इसलिए कि उसके सिर पर जुए और स्नेह प्रभा प्रधान का इश्क सवार था।

1 जिंदगी ने मटो को इतनी मोहलत ही न दी कि वह यह लबी कहानी लिख सकता।

मै उन दिनो नाना भाइ इमाइ के हिंदुस्तान सिने टोन स्टूडियो मे मुलाजिम था—शौकत राम ने जो प्रभात फिल्म कंपनी मे कई शानदार फिल्म तैयार कर चुके थे, मुझे दावत दी कि मैं पूना आऊँ—कृष्ण महाफी और अफसाना नवीस वहाँ जा रहे थे। वह खैर-सगाली किस्म की दावत थी। मदऊ किए गए लोगों मे एक शख्स डब्लू जैड अहमद भी था जो गालिबन साधना बोस की टीम मे काम करता था—मुझे इतना याद है कि अहमद ने मुझसे कहा था कि वह बगाली के मुकालमे उर्दू मे तर्जुमा करता है।

हम पूना मे दो रोज रहे—इस दौरान मे मुझे अहमद के मुताल्लिक कुछ मालूम न हो सका इसलिए कि वह अपने चेहरे पर खोल चढ़ाए रखता था। उसकी हँसी, उसकी गुफ्तगू उसका हर अंदाज मस्नूई-सा दिखाई देता था। एक और बात जो मैंने नोट की थी यह थी कि वह मशहूर जर्मन यहूदी डायरेक्टर अर्नस्ट की तरह हर वक्त मुँह मे एक लंबा-सा सिगार दबाए रखता था।

इसके बाद मेरी और अहमद की मुलाकात रमा शुक्ल एक्टर के मकान पर हुई—रमा शुक्ल मेरा दोस्त था। मैं जब उसके कमरे मे दाखिल हुआ तो मैंने देखा कि एक कोने मे डब्लू जैड अहमद बैठा रमा शुक्ल की महबूब शराब रम पी रहा है।

अहमद से अलैक-सलैक हुई बड़ी रस्मी किस्म की—मैंने महसूस किया कि वह किसी से खुलकर बात करने का आदी नही—वह एक कछुआ है जो अपनी गर्दन जब चाहे अपने सख्त खाल के अंदर छुपा लेता है आप ढूँढ़ते रहे, मगर न मिले।

मैंने उससे कहा "अहमद साहब, आप कुछ बात तो कीजिए।

वह अपने मख्सूस अंदाज मे हँसा 'आप रमा शुक्ल से बाते कर रहे है क्या यह आपके लिए काफी नही हैं।"

यह जवाब सुनकर मुझे बड़ी कोफ्त हुई—मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मै किसी सियासत-दाँ से हमकलाम हूँ—सियासत से मुझे सख्त नफरत है।

अहमद से रमा शुक्ल के फ्लैट पर मुतादृदिद मर्तबा मुलाकात हुई, लेकिन वह खुलकर फिर भी न बोला—वह कोने मे कुर्सी पर बैठा रम पीता रहता। मै और रमा शुक्ल अपनी बकवास मे मशगूल रहते।

करीब-करीब दो साल गुजर गए—फिर मुझे किसी ने बताया कि डब्लू जैड अहमद कोई फिल्म कंपनी काइम कर रहे है—मुझे बड़ी हैरत हुई कि बगाली के मुकालमे तर्जमा करनेवाला शख्स कैसे फिल्म कंपनी बनाएगा, मगर उसने बना ली—पूना मे उसका नाम "शालीमार स्टूडियो' रखा गया। ईश्तिहार बाजी फौरन शुरू हो गई।

मैंने वह इश्तिहार देखे—उनमे खास जोर एक एक्ट्रेस नीना पर दिया जाता था जिसको बार-बार पुरअस्रार' कहा जाता था—मेरी समझ में नही आता था कि किसी एक्ट्रेस मे अस्रार' क्या हो सकता है, जब उसे स्क्रीन पर आना है, उसके तो सारे भेद वही खुल जाएँगे।

दो बरस तक बराबर यही पब्लिसिटी होती रही—मैंने लोगों से पूछा कि यह पुर अस्रार नीना कौन है, मगर किसी को उस नए चेहरे के मुताल्लिक इल्म नही था।

बाबूराव पटेल, एडिटर, 'फिल्म इंडिया' के साथ मुझे इत्तिफाकन काम करने का मौका

मिल गया—मैंने उससे पूछा तो उसने मुझे बताया "साला तुम कुछ जानता नहीं कैसा एडिटर बना फिरता है वह तुम मोहसिन अब्दुल्लाह को जानता है ?"

मैंने कहा, "हाँ नाम सुना है कुछ-कुछ उसके मुताल्लिक जानता हूँ।"

"नीना उसकी बीवी है अब समझा ?"

"नहीं समझा।"

"उसका नाम शाहिदा है।"

मैंने जब बाबूराव पटेल से मजीद इस्तिफसार किया तो उसने मुझे बताया कि शाहिदा, रेनुका देवी की भावज है—मैंने रेनुका देवी को बंबे टाकीज की फिल्म 'भाभी' में हीरोइन के रोल में देखा था और उसकी किरदार निगारी से बहुत मुतास्सिर हुआ था—अब मेरे दिमाग में दो भाभियाँ थीं : एक बंबे टाकीज की 'भाभी', दूसरी शाहिदा उर्फ नीना, रेनुका देवी की भाभी।

मुझे डब्लू जैड अहमद से मजीद मिलने का इत्तिफाक हुआ और मैंने सोचा वह बड़ा अंदाजा-गीर है, वह मुहिमें तय करनेवाला इन्सान है, सोवियत रूस के आमिरों की तरह कई-कई बरसों की स्कीमें बनाता है और बड़े इत्मीनान से उनके नताइज का इंतिजार करता है।

मैं बड़ा जल्दबाज हूँ, इसलिए फितरी तौर पर मुझे उससे कोई लगाव नहीं हो सकता था—मैं बड़बोला था, वह निहायत कम-गो। उसमें तसन्नो ही तसन्नो था और मैं बनावट का सख्त मुखालिफ—वह बातें करता तो मुझे ऐसा महसूस होता, कोई मशीन बोल रही है।

हाँ, मुझे इस बात का एतिराफ है कि वह जब भी बोलता, बड़ी जची तुली बात कहता, चाहे वह गलत ही क्यों न हो—वह कई जबानें बोलता था मराठी, गुजराती, उर्दू, अंग्रेजी और पंजाबी—असल में वह पंजाबी है। उसके खानदान के मुताल्लिक मुझे कुछ इल्म नहीं मगर मैं इतना जानता हूँ कि मौलाना सलाहउद्दीन अहमद, एडिटर 'अदबी दुनिया' उसके भाई हैं। उसके एक भाई रियाज अहमद भी हैं जो किसी अच्छे सरकारी ओहदे पर फाइज हैं।

यह मज्मून पढ़ने वाले मुश्किल से यकीन करेंगे कि मौलाना सलाहउद्दीन अहमद डब्लू जैड अहमद के भाई हैं, लेकिन यह हकीकत है। मुझे मालूम नहीं, दोनों भाई एक दूसरे से मिलते हैं, या कि नहीं। लेकिन दोनों में एक मुआमलत जरूर है कि खुशामद पसंद है।

बात शालीमार स्टूडियो के कियाम की हो रही थी, लेकिन मैं आपसे एक और बात अर्ज करना चाहता हूँ जो बहुत जरूरी है डब्लू जैड अहमद सिंध के मशहूर वजीरे-आजम गुलाम हुसैन हिदायत उल्लाह की लड़की से ब्याहा हुआ था। मालूम नहीं, उसका रिश्ता वहाँ कैसे हुआ। उन तफ्सीलात के मुताल्लिक मुझे कुछ मालूम नहीं।

[आज से एक माह पहले अहमद जब हाल रोड[1] पर अपने बाल कटवाने आया तो मेरी उससे मुलाकात हुई—मैं उस हज्जाम की दुकान के करीब ही रहता हूँ[2]—मैं उसको

1 हाल रोड, लाहौर। 2 लक्ष्मी मन्सनज हाल रोड लाहौर—लाहौर की खूबसूरत माल रोड के किनारे।

जबरदस्ती अपने मकान मे ले आया और उससे कहा . "मैं नीना की मुताल्लिक कुछ लिखना चाहता हूँ । क्या तुम मुझे इसकी इजाजत देते हो ?"—उसने अपने मखसूस अंदाज मे कहा "मै आपको एक दो रोज मे बताऊँगा ।" कई रोज गुजर गए । इसके बाद अहमद से मेरी मुलाकात 'डायरेक्टर' के दफ्तर मे हुई । मैंने फिर उससे पूछा कि अब इजाजत देने मे कितने रोज लगेंगे—उसके पाइप लगे होंठो पर उसकी मखसूस मुस्कराहट पैदा हुई । उसका नीम गंजा सिर जरा चमकने लगा और उसने कहा "मैं आजकल बहुत मसरूफ हूँ बस एक हफ्ते की मोहलत चाहता हूँ । —चौधरी फजले-हक साहब ('डायरेक्टर' के मालिक) और शबाब साहब ('डायरेक्टर' के मुदीर) बैठे थे । मैंने उनके सामने कहा 'बहुत बेहतर एक हफ्ता गुजरने मे क्या देर लगती है ।' —दो हफ्ते गुजर चुके और मुझे अहमद से इजाजत न मिली तो मैंने सोचा 'ऐसे तकल्लुफ की जरूरत ही क्या है हर एक्टर एक्ट्रेस लिखनेवाला और लिखनेवाली, अवाम की मिलकीयत होती है अगर तुम उनके मुताल्लिक लिखना चाहो तो बगैर इजाजत लिख सकते हो ।' यही वजह है कि मैंने यह मजमून लिखना शुरू कर दिया ।]

शालीमार स्टूडियो कायम हो गया—शाहिदा का खाविंद वहाँ की लेबारेट्री का इन्चार्ज बना दिया गया ।

अब जो कुछ मेरे इल्म मे है, आपसे बयान करता हूँ ।

शाहिदा को एक्ट्रेस बनने की कोई ख्वाहिश नही थी । वह बडी घरेलू किस्म की औरत थी । उसको किसी किस्म का हगामा पसद नही था ।

अच्छा अब आप यह भी सुन लीजिए—अहमद, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, बडा अदाजा-गीर था । उसने रूमिया की तरह एक पजमाला स्कीम बनाई और उसके मातहत काम करना शुरू कर दिया । इस दौरान मे उसने अपने मखसूस कछवेपन से काम लिया—यह बडी लबी दास्तान है । मैं इसे बयान नही करना चाहता, इसलिए कि इस मजमून मे उससे कोई ज्यादा असर पैदा नही हो सकेगा ।

मोहसिन अब्दुल्लाह, स्नेह प्रभा प्रधान के इश्क मे मसरूफ था—जब माली मुश्किलात पैदा हुई तो उसने अपनी बीवी शाहिदा से कहा 'तुम बडी बैकवर्ड हो मेरी बहनो की तरफ देखो, कितनी रौशन खयाल हैं ।"

शाहिदा ने उससे कहा 'मुझे माफ कीजिए, मैं इतनी रौशन खयाल नही हो सकती ।"

इनके दरमियान कई चखें हुई—मोहसिन चाहता था कि वह फिल्म लाइन मे दाखिल हो जाए, मगर शाहिदा को इसमे कोई दिलचस्पी ही नही थी ।

इस्मत चुगताई ने, जो 'जिद्दी', 'आरजू' और 'बुजदिल' जैसे कामयाब फिल्मो की कहानी लिख चुकी है, मेरी बीवी को बताया कि शाहिदा अलीगढ मे उसकी हमजमान रह चुकी है और बडी ऊत है, बहुत सादालोह ।

मेरी बीवी बडी हैरान हुई—उसने इस्मत से पूछा 'यह राय तुमने कैसे काइम की ?"

"मेरी सहेली है मैं उसको अच्छी तरह जानती हूँ ।'

"तुम्हारी मेरे मुताल्लिक क्या राय है ?"

इस्मत ने जवाब दिया "तुम तो निरि खरी औरत हो।"

"इसमें क्या ऐब है ?"

"कुछ भी नहीं, लेकिन तुम शाहिदा से बहुत ज़्यादा मुख़्तलिफ़ हो।

"किस लिहाज़ से ?"

"वह बेवकूफ़ है। तुम बेवकूफ़ नहीं हो, तुम अपने खाविंद को सँभालना जानती हो। उसको अपने खाविंद को सँभालना नहीं आता।

"यह तुम कैसे कहती हो ?"

"मैं तुमसे कह चुकी हूँ कि मैं उसे अच्छी तरह जानती हूँ। उसके सारे घर से वाक़िफ़ हूँ। बहुत सीधी सादी-सी लड़की थी। हम कॉलिज में उसका मज़ाक उड़ाया करते थे। वह झेंप-झेंप जाया करती थी।"

इस्मत ने मेरी बीवी को बताया कि शाहिदा को इश्क़ो-मुहब्बत के मुताल्लिक कुछ मालूम नहीं था—इस्मत को हैरत थी कि शाहिदा कैसे मोहसिन की मुहब्बत में गिरफ़्तार हो गई—इस्मत का ख़याल था कि मोहसिन कुछ ज़्यादा ही शाहिदा के पीछे पड़ गया होगा कि वह रज़ामंद हो गई, इसलिए कि वह तबीयत के लिहाज़ से बहुत नर्म थी और उसे इस बात का कोई ख़याल नहीं होता था कि आगे चलकर क्या होगा।

मोहसिन ने, जैसाकि मुझे बाद में मालूम हुआ, शाहिदा को मजबूर किया कि वह फ़िल्म एक्ट्रेस बन जाए। वह बादिले-नाख़ास्ता रज़ामंद हो गई—चुनांचे उसके नातवाँ कांधों पर शालीमार स्टूडियो तामीर कर दिया गया। डब्ल्यू जैड अहमद एक प्रोड्यूसर बन गया और उसने शाहिदा को पुर असरार नीना बना दिया। मालूम नहीं, यह नाम अहमद ने शाहिदा के लिए तजवीज़ किया था, या उसके शौहर मोहसिन ने।

अहमद ने फ़िल्म बनाने से पहले उस पुर असरार नीना की बड़ी तशहीर की। हर पर्चे में यह नाम देखने में आता। लोगों के दिलों में बड़ा इश्तियाक पैदा हो गया कि यह कौन-सी आफ़ते-जान है। चुनांचे उस फ़िल्म का बड़ी बेचैनी से इंतिज़ार किया जाने लगा—फ़िल्म का नाम 'एक रात[1]' था। मालूम नहीं, उसकी तकमील में कितनी रातें उसने काटी होंगी। बहरहाल वह बन गई।

उस फ़िल्म की कहानी मशहूर नाविल TESS[2] का चर्बा थी। उसमें शाहिदा, यानि पुर असरार नीना को गवालन का रोल दिया गया था—एक शख़्स उसकी इस्मत लूट लेता है। इसके बाद उसकी बाकाइदा शादी हो जाती है। वह बड़ी भोली-भाली है। अपने खाविंद से अपनी गुज़िश्ता ज़िंदगी के उस हादिसे को बयान कर देती है। वह उसको धुत्कार देता है।

डब्ल्यू जैड अहमद अपनी पंज साला स्कीम के मातहत शाहिदा से कुछ इस तरह मिल रहा था, जिस तरह मालोटोफ़ किसी दूसरे सफ़ीर से मिल रहा है।

शाहिदा का खाविंद मोहसिन अपनी सरगर्मियों में मशगूल था। उसके नाकाम इश्क

1-2 पुर असरार नीना की एक फ़िल्म का नाम 'एक रात' ज़रूर था, लेकिन जो फिल्म TESS की बुनियाद पर बनाई गई थी, उसका नाम 'एक रात' नहीं, 'मन की जीत' था—'मन की जीत' के गीत जोश मलीहाबादी ने लिखे थे।

का सिलसिला स्नेह प्रभा प्रधान से बदस्तूर था। शाहिदा से उसको कोई लगाव नहीं था—यह मैं उस ज़माने की बात कर रहा हूँ जब शालीमार स्टूडियो क़ाइम नहीं हुआ था।

उस ज़माने में—[मुझे अफ़सोस है कि मैं यह मज़्मून ग़ैर मुसलसल लिख रहा हूँ, लेकिन इसके सिवा और कोई चारा नहीं, इसलिए कि ख़यालात, जैसे दिमाग़ में आते हैं, मैं क़लमबंद किए जाता हूँ]—अहमद, जो मोहसिन का दोस्त बन गया था, शाहिदा को बेगम कहता। उसकी ज़रूरत से ज़्यादा ताज़ीम करता। जब वह आती तो उठ खड़ा होता और उसे तस्लीम अर्ज़ करता—अहमद ने यह रवैया सोच समझकर इख़्तियार किया था, इसलिए कि वह मोहसिन की बेपर्वाई का तक़ाबुल बनना चाहता था। वह बड़ा दक़ीक़ा शनास था। उसे मालूम था कि वह शाहिदा को एक दो बरस में नहीं, तो कम अज़ कम पांच बरसों में ज़रूर हासिल कर लेगा।

अब मैं आपसे अर्ज़ करूं कि फ़िल्मी दुनिया में अक्सरो-बेशतर हज़रात औरतों के ज़रिए से कामयाब हुए हैं। अहमद के पेशे-नज़र भी ग़ालिबन यही नुस्ख़ा था। उसने शाहिदा पर छा जाने के लिए काफ़ी वक़्त सर्फ़ किया—शाहिदा के ख़ाविंद मोहसिन अब्दुल्लाह को हर सम्त से ख़ुश करने की कोशिश की, मगर मोहसिन तबअन औबाश था।

शालीमार स्टूडियो में जब मोहसिन को लेबारेट्री इन्चार्ज बना दिया गया और उसकी माक़ूल तन्ख़्वाह मुक़र्रर कर दी गई तो उसने अपने शग़ल और ज़्यादा ज़ोर-शोर से जारी रखे। शाहिदा सबकुछ एक घरेलू औरत की मानिंद देखती रही। कभी-कभी गिला-शिक्वा करती, मगर उसके ख़ाविंद पर, जो तन आसान था, कोई असर न होता। उसको बंबे टाकीज़ की घुटी-घुटी फ़ज़ा से बाहर निकलकर शालीमार स्टूडियो में एक बहुत बड़ा मैदान मिल गया था, जिसमें वह अपने अशग़ाल में बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मसरूफ़ रह सकता था।

शाहिदा गो एक्ट्रेस बन गई थी और उसे उस रवायत का रोल अदा करना था जिसकी इस्मत लुटी जाती थी, लेकिन उसे अपने शौहर से प्यार था। वह चाहती थी कि फ़िल्मी दुनिया से निकलकर घरेलू दुनिया में चली जाए। उसे पुर असार नीना कहलाना पसंद नहीं था।

जब उसके मुताल्लिक़ इश्तहारबाज़ी होते दो बरस हो गए तो उसके नन्हे-से घरौंदे में, जिसको दिल कहते हैं, अजीब-अजीब-सी धड़कनें पैदा होने लगीं जिनसे पहले वह ना आशना थी।

उसके सामने जो तक़ाबुल अहमद ने पेश किया, वह उस के मुताल्लिक़ सोचने लगी—अहमद आदाब का मुजस्समा था। इसके ख़िलाफ़ मोहसिन बहुत तक्लीफ़ देह क़िस्म का बेअदब। वह उससे बहुत बुरा सुलूक करता—इसके अलावा शाहिदा को सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि मोहसिन स्टूडियो में दूसरी औरतों से इश्क़ लड़ाता फिरता था।

अहमद ने मोहसिन को जिस ओहदे पर मुक़र्रर किया था, मोहसिन उसे उसकी इस्कीम के मुताबिक़ संभाल न सका। अहमद ने मोहसिन को कभी टोका नहीं था कि वह जुआ क्यों

खेलता है, रेस में रुपया क्यों हारता है, स्टूडियो की नर्तकियों में क्यों दिलचस्पी लेता है। वह तो चाहता था कि मोहसिन बरी तरह उन खराबियों में गिरफ्तार हो जाए, इसलिए कि वह खुद एक बहुत बड़ी खराबी के दरपे था।

अहमद की स्कीम में, जो कुछ था, वह तो जाहिर है, लेकिन भोली-भाली शाहिदा उसे न समझ सकी। वह अपने दिल की अजीबो-गरीब धड़कनों को भी नहीं समझती थी—वह मेकअप करती, आइने में अपनी शक्ल देखती और शरमा जाती। उसे यूँ महसूस होता कि वह गाल्जवर्दी[1] के नाविल TESS की गवालन है जिसकी इस्मत लूटी जानेवाली है।

शाहिदा ने जब फिल्म में अपना रोल अदा करना शुरू किया तो उसका हिजाब किसी कद्र दूर हो गया—मोहसिन उसी कद्र उससे दूर होता गया। वह यूँ महसूस करने लगी कि उसके कच्चे मटके तड़ख रहे हैं। वह नहीं चाहती थी कि यह कीमती मटके टूटें, लेकिन अहमद ने उनकी तरेड़ों को यकीन दिलाया कि वह खुद बखुद ठीक हो जाएँगी।

तरेड़ें आहिस्ता-आहिस्ता ठीक होने लगीं, इसलिए कि अहमद ऐसे मामलों में बड़ा माहिर कारीगर है। उसने उनमें अपनी सियासत का सीमेंट भरना शुरू कर दिया—इसके साथ-साथ वह मोहसिन को भी चूना लगाता रहा था।

अहमद बड़ा अच्छा मैमार है। उसने अपना काम बहुत आहिस्ता, मगर बड़ी सफाई से किया। आखिर वह मोहसिन की ईंट को अपनी होनेवाली इमारत से निकालने में कामयाब हो गया।

उसने इस दौरान में शाहिदा को यकीन दिला दिया था कि उसका शौहर मोहसिन एक औबाश और नाकारा आदमी है और कि उसने मोहसिन को महज इसलिए अपने कारोबार में शरीक किया था कि उसकी आदात सुधर जाएँगी, मगर वह इस काबिल साबित न हुआ।

शाहिदा यह सब बातें सुनती रही और उसको यकीन-सा आने लगा कि शायद यह दुरुस्त है।

लबारेट्री का काम बहुत सुस्त रफ्तार था। खुद अहमद भी च्यूँटी की चाल चलने का आदी है—एक दिन उसने मोहसिन से बड़ी नर्मी से कहा, "देखिए, आपसे काम नहीं होता, शायद इसलिए कि आप इसे अपने रुत्बे के मुताबिक नहीं समझते। मैं लबारेट्री किसी और के हवाले कर देता हूँ। जो तनख्वाह आपकी मुकर्रर की गई थी, बराबर आपको मिलती रहेगी।"

मोहसिन पहले तो सख्त पेश में आ गया, लेकिन उसकी यह आग फौरन अहमद ने बुझा दी, इसलिए कि वह बड़ा अच्छा फायर ब्रिगेड है—चुनांचे शाहिदा का खाविंद मुलाजमत से अलहदा हो गया और उसे पेंशन मिलने लगी।

मैं मोहसिन को अच्छी तरह जानता हूँ। वह बयक वक्त जकि-उल्हिस और बेहिस है। उस वक्त शायद उस पर बेहिसी तारी थी कि उसने अहमद का यह फैसला कुबूल कर लिया।

1. TESS गाल्जवर्दी का नहीं, थामस हार्डी का नाविल है। — संपादक

मोहसिन को इस बात का कत्अन इल्म नहीं था कि उसकी बीवी, जिससे वह गफ़लत बरत रहा है और जिसको उसने मजबूर किया है कि वह उसकी बहनों की तरह आजाद हो, की माँग में कोई और होले-होले नया सिंदूर डाल रहा है। वह क़त्अन गाफ़िल था—उसको दरअसल अपनी बीवी से ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी। उसको तो बंबई और पूना के घोड़ों, ताश के पत्तों और पूने के काश्टों से शगफ़ था।

फ़िल्म बन रहा था। शाहिदा, गवालन बनी, पर अख़्तर नीना के नाम से उसमें काम करने मे दिन रात मसरूफ़ थी और अहमद, डायरेक्टर की हैसीयत से, उसको ऐसी डायरेक्शन दे रहा था जो उसके मक़सद को पूरा कर सके।

मोहसिन अब्दुल्लाह काफ़ी वजीह मर्द है। लमतड़ंग, मजबूत जिस्म, तालीम याफ्ता मगर ज़रूरत से ज्यादा रौशन ख़याल—उसने शालीमार स्टूडियो से अलाहिदगी इख़्तियार कर ली और अपनी बीवी की मुफारक़त के मुताल्लिक़, जिससे उसने इश्क़ के मातहत शादी की थी, कुछ ज़्यादा ख़याल न किया। उसे शाहिदा पर कामिल एतिबार था, लेकिन इसके बावजूद उसे उसकी कोई पर्वा भी नहीं थी। वह अब आज़ाद था और उस आज़ादी से फ़ाइदा उठाना चाहता था।

डब्ल्यू ज़ैड अहमद बड़ा वजादार आदमी है। वह अपने अम्ले के दूसरे आदमियों को चाहे वक़्त पर तन्ख़ाह न दे सकता, मगर मोहसिन की पेंशन मुकर्ररा वक्त पर ज़रूर अदा कर देता। यह अहमद के कैरेक्टर का एक ख़ास पहलू है। वह छिछोरा या कमीना नहीं। उसमे एक आला ख़ानदान के फ़र्द की तमाम ख़ुसूसियात मौजूद हैं। लेकिन सूए इत्तिफ़ाक़ से वह चूँकि फिल्मी दुनिया में दाख़िल हो चुका था और कि उसकी तबीयत सरासर सियासी थी, इसलिए उसे उस माहौल के मुताबिक़ ख़ुद को ढालना पड़ा—उसके पास कोई सर्माया नहीं था, लेकिन उसने लाखों रुपए समेटे। उनको उसने किसी अय्याशी में तबाह नहीं किया। दरअसल वह बड़ा महल-निगार और सुस्त रफ्तार है। इसके अलावा ख़ुशामद पसंद भी। वह बड़े छोटे पैमाने पर एक मुग़ल बादशाह है जो अपने इर्द-गिर्द शाइरों, भांडों और इसी क़िस्म के दूसरे लोगों का जमघटा लगाए रखता है।

उसके हाँ सागर निज़ामी, जोश मलीहाबादी, जाँ निसार अख़्तर, कृष्ण चंद्र एम ए और भरत व्यास मुलाज़िम थे। इनके अलावा डॉक्टर अब्दुल्लाह चुगताइ और मेरा भांजा मसूद परवेज़ भी थे—यह सब अहमद के मकान के एक कमरे में बैठते। कहानी के मुकालमों पर बड़ी गर्मा-गर्म बहसें होतीं। सारी रात गुज़र जाती और कोई फ़ैसला न होता, इसलिए कि दरबारी माहौल होता था। कोई बात शुरू हुई तो जोश मलीहाबादी ने मौक़ा-महल के मुताबिक अशआर सुनाना शुरू कर दिए। वाह-वा हो रही है। मसूद परवेज़ ने, जिसका दिमाग़ उस ज़माने में हाज़िर था, फ़ौरन उसी ज़मीन में चंद शेर खोद डाले। साग़र निज़ामी को ताव आया तो उसने एक लंबी नज़्म तरन्नुम में पढ़ दी। कृष्ण चंदर उल्लू बना बैठा रहता। अफ़्साना निगार था। उसको शेरों से भला क्या वास्ता।

उन निशस्तों मे काम बहुत कम होता, बातें बहुत ज़्यादा होतीं—भरत व्यास को यह अहसाते-कमतरी था कि वह उर्दू जबान नहीं जानता, इसलिए वह अपनी संस्कृत आमेज

हिंदी बघारना शुरू कर देता।

कभी-कभी अहमद जब कोई मौजूँ फिक्रा बोलता तो जोश मलीहाबादी अश-अश करता और कहता "अहमद साहब, आप तो शाइर हैं।" बस अहमद उस वक्त अपना काम भूल जाता और शेर फिक्र करने लगता। महफिल बरखास्त कर दी जाती और अहमद सारी रात गजल की तकमील मे मसरूफ रहता—मेरा खयाल है, आज तक एक गजल भी मुकम्मल नही हुई।

यह सब लोग अहमद के खुशामदी थे—जोश मलीहाबादी को हर शाम रम का अद्धा मिल जाता—शुरू-शुरू मे शालीमार स्टूडियो मे चद महीनो तक बाकाइदा तन्खाहे मिलती रही। इसके बाद बेकाइदगी शुरू हो गई—अम्ले के आदमी सिर्फ एडवास लेते थे।

वहाँ की फजा अजीबो-गरीब थी। डायरेक्टर एक था मगर उसके असिस्टेट दस बारह के करीब थे, असिस्टेट के असिस्टेट और दर असिस्टेट। मालूम नही। यह लोग गुजारा कैसे करते थे, इसलिए कि तन्खाह तो वक्त पर मिलती ही नही थी।

बहरहाल यह अहमद का मोजिजा है कि उसने शालीमार स्टूडियो का भ्रम किसी न किसी तरह काइम रखा हुआ था। वह बडा काइयाँ इन्सान है। उसको मुश्किल से मुश्किल वक्त भी परेशान नही कर सकता—वह बडे इत्मीनान से चादी की डिबिया मे से पान निकालेगा, बटवे मे से छालियाँ और तबाकू निकालकर कल्ले मे दबाएगा और मुस्कराना शुरू कर देगा।

अहमद मे वह तमाम खुसूसियात मौजूद हैं जो किसी पुरकार सियासत दॉ मे हो सकती हैं। उसने इस सियासत की बदौलत शालीमार स्टडियो बनाया और आहिस्ता-आहिस्ता अपना रस्ता माप कर शाहिदा पर कब्जा कर लिया।

मेरी समझ मे नही आता कि अहमद को शाहिदा मे ऐसी क्या कशिश दिखाई दी कि उसने शाहिदा के सपाट जिस्म पर एक निगार खाना तामीर कर दिया। शाहिदा ऐसी औरत ही नही थी जो एक्ट्रेस बनने के काबिल हो, मगर शायद अहमद को उस वक्त कोई और लडकी मुयस्सर नही थी, या आसानी से हाथ नही लग सकती थी कि उसने अपने दोस्त मोहसिन की बीवी से फाइदा उठाने की कोशिश की, और बाद मे उसके घरेलूपन से इतना मुतास्सिर हुआ कि उसकी मुहब्बत मे गिरफ्तार हो गया—लेकिन यह अम्र भी मुश्तबह है। हो सकता है, अहमद को शाहिदा मे मुहब्बत न हुई हो और महज़ अपने मफाद की खातिर वह लगातार शाहिदा पर अपनी शराफत का बोझ डालता रहा हो और शाहिदा अपने खाविंद मोहसिन को भूलती गई हो। मगर यह नजरिया भी दुरुस्त नही, क्योकि मझे मालम है कि तलाक होने तक वह अपने शौहर से जुदा होना पसद नही करती थी—मैं इसके मुताल्लिक आगे चलकर कुछ अर्ज करूँगा। लेकिन मेरी समझ मे यह बात नही आती कि शाहिदा, अहमद के साथ क्यो रहती थी। ठहरिए, मैं भूल गया। शरू-शरू मे दोनो अलग-अलग रहते थे, लेकिन बाद मे एक ही कोठी मे रहने लगे।

जाने कौन-सा सन था। मैं फिल्मिस्तान मे मुलाजिम था। एस मुकर्जी वहाँ के प्रोडक्शन कट्रोलर थे। उन्होने एक रोज मुझसे कहा "तुम कहानी क्यो नही लिखते ?"

मैंने, चुनांचे, पाँच दिन मे चार कहानियाँ लिखीं। मुकर्जी साहब ने मुझसे कहा. "मुझे सुनाओ।" मैंने साफ इन्कार कर दिया और चारों कहानियाँ अपने भांजे मसूद परवेज को भेज दीं जो शालीमार स्टूडियो में मुलाजिम था।

पहली कहानी 'कंट्रोलिस्तान' थी—मुझे चौथे रोज मसूद परवेज का तार मिला "तुम्हारी यह कहानी बहुत पसद की गई है। बेहतर है कि तुम पूना चले आओ ताकि अहमद साहब से जुम्ला मामलात तय हो जाएँ।"

मैं पूना गया—अब यह एक लबी हिकायत है कि मैं वहाँ किस तरह पहुँचा और मैंने शालीमार स्टूडियो मे क्या कुछ देखा। सिर्फ एक दिलचस्प बात बताए देता हूँ · सबसे पहले मैं स्टूडियो की मूत्री मे गया, क्योंकि मूत्री ही ऐसी जगह है जहाँ से मुताल्लिका फजा के अक्सरो-बेशतर हालात मालूम हो जाया करते हैं—मैं जब अदर दाखिल हुआ तो सामने दीवार पर उर्दू जबान मे यह जुम्ला लिखा दिखाई दिया "और तो सब ठीक है, पर यहाँ पगार यानि तन्खाह नही मिलती।" मैं बडा बद दिल हुआ। मैंने सोचा कि वापस चला जाऊँ, लेकिन मसूद परवेज ने मजबूर किया कि अहमद से मिल लो।

शाम को अहमद से मुलाकात हुई।

अहमद दफ्तर मे, यह बडा सिगार सुलगाए अपनी कुर्सी पर बैठा था—एक तरफ शाहिदा थी दूसरी तरफ जोश मलीहाबादी।

जोश से अलैक सलैक हुई। उसके पास अनखुला रम का अद्धा था जो गालिबन अहमद ने एहतिरामन मँगवाकर दिया था—अहमद से मैंने पजाबी मे गुफ्तगू शुरू की, लेकिन फौरन मुझे एहसास हुआ कि पास जोश और शाहिदा बैठे हैं जो पजाबी जबान नही समझते। इसलिए मैंने उर्दू मे बात-चीत शुरू कर दी।

मैंने जब अहमद को प्रभात फिल्म कपनी मे देखा था तो वह तरो-ताजा नौजवान था, पर अब उसमे बडी तबदीलियाँ पैदा हो गई थी। ऐसा लगता था कि वह लू चलने के बाइस झुलस-सा गया है।

उसने मुझसे अपने मखसूस रस्मी अदाज मे मुसाफह किया था और शाहिदा उर्फ पर असार नीना से भी मुतारिफ किया था, क्योंकि वह उस वक्त वही दफ्तर मे मौजूद थी।

शाहिदा की शक्लो-सूरत मे कोई ऐसी बात नही थी जिसमे कोई असार पोशीदा हो। मामूली खदो-खाल की औरत थी—मैंने जब उसे पहली मर्तबा अहमद के दफ्तर मे देखा तो मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वह आबी रँगो की ऐसी तस्वीर है जो बारिश मे छत टपकने के बाइस अपने रँग खो चुकी है—उसमे एक्ट्रेसो की एक्ट्रेसियत नही थी।

वह खामोश एक कुर्सी पर बैठी थी—उसको मालूम था कि मै कौन हूँ, और वह यह भी जानती थी कि मैं उसके शौहर मोहसिन अब्दुल्लाह को अच्छी तरह जानता हूँ।

थोडी देर जोश मलीहाबादी से गुफ्तगू होती रही। वह अपना शाम का कोटा, यानि रम का अद्धा हाथ मे थामे बैठा था, और अहमद मशहूर जर्मन यहूदी फिल्म डायरेक्टर अरनस्ट की नकल उतार रहा था, मेरा मतलब है कि एक लबा सिगार होठो मे दबाए बैठा था।

मै वहाँ एक कहानी बेचने के सिलसिले मे गया था। उसके मुताल्लिक तो उस दिन कोई

बात न हो सकी, हाँ मैंने शाहिदा उर्फ पुर असार नीना को देख लिया।

यहाँ मैं एक और बात अर्ज करना चाहता हूँ—फिल्मिस्तान में मैंने मोहसिन अब्दुल्लाह को भी मुलाजिम रखवाया था। उसकी हालत बहुत पतली थी। एक दिन मैंने प्रोडक्शन कंट्रोलर मिस्टर मुकर्जी से कहा "मोहसिन बंबे टाकीज के जमाने में आपका दोस्त रह चुका है आपको शरम आनी चाहिए कि वह गरीब कसमपुर्सी की हालत में जिंदगी बसर कर रहा है।"

मुकर्जी ने दूसरे रोज ही मोहसिन को बुलाया। आपस में दोस्ताना गुफ्तगू हुई। इसके बाद मुकर्जी ने दोस्ताना तौर पर मोहसिन से कहा कि वह फिल्मस्तान में क्यों नहीं आ जाता—मोहसिन राजी हो गया और उसकी तन्खाह चार सौ रुपए माहवार मुकर्रर हो गई।

मोहसिन अब्दुल्लाह बड़ा कमचोर है। उसको काम करने की आदत ही नहीं है—मेरा खयाल है कि वह चाहता है कि दूसरा उसके लिए कमाए और वह खाए।

उन दिनों फिल्मिस्तान में फिल्म 'आठ दिन' बन रहा था जिसकी कहानी मेरी लिखी हुई थी। 'आठ दिन' का मंजूर नामा जब मैं लिखने लगा तो मोहसिन ने मुझ पर बड़े अहसान किए। मुझे कई मशवरे दिए, जो फिल्मी नुक्ता-ए-नजर से बिलकुल गलत थे। मैंने उन्हें नजरअंदाज कर दिया।

इस दौरान में वह मुझे बता चुका था कि उसको शाहिदा की मुहब्बत अब भी सताती है, हालाँकि मैं जानता था कि वह एक लड़की से, जो औरत बन चुकी थी, और जिस का नाम वीरा था और जिसे हमने 'आठ दिन' की हीरोइन मुंतखब किया था, अपना टाँका मिला रहा है।

शुरू-शुरू में मोहसिन सैकिंड क्लास में सफर किया करता था—बर्की ट्रेन में तीन दर्जे होते हैं। थर्ड, सैकिंड और फर्स्ट—फिल्मिस्तान शहर से काफी दूर था, गालिबन उन्नीस मील। यह मुसाफत तय करने में कम से कम पौन घंटा लगता था—जब राय बहादुर चुन्नी लाल ने फिल्म 'आठ दिन' के लिए वीरा के साथ कंट्रेक्ट किया तो मोहसिन ने फर्स्ट क्लास में आना जाना शुरू कर दिया।

मेरा खयाल है कि अब इस सिलसिलाए-खयाल को यहीं बंद कर देना चाहिए और असल मौजू की तरफ आना चाहिए।

मैं अहमद के दफ्तर में बैठा एक अबुल-हौल को देख रहा था। उसके साथ शाहिदा उर्फ पुर असार नीना बैठी थी, लेकिन मेरे नजदीक उन दोनों में कोई पुरानी 'मिस्रियत' नहीं थी।

यूँ तो शाहिदा मेरे लिए बिलकुल अजनबी और नई थी, लेकिन इसके बावजूद मैं यह समझता था कि मैं उस को उसकी पैदाइश से जानता हूँ। जैसाकि मैं इससे पेशतर अर्ज कर चुका हूँ, वह बड़ी घरेलू क़िस्म की औरत है या दिखाई देती है।

मेरे दिलो-दिमाग में बेशुमार खयालात थे, इसलिए कि मैं मोहसिन अब्दुल्लाह का दोस्त बन गया था। उसने मुझसे अपनी जिंदगी के वाकिआत कुछ इस अंदाज़ में बताए थे

1 अगर सदा जैसे सादा-लाह दो चार और हों तो क्या होना भला! — संपादक

कि मैं एक सादा-लोह[1] होने की वजह से मुतास्सिर हुआ था। उसने मुझसे कहा था कि उसकी बीवी शाहिदा को उससे बतद्रीज छीना गया है—मुझे हैरत होती है कि एक ख़ाविंद से उसकी मौजूदगी में उसकी बीवी को बतद्रीज या नातद्रीज कैसे छीना जा सकता है—असल में मोहसिन शाहिदा से गाफ़िल था और स्नेह प्रभा प्रधान के इश्क़ में मुब्तला था। इसके अलावा उसको जूएबाज़ी का भी शौक़ था। फ़्लश खेलता और अक्सर हारता—उसको अपनी बीवी से हमेशा यह गिला रहता कि वह उसी बहनों की तरह आज़ाद ख़याल नहीं है। वह ग़रीब फ़िल्मी माहौल से क़त्अन आशना होना नहीं चाहती थी। वह दिल ही दिल में कुढ़ती थी कि उसका ख़ाविंद, जो फ़िल्म लेबारेट्री में काम करता है, क्यों उसे मजबूर कर रहा है कि वह फ़िल्म एक्ट्रेस बन जाए—इसमें कोई शक नहीं कि शाहिदा एक ऊंचे, रौशन ख़याल और बेबाक ख़ानदान की फ़र्द थी, लेकिन इसके वावजूद उसमें हिजाब बदर्जा-अतम मौजूद था। उसने शुरू-शुरू में अपने ख़ाविंद मोहसिन अब्दुल्लाह से शिकायत की कि वह क्यों एक एक्ट्रेस से इश्क़ लडा रहा है, क्यों जुआ खेलता है और बेकार रुपया ज़ाया करता है, मगर मोहसिन अब्दुल्लाह ने अपनी बीवी की कोई बात न सुनी—डब्लू जैड अहमद उनके घर बदस्तूर आता रहा। वह शाहिदा का इतना एहतिराम करता था कि वह समझती थी कि वह उस एहतिराम के क़ाबिल नहीं। उसको आहिस्ता-आहिस्ता यह महसूस होने लगा कि अहमद, जिसके साथ डब्लू जैड चिपका हुआ है,कोई ऐसा मर्द है जो मोहसिन के मुक़ाबले में उस पर ज्यादा जिन्सी अहसान कर सकता है—मोहसिन, मिस प्रधान के चक्कर में पडा था। मैं आपको यहाँ बता दूँ कि मिस प्रधान बड़ी क़ब्ज़ा-गीर औरत है और मोहसिन जो अपनी बीवी को करीब-करीब छोड़ चुका था, वह उसके बारे में क्या राय काइम कर सकती थी। जाहिर है कि उनके रूमान का अन्जाम नाकाम रहा।

माफ़ कीजिएगा, मैं बहक गया और बातों-बातों मे खुदा मालूम कहाँ पहुँच गया। वैसे आपसे अर्ज यह करना था कि अहमद के दफ्तर मे जब शाहिदा से मेरी मुलाकात हुई तो मैं हस्बे-मामूल पिए था, और जब मैं पिए होता हूँ तो मुझे तकल्लुफ़ बरतना नही आता—चुनांचे मैंने शाहिदा उर्फ़ पुर असार नीना से कहा : "आपका असार तो मैं नही जानता, इसलिए कि वह तो डब्लू जैड अहमद के पास महफूज है मैं इतना जानता हूँ कि आपने अपने शौहर के साथ धोका किया है।"

यह सुनकर डब्लू जैड अहमद ने मेरी तरफ़ देखा और यह माज़रत करके कि उसे किसी से बाहर मिलना है, चला गया और साथ जोश मलीहाबादी को भी ले गया। ऐसे मामलो मे डब्लू ज़ैड अहमद का कोई जवाब नहीं। वह हर रम्ज़ और हर किनाया पहचानता है। यही वजह है कि वह अपनी पंज साला स्कीम के मातहत शाहिदा को हासिल करने मे कामयाब हो गया. जिसको उसने पुर असार नीना बना दिया। असल में असार सारा अहमद का है, जिसने शाहिदा को एक लोटन कबूतरी बनाकर रख दिया है जो सिर्फ उसी के घर मे अंडे देती है—एक अंडा उसने मोहसिन के घर में भी दिया था, जिसका चूज़ा मेहत-मद नही था। यह डब्लू ज़ैड अहमद की कारीगरी है, या आप इसे कोई और नाम दे दीजिए कि वह अब तक उसे पालता-पोसता है।

मैंने अहमद के चले जाने के बाद शाहिदा से सिलसिला-ए-गुफ़्तगू का आग़ाज़ किया—मैंने उसे कहा कि मोहसिन उसकी याद में अक्सर आँसू बहाता है।

यह सुनकर उसके मुरझाए हुए होटों पर एक अजीब-सी तन्ज़िया मुस्कराहट नुमुदार हुई : "मंटो साहब, आप उस शख़्स को नहीं जानते। उसका हर आँसू, अंग्रेज़ी के मुहावरे के मुताबिक़, मगरमच्छ का आँसू होता है। वह आँसू नहीं बहाता, बल्कि आँसू उसको बहाते हैं।"

शाहिदा का जुम्ला मेरी समझ में न आया। बहरहाल उसकी बेअसार संजीदगी ने यह ज़ाहिर किया कि जो कुछ उसने कहा है, उसमें दरोग़ की गुंजाइश नहीं हो सकती।

उन दिनों 'मीरा बाई' की तैयारियाँ हो रही थीं। इसके अलावा 'कृष्ण भगवान' के लिए अहमद ने हस्बे-दस्तूर पंज साला इस्कीम के मातहत भारतभूषण को कृष्ण भगवान का पार्ट अदा करने के लिए ज़ेरे-मुअहिदा कर रखा था। भारत भूषण को हर रोज़ बाक़ाइदगी के साथ मक्खन और दूसरी ताक़तवर ग़िज़ाएँ खिलाई जाती थीं कि वह बहुत दुबला था और इस क़ाबिल नहीं था कि मक्खन चोर बन सके।

भारत भूषण को मक्खन खिलाने के साथ-साथ अहमद, शाहिदा के असार में इज़ाफ़ा करता गया, जो उसके प्रोग्राम के ऐन मुताबिक़ था।

अब मैं अहमद की सुनहरे जलवे की ब्याही बीवी की तरफ़ आता हूँ जिसका नाम सफ़ीया है, ग़ुलाम हुसैन हिदायतउल्लाह मर्हूम, वजीरे-आज़म सिंध की दुख़्तरे-नेक अख़्तर।

ज़ाहिर है कि जब ख़ाविंद किसी दूसरी औरत के साथ मसरूफ़ होगा तो उसकी अपनी औरत, जो रौशन ख़याल और आज़ाद हो, यक़ीनन किसी न किसी से राबिता पैदा कर लेगी। चुनांचे यही हुआ—मशहूर कम्युनिस्ट लीडर सिब्ते हसन से सफ़ीया का मुआशक़ा हो गया।

[मुझे इस रूमान के मुताल्लिक़ पूरी मालूमात हासिल नहीं थी, इसलिए मैंने सिब्ते हसन से यहाँ लाहौर में कई मुलाकातें कीं, लेकिन उससे खुलकर बात न कर सका। हर रोज यही सोचता कि दूसरे रोज जब वह आएगा, जब मैं उससे मिलूँगा तो अहमद की बीवी के बारे में दरयाफ़्त करूँगा कि यह सिलसिला कैसे हुआ—मैंने सुना था कि सफ़ीया, जो काफ़ी पढ़ी-लिखी औरत है, अमरीका किसी इल्मी कांफ्रेंस में शिरकत की ग़र्ज़ से गई थी। सिब्ते हसन भी उसके पीछे-पीछे गया और उन दोनों की शादी हो गई—मैं चाहता था, कि यह मज़्मून भरपूर तौर पर मुकम्मल हो और किसी लिहाज़ से भी तश्ना न रहे, लेकिन अचानक हुकूमत की मशीनरी हरकत में आई और सिब्ते हसन गिरफ़्तार कर लिया गया, इसलिए कि वह कम्युनिस्ट है—उसकी पहली गिरफ़्तारी से एक शाम पहले जब उससे मुलाक़ात हुई तो वह अपने पाइप में जहाँ क्र गर्द भरा तंबाकू पी रहा था। मेरी ख़्वाहिश थी कि उससे कुरेद-कुरेद कर अहमद की साबिक़ा बीवी सफ़ीया के मुताल्लिक़ पूछूँ कि उससे उसका मुआशक़ा कैसे हुआ और अब वह कहाँ है—अहमद और सिब्ते हसन में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। अहमद सियासी आदमी है, सिब्ते हसन उसके बरअक्स जज़्बाती। सिब्ते हसन को पंज साला इस्कीमें पसंद नहीं। वह चाहता है कि जो काम हो, फ़टाफ़ट हो। यूँ देखने में

बड़ा तीखा है वह, लेकिन अदरूनी तौर पर बहुत मुलायम है—दूसरी गिरफ्तारी से चद रोज पहले वह मेरे यहाँ आया। मुसीबत यह थी कि मेरे और कई मुलाकाती मौजूद थे और मैं उनकी मौजूदगी मे सिब्ते हसन से खुलकर बाते नही कर सकता था। बातो-बातो मे उससे मैंने पूछा "कहो, अब तुम कब जेल जाओगे।" सिब्ते हसन ने पाइप का एक कश लगाया और मुस्कराकर कहा "चद दिनो मे।" और वाकई वह पद्रह बीस रोज के बाद जेल मे दाखिल कर दिया गया—और अहमद की साबिका बीवी की बात फिर रह गई।]

मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गया, लेकिन क्या करूँ, यह मौजू ही ऐसा है, जो हजार पहलू है।

शाहिदा का शौहर मोहसिन अब्दुल्लाह एक बड़ी खतरनाक लड़की स्नेह प्रभा प्रधान से इश्क फर्मा रहा था, मोहसिन की बीवी शाहिदा पर डब्लू जैड अहमद बड़े सलीके से अपनी इस्कीम के मातहत आहिस्ता-आहिस्ता डोरे डाल रहा था, इधर-उधर और बहुत कुछ हो रहा था—कोई मिसिज नूरानी थी जो अहमद की रिश्तेदार थी। उसके साथ एक पजाबी लौंडा इश्क लड़ा रहा था। मैने कई मर्तबा इस पजाबी लौंडे को मिसिज नूरानी के घर मे, जो फोरजट स्ट्रीट पर था, देखा। पजाबी लौडा भी अजीबो-गरीब था। मालूम नही, उसे कोई आरजा था या नही, लेकिन जाहिर वह यही करता कि उसको दिल के दौरे पड़ते हैं। मिस्टर नूरानी खामोश कुर्सी पर सिगार सुलगाए बैठे रहते और मिसिज नूरानी पजाबी लौंडे को अपने हाथ से खाना खिलाती रहती। कभी-कभी बोसोकनार भी हो जाता, मगर मिस्टर नूरानी के सिगार की राख वैसी की वैसी उस पर साबुत व सालिम रहती।

अजीब सिलसिला था—मोहसिन अब्दुल्लाह, स्नेह प्रभा प्रधान के इश्क के चक्कर मे था, उसकी बीवी पर अहमद अपना सिक्का जमा रहा था, उधर अहमद की बीवी सफीया, सिब्ते हसन से रूमान लड़ा रही थी, और उनके जानने पहचानेवालो मे भी इसी किस्म का सिलसिला जारी था—मैंने जब यह सबकुछ देखा तो बखुदा चक्रा गया कि यह क्या हो रहा है। मियाँ यहाँ बैठे है और बीवी किसी गैर मर्द से चूमा-चाटी कर रही है। एक शौहर अपनी मेहरे जलव की ब्याही बीवी को छोड़कर किसी एक्ट्रेस के पीछे मारा-मारा फिर रहा है—मेरा खयाल है, दुनिया मे ऐसे वाकिआत की कमी नही। औरते और मर्द हमेशा ऐसे ही सिलसिले करते आए हैं—एक बात यह भी है कि अगर कोई मर्द अपनी बीवी से बेएतिनाई बरते और किसी और औरत के इश्क मे गिरफ्तार हो जाए तो उसका नतीजा जाहिर है। हजारो मे सिर्फ चद औरते ऐसी निकलेगी जो किसी और मर्द से नाता न जोड़े।

पूना मे अहमद और शाहिदा इकट्ठे रहते थे। एक बगला था, बहुत अच्छा। लेकिन अहमद उसमे कभी कभार आता। बेगम साहिबा की मिजाज पुर्सी करता और चला जाता—आहिस्ता-आहिस्ता उसने वहाँ मुस्तकिल तौर पर कियाम कर लिया। अब वह दोनो एक साथ सुबह को नाश्ता करते, दोपहर को लच खाते और रात को डिनर पर भी एक साथ होते—स्टूडियो मे खैर उनका एक-एक लम्हा एक दूसरे के साथ गुजरता। अजीब बात है कि इस दौरान मे अहमद ने कोई ऐसी हरकत न की, जिससे यह जाहिर हो कि वह शाहिदा को अपने कब्जे मे लाना चाहता है।

शाहिदा के खाविद मोहसिन अब्दुल्लाह को तो अहमद अपनी हिक्मते-अमली के

जरिए से अपने स्टूडियो से यूँ निकाल चुका था, जैसे मक्खन से बाल—मोहसिन बंबई में सड़कों पर पैदल चलता था। एक ज़माना वह भी था कि वह अपनी बीवी की वजह से बंबई से पूना कार में आया था, पर अब उसे कोई लिफ़्ट देनेवाला नहीं था।

मैं एक रोज़ टैक्सी पर लेमिंगटन रोड से गुज़र रहा था कि मोहसिन मुझे नजर आया—मैंने टैक्सी रुकवाई और उसकी ख़ैर-ख़ैरियत पूछी : "सुनाइए मोहसिन साहब, आप कहाँ होते हैं आजकल ?"

उसके चौड़े-चकले चेहरे पर मुस्कराहट, अजीब किस्म की मुस्कराहट पैदा हुई "आज कल मेरा काम सड़कें नापना है।"

मैंने अज-राहे-मज़ाक़ उससे पूछा : "लेमिंगटन रोड की लंबाई और चौडाई कितनी है ?"

उसने भी मेरे ही अंदाज़ में जवाब दिया : "आप जितनी लंबी, मुझ ऐसी चौड़ी।"

मैंने उससे कहा : "आओ, टैक्सी में बैठ जाओ। जहाँ तुम्हें जाना है, वहीं छोड़ दूँगा।" मगर उसने मेरी यह दावत कुबूल न की। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वह बहुत मुज़्तरिब है—उस इज़्तिराब की वुजूह कई थी। एक तो यह कि वह अपनी बीवी को करीब-करीब खो चुका था। स्नेह प्रभा प्रधान उससे सख़्त बेएतिनाई बरत रही थी। इसके अलावा वह जुए में अपनी सारी जमा पूँजी हार चुका था और कोई मुलाजमत भी नहीं थी जिसका आसरा होता।

मैंने उससे पूछा : "सुनाओ यार, मिस प्रधान का क्या हाल है ?"

उसने जहर खंद के साथ जवाब दिया : "ठीक ठाक है। अब उससे ख्वाजा अहमद अब्बास इश्क़ लड़ा रहा है।"

"उसका क्या हश्र होगा ?"

मोहसिन ने मुस्करा कर कहा : "दो तीन महीनों के अंदर-अंदर गंजा हो जाएगा।"

मैंने पूछा : "क्यों ?"

उसने जवाब दिया : "उस औरत को आप नहीं जानते। वह औरत नहीं, सेफ्टी रेज़र है, और वह भी ऐसा कि उसके मूंडे हुए बाल फिर कभी नहीं उगते।"

मेरे जिस्म पर बेशुमार बाल हैं। मैंने सोचा : "अगर वह सेफ्टी रेज़र मेरे हाथ आ जाए तो मैं कितनी जल्दी बालों की लानत से नजात पा जाऊँ।" मगर खुदा का शुक्र है कि मैंने कोशिश न की, वर्ना मेरा भी हश्र वही होता जो मोहसिन अब्दुल्लाह और ख्वाजा अहमद अब्बास का हुआ—ख्वाजा गंजा हो गया और मोहसिन के बाल भी झड़ने लगे।

मुद्दत के बाद जब मैं फ़िल्मिस्तान में बहैसीयत अफ़्साना निगार और मजर नवीस मुलाज़िम हुआ तो मोहसिन से मेरी मुलाक़ात हुई। उसकी हालत बहुत दर्दनाक थी। मुझे मालूम था कि वह मिस्टर एस मुकर्जी का दोस्त है, इसलिए कि वह दोनों बंबे टाकीज में एक साथ काम कर चुके थे और वहाँ का माहौल बहुत दोस्ताना था—मैंने एस मुकर्जी को कहकर मोहसिन को फ़िल्मिस्तान में मुलाज़िम रखवा दिया।

डब्लू ज़ैड अहमद बंबे टाकीज़ से कभी वाबस्ता नहीं रहा। वह सिर्फ साधना बोस के

साथ एक दो बरस रहा। मालूम नहीं, साधना बोस के साथ उसके क्या ताल्लुक़ात थे। बहरहाल साधना बोस से अलग होकर उसने अपनी ज़ाती फ़िल्म कंपनी क़ाइम की और उसका कर्ता धर्ता बन गया—मैं इससे पेशतर कह चुका हूँ कि अहमद बहुत स्याना और जहीन आदमी है। उसने बड़े-बड़े मारवाड़ियों को गच्चा दिया, कुछ ऐसे तौर पर कि उनको ख़बर तक न हुई।

एक दिन उसने ऐलान कर दिया कि शाहिदा उर्फ़ पुर असार नीना उसकी बाक़ाइदा मन्कूहा बीवी बन चुकी है—उसकी अपनी मेहरे जलवे की ब्याही मफ़ीया ग़ालिबन उस वक़्त अमरीका में थी, जहाँ सिब्ते हसन पहुँच चुका था।

जैसाकि मैं कह चुका हूँ, मैं उन दिनों पूना गया कि मुझे अपनी कहानी के सिलसिले में अहमद से बातचीत करना थी। मसूद परवेज़ वहाँ प्रधान बना बैठा था। वह मुझे अहमद के पास ले गया। उससे मुलाक़ात हुई। इधर-उधर की चंद रस्मी बातें और कहानी के मुताल्लिक़ बातें कीं और मैं वापस बंबई चला आया।

बंबई में जब मोहसिन अब्दुल्लाह से मुलाकात हुई तो मैंने उसको फ़िल्मिस्तान स्टूडियो में बताया कि मैंने उसकी शाहिदा को पूना में देखा था और उससे बातें भी की थीं।

मोहसिन ने बड़े इश्तियाक़ से पूछा : "क्या बातें हुई थीं?"

मैंने जवाब दिया : "इधर-उधर की।"

"मेरे मुताल्लिक़ भी कोई बात हुई?"

"हाँ हुई थी मैंने उससे कहा था कि तुम उसकी जुदाई के ग़म में मर रहे हो।"

मोहसिन के चौडे-चकले चेहरे पर हुज़्न के आसार पैदा हुए : "शाहिदा ने क्या कहा, यह सुनकर।"

"बस ख़ामोश रही।"

"ख़ामोश रही?"

"तो और क्या करती" थोड़ी देर ख़ामोश रहने के बाद उसने सारा क़िस्सा दोहराया था उसने कहा था : "मुझे यह फिल्म लाइन क़तअन पसंद नहीं थी, लेकिन मोहसिन ने मुझे मजबूर किया था कि मैं इसमें दाख़िल हो जाऊँ। अब मैं इसमें दाख़िल हुई हूँ तो वह मुझे छोड़कर चले गए हैं, इसलिए कि शायद वह मुझे पसंद नहीं करते। एक्ट्रेसों के पीछे भागे-भागे फिरते हैं।"

मोहसिन ने अपना गला साफ़ किया और बलग़म दूर फ़ैंककर कहा : "मैं किस एक्ट्रेस के पीछे भागा फिरता हूँ एक मिस प्रधान थी, लेकिन उससे तो मैंने क़ता ताल्लुक़ कर लिया है अब कौन है?"

मैंने उसकी दुखती रग पर हाथ रखा : "मिस वीरा।"

यह वही मिस वीरा है जिसने फ़िल्मिस्तान के एक फ़िल्म में, जिसे नितिन बोस ने डायरेक्ट किया था, ग़ालिबन हीरोइन का रौल अदा किया था, लेकिन बड़े भौंडे अंदाज में—उस लड़की से, जो औरत बनकर ख़ुदा मालूम क्या बनने का इरादा कर रही थी, मोहसिन इश्क़ फ़र्मा रहा था—वह स्नेह प्रभा प्रधान की तरफ़ से मायूस हो चुका था,

इसलिए कि वह उससे मुतलर्नाफिन होनी ही नहीं थी। मिस प्रधान के और कई चाहनेवाले मौजूद थे, जिनमें से एक किशोर साहू था जो आज एक बहुत बड़ा फिल्म डायरेक्टर और प्रोड्यूसर है। उनकी शादी भी हो गई और तलाक़ भी, बड़े दिलचस्प अंदाज़ में—मेरा ख़याल है, मैं इस मज़्मून में कहीं अर्ज़ कर चुका हूँ कि मिस प्रधान बड़ी क़ब्ज़ा-गीर क़िस्म की औरत है। किशोर साहू ने किसी और औरत से राबिता पैदा करना चाहा होगा कि मिस प्रधान ने तलाक़ का मुतालबा शुरू कर दिया। साहू भी ग़ालिबन उसकी क़ब्ज़ा गीरी से तंग आ गया था, मगर तलाक़ का मामला बहुत टेढ़ा था, इसलिए कि शादी सिविल मैरिज क़ानून के तहत हुई थी और सिर्फ़ उसी सूरत में टूट सकती थी कि फ़रीक़ैन में से कोई एक यह साबित कर दे कि दूसरा ज़िनाकारी का मुर्तकिब हुआ है। चुनांचे मियाँ-बीवी, दोनों में बाक़ाइदा कांफ़्रेंस हुई और एक और रास्ता निकाला गया। यह तय पाया कि मियाँ अदालत में बीवी के इस इल्ज़ाम को तस्लीम करे कि वह इज़्दिवाजी फ़राइज़ अदा करने का अहल नहीं, यानि वह नामर्द है। किशोर साहू मान गया। जब मुक़दमा अदालत में पेश हुआ तो उसने खुले अल्फ़ाज़ में कह दिया कि वह औरत के क़ाबिल नहीं[1]।

ख़ैर—यूँ तो इस क़िस्से का ज़िक्र बज़ाहिर ग़ैर ज़रूरी मालूम होगा, मगर इस दास्तान के बयान करने में मुझे इसकी ज़रूरत महसूस हुई तो मैंने इसका ज़िक्र कर दिया।

जैसाकि मैं शायद बयान कर चुका हूँ, वीरा पारसी है। वह बहुत मायूसियों के बाद अपने वतन से हिज्रत करके किसी शख़्स के साथ बंबई चली आई जो फ़िल्म इंडस्ट्री से वाबस्ता था। उस शख़्स ने वीरा को मोती लाल एक्टर के हवाले कर दिया, मगर मोती लाल जैसा इश्क़ पेशा उसे कब तक अपने साथ चिपकाए रखता। थोड़ी देर के बाद ही मोती लाल का जी उकता गया—वीरा शक्लो-सूरत के एतिबार से न मर्द कहलाई जा सकती है, न औरत। उसका सीना बिल्कुल सपाट है। सतह-मुर्तफ़ा-दकन मालूम होता है—मैं आपको एक दिलचस्प वाक़िआ सुनाऊँ: फ़िल्मस्तान में हम लोग 'आठ दिन' के उन्वान से एक फ़िल्म बना रहे थे। हमें कंपनी की तरफ़ से मजबूर किया गया कि मिस वीरा को हीरोइन का रोल दिया जाए। अशोक कुमार को सख़्त एतिराज़ था, मगर मैं समझता था कि मिस वीरा में अदाकारी की तमाम सलाहियतें मौजूद हैं, एक सिर्फ़ उसके सीने का सपाटपन दूर कर देना चाहिए—चुनांचे मैंने स्टूडियो के मेकअप मैन और लेडी हेयर ड्रेसर से मश्वरा किया। उन दोनों ने मुझसे कहा: "तरद्दुद की कोई ज़रूरत नहीं। हम यह मुश्किल हल कर देंगे।"—मुश्किल हल हो गई। वह चीज़, जो मिस वीरा के सीने पर नापेद थी, कपड़े और रुई के ज़रिए से तैयार करके उसको पहना दी गई—मिस वीरा जब शूटिंग से फ़ारिग़ होकर मोहसिन अब्दुल्लाह के साथ अपने घर जाती तो उस मस्नूई चीज़ को अपने जिस्म से अलाहिदा करके खूंटी पर लटका देती थी—मिस वीरा के पास एक छोटा-सा कुत्ता था। वह घर से बर्क़ी ट्रेन के ज़रिए से फ़स्र्ट क्लास में उस नन्हे-मुन्ने कुत्ते के साथ फ़िल्मस्तान आती। जब शूटिंग होती तो वह मिस वीरा के कमरे में बंधा रहता—मोहसिन अब्दुल्लाह

1. यह महज़ इत्तिफ़ाक़ की बात है कि बरसों बाद फिल्म 'गाइड' में किशोर साहू ने रोज़ी के नामर्द शौहर की भूमिका बड़ी ख़ूबसूरती से निभाई थी।

सैकिंड क्लास में स्टूडियो आता था। एक दिन मैंने देखा कि वह फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे से बाहर निकला। उसके हाथ में जंजीर थी, जिसकी हुक के साथ मिस वीरा के कुत्ते का खूबसूरत पटा मुन्सलिक था। सगे लैला वाला किस्म था—बहरहाल यह सिलसिला चलता रहा। उन दोनो में गाढ़ी छनने लगी। दोनों इकट्ठे खाते, इकट्ठे स्टूडियो आते और शूटिंग खत्म होने पर इकट्ठे वापस जाते।

उधर डब्लू ज़ैड अहमद को अपने स्टाफ़ को तन्ख़ाह देने की इतनी फ़िक्र नहीं रहती थी, मगर वह स्टाफ़ को बहलाना ख़ूब जानता था। अगर आज पूना की किसी पहाड़ी पर पिकनिक हो रही है तो दूसरे रोज़ मुशाइरा मुन्अक़िद किया गया है।

एक रात मुशाइरा हो रहा था। उसमें मिस्टर वडवानी मौजूद थे—मालूम नहीं किस तरंग मे आकर अहमद ने उनसे कहा : "वह मान गई है।"

वडवानी ने अहमद से पूछा : "कौन मान गई है?"

अहमद ने जवाब दिया : "शाहिदा वह मुझसे शादी करने पर रज़ामद हो गई है।"

मुझे मालूम नहीं कि उनकी शादी कहाँ हुई। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि कोई स्टेट थी जहाँ उनका निकाह हुआ—स्टूडियो के स्टाफ के कई कारकुन मदऊ किए गए थे। उनमें से एक का बयान है कि शाहिदा शादी के बाद भी नाख़ुश थी।

जैसा कि मैं अर्ज कर चुका हूँ, वह बहुत कमगो, शरीफ और घरेलू क़िस्म की औरत है। उसको हुजूम से, बाजे-गाजे और शोरो-शर से सख़्त नफरत है—जब दुल्हा और दुल्हन को सजी सजाई मोटर में बैठाना था तो शाहिदा के कदम नहीं उठते थे। उसकी आँखें आँसुओ से लबेज़ थीं—शालीमार स्टूडियो की एक्ट्रेसों ने उससे कहा : "आप इतनी पीछे रह गई हैं अहमद साहब के साथ-साथ चले।" मगर उस पर अजीब क़िस्म का हिजाब तारी था। आखिर अहमद ही को उसके पास आना पड़ा। उसने बड़ी जुर्रत से काम लेकर अपनी दुल्हन का हाथ पकड़ा और उसे मोटर में बिठाया।

डब्लू जैड अहमद की पहली बीवी सफ़ीया और शाहिदा बड़ी पक्की सहेलियाँ थीं—यह इस हजार पहलू दास्तान का एक और पहलू है—शाहिदा, जो बेवक़ूफ़ी की हद तक सादा लोह है, गालिबन वह महसूस करती थी कि उसने अपनी सहेली के साथ भी दग़ा की है, लेकिन उसकी सहेली सफीया इस दौरान में मशहूर कम्यूनिस्ट सिब्ते हसन के इश्क़ में गिरफ्तार हो चुकी थी।

ख़ैर, मालूम नहीं सफ़ीया कहाँ है। शाहिदा तो ख़ैर डब्लू ज़ैड अहमद के पास है और घरेलू ज़िंदगी बसर कर रही है।

शाहिदा, जिसे पुर असार नीना कहा जाता है, परले दर्जे की कंजूस है, जैसा कि आम घरेलू औरतें होती हैं। वह अपनी ज़ात के लिए ख़र्च करती है, लेकिन दूसरों के मामले में एक पाई ज्यादा ख़र्च नहीं करेगी।

जब वह शालीमार स्टूडियो में थी तो उसके मक्खी चूस रवैये से वहाँ के सब मुलाज़िम तंग आए हुए थे। वह कौड़ी-कौड़ी का हिसाब लेती थी।

एक दिन ड्रेस मैन के बिल की, जो अदा हो चुका था, उसने पड़ताल की तो उसको

मालूम हुआ कि हिसाब के मुताबिक़ कुछ सौ रुपए और साढ़े पाँच आने बनने चाहिए थे, मगर वह छः आने वुसूल कर चुका था। चुनांचे बेगम साहिबा ने फ़ौरन ड्रेस मैंने को तलब किया और उससे कहा : "यह क्या गड़बड़ है··· तुमने साढ़े पाँच आने की बजाए छः आने कंपनी से क्यों वुसूल किए हैं।"

ड्रेस मैन को जब बिल दिखाया गया तो वाक़ई साढ़े पाँच आने बनते थे। उससे हिसाब में ग़लती हो गई थी। चुनांचे उसने दो पैसे देकर अपनी ख़लासी कराई।

यूँ तो उसे स्टूडियो का हर मुलाज़िम बेगम साहिबा कहता था, लेकिन उनके दिल में उसकी कोई क़द्र नहीं थी, इसलिए कि वह आम एक्ट्रेसों की मानिंद फ़ुज़ूल ख़र्च, चर्ब ज़बान और यावा गो नहीं थी—वह एक मुहज़्ज़ब औरत थी। यह जुदा बात है कि उसने दूसरी शादी कर ली थी।

यह वाक़या है और इसकी शहादत के लिए कई सुबूत मौजूद हैं कि शाहिदा को फ़िल्म लाइन से कोई दिलचस्पी नहीं थी और न अब है। वह अपने घर में ख़ुश रहना चाहती थी, और रहना चाहती है।

मैंने हाल ही में उससे मुलाक़ात करना चाही, ताकि इस मज़्मून को बतरीक़े-अहसन मुकम्मल कर सकूँ, लेकिन अहमद ने कहा : "वह बहुत मसरूफ़ हैं।"

मुझे उम्मीद है, मैं शाहिदा से एक रोज़ ज़रूर मिल पाऊँगा—यह मज़्मून तो वह ख़ैर क़िस्त[1]-वार पढ़ती ही रहेगी—उसकी आँखों में जो उदासी तैरती रहती है, उसकी चाल में ग़मज़दा धीमापन है और उसकी गुफ़्तगू में जो अजीब क़िस्म की अफ़्सुर्दगी है, उनके मुताल्लिक मुझे मालूमात हासिल करना हैं।

शाहिदा के मुताल्लिक़ आम ख़याल यह है कि वह बददिमाग़ है और किसी से मिलना जुलना पसंद नहीं करती—जहाँ तक मुझे मालूम है, यह ख़याल ग़लत है। मैं इससे पेशतर कह चुका हूँ कि वह ख़ामोशी पसंद और ठेठ घरेलू औरत है। उसे अपने घर के सिवा और किसी से दिलचस्पी नहीं। वह अलग-थलग रहना पसंद करती है। वह आदर्श बीवी है—अगर आप उससे पुरख़ुलूस अंदाज़ में बात करें तो वह अपना दिल खोलकर आपके सामने रख देगी। उसकी आँखों में आँसू आ जाएँगे और वह अपने पहले शौहर मोहसिन अब्दुल्लाह को याद करेगी। लेकिन अपने दूसरे ख़ाविंद डब्लू ज़ैड अहमद को उसकी तमाम सियासियात, जिनको वह ग़ालिबन अपने भोलेपन की वजह से नहीं समझती, के बावजूद अपने दिल के क़रीब रखेगी।

मोहसिन अब्दुल्लाह के नुत्फ़े से शाहिदा के एक लड़का पैदा हुआ, जो सदा बीमार रहता है। डब्लू ज़ैड अहमद के नुत्फ़े से एक लड़की पैदा हुई है—लड़का शायद एबटाबाद में है और वहाँ किसी स्कूल में पढ़ता है—इस मामले में अहमद की तारीफ़ करना पड़ती है कि वह उससे बड़ी ही शफ़्क़त के साथ पेश आता है। हो सकता है कि यह शफ़्क़त महज़ दिखावे की हो—बहरहाल यह मानना पड़ेगा कि मोहसिन अब्दुल्लाह उस माज़ूर बच्चे की परवरिश बतरीक़े-अहसन कभी न कर सकता, इसलिए कि वह एक लाउबाली क़िस्म का

1. 'पुर असरार नीना' लाहौर के माहनामे 'डायरेक्टर' में क़िस्त-वार छपता था।

इन्सान है।

अहमद और मोहसिन में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है—अहमद अपनी ख़ुदादाद ज़हानत और मुहिम-जू तबीयत के बलबूते पर कमाता है। इसके बरअक्स मोहसिन ऐसे सहारे ढूँढता है जो उसे काम करने की लानत से नजात दिला सकें।

शाहिदा मुझसे बेहतर जानती होगी, लेकिन जहाँ तक मैं उसके साबिक़ शौहर को जानता हूँ, वह अव्वल दर्जे का काम चोर है। यूँ वह ख़ुद को बहुत मसरूफ़ ज़ाहिर करेगा, मगर उस मस्नूई मसरूफ़ीयत का नतीजा हमेशा सिफ़र ही निकलेगा।

अहमद की ज़िंदगी मुसलसल तगो-दू की ज़िंदगी है। वह हर आफ़त का मुक़ाबला करने के लिए तैयार रहता है, इसलिए कि वह ख़ुद एक बहुत बड़ी आफ़त है जो फ़िल्म इंडस्ट्री पर नाज़िल हुई है—मैं इससे पेशतर अर्ज़ कर चुका हूँ कि वह रूमियों की तरह बड़ा इस्कीम बाज़ है। उसे अगर सिगार पीना होगा तो उसकी इस्कीम कई रोज़ पहले तैयार हो चुकी होगी। उसका हर क़दम ख़ास इस्कीम के तहत उठता है।

शाहिदा सीधी-सादी औरत है। उसे इस्कीमों से कोई वास्ता नहीं। वह सिर्फ़ यह चाहती है कि एक घर हो, जिसमें वह अपनी ज़िंदगी गुज़ार दे—वह किसी को ईज़ा नहीं पहुँचा सकती इसलिए कि उसकी फ़ितरत में ईज़ा रसानी का माद्दा ही मौजूद नहीं।

मैं जब भी उससे मिला, मैंने चाहा कि उससे कहूँ : ''तुम इसाई मज़हब इख़्तियार करके राहिबा बन जाओ। लेकिन वह इसाई मज़हब इख़्तियार किए बग़ैर और किसी राहिब ख़ाने में न रहने के बावजूद नन मालूम होती है—यूँ वह पार्टियों में जाती है, लेकिन महज़ तकल्लुफ़ के तौर पर। कुछ ऐसा मालूम होता है कि या तो वह अपने वुजूद से उकताई हुई है, या उस फ़ज़ा से, जिसमें वह साँस ले रही है। उसे अपने गिर्दो-पेश की किसी चीज़ से दिलचस्पी नहीं, शायद अपने आपसे भी नहीं—वह बर्फ़ का एक तोदा है जो क़ुदरत की सितम ज़रीफ़ी से पहाड़ों से फिसलकर खुले मैदानों में चला आया हो और आहिस्ता-आहिस्ता पिघल रहा हो—हो सकता है, शाहिदा को मेरी इस बात से इत्तिफ़ाक़ न हो, लेकिन अगर वह गौर करे तो उसको मेरी इस तश्बीह की सेहत मानना पडेगी। क़ुदरत ने उसको मुफ़र्रह शर्बत की बोतल की शक्ल में दुनिया में भेजा था, लेकिन लोगों ने उसे उबालकर चाय की सूरत में तबदील कर दिया। इसमें शाहिदा का कोई क़ुसूर नहीं। क़ुसूर उन लोगों का है, जिन्होंने उसको ग़लत तौर पर इस्तेमाल किया—मोहसिन अब्दुल्लाह ने उसको अपनी रौशन ख़याल और आज़ाद बहनों का हवाला देकर बार-बार लान-तान की कि वह भी उन्हीं की मानिंद बनने की कोशिश क्यों नहीं करती—जब वह किसी क़द्र माईल हुई तो डब्लू ज़ैड अहमद ने उसे अपने पहले फ़िल्म की हीरोइन बना दिया, और वह जिसे फ़िल्मी दुनिया से कोई दिलचस्पी नहीं थी, शाहिदा से पुर असरार नीना बन गई।

मैं अक्सर सोचता हूँ कि जब वह इश्तिहारों में पर असरार नीना का नाम जली हुरूफ़ में पढ़ती होगी तो उसका रद्दे-अमल क्या होता होगा। हो सकता है, वह अपनी उदास-उदास आँखों से वह इश्तिहार पढ़कर यह महसूस करती हो कि पुर असरार नीना, शाहिदा नहीं, कोई और होगी जिसको वह क़तअन नहीं जानती। या उसे यह ख़याल आता

तो कि वह कल क्या थी, आज क्या बन गई है। यह भी मुमकिन है कि अहमद के दिखाए हुए सब्ज़ बाग़ों में उसने ख़ुद को सब्ज़परी महसूस न किया हो। लेकिन यह भी हक़ीक़त है कि वह अन्जामेकार उन सब्ज़ बाग़ों ही में खो गई, शायद इसलिए कि उसने ऐसे बाग़ अपनी ज़िंदगी में पहले कभी नहीं देखे थे, या उनका कभी तसव्वुर भी नहीं किया था।

उसकी उदासपन की वजह यह भी हो सकती है कि उसका लड़का एक लिहाज से यतीम हो गया था—मैंने पूना में एक मर्तबा उससे पूछा। यह उस ज़माने का जिक्र है, जब वह और अहमद एक ही कोठी में इकट्ठे मगर अलाहिदा-अलाहिदा कमरो में रहते थे—मैंने उससे पूछा: "आप इतनी उदास-उदास क्यों रहती हैं?"

वह और ज्यादा उदास हो गई: "नहीं तो "

"नहीं का मतलब, जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह है कि इस उदासी की कोई न कोई वजह ज़रूर है।"

"कोई वजह नहीं।"

"यह कैसे हो सकता है मैंने जब भी आपको देखा, हुज़्नो-मलाल में लिपटी हुई देखा मेरी नज़र में कोई ख़ामी है या आप ख़ुद-फरेबी से काम ले रही हैं।"

शाहिदा के दिल में जैसे तीर-सा लगा· "आप इस गुफ्तगू को बंद कीजिए।"

मैंने पूछा: "क्यों?"

उसने जवाब दिया: "आपको मेरे प्राइवेट मामलों मे दख़्ल देने का कोई हक हासिल नहीं।"

मैंने कहा: "आप प्राइवेट प्रापर्टी नही हैं, पब्लिक प्रापर्टी हैं आपके मुताल्लिक हर शख़्स अपनी दानिस्त के मुताबिक कुछ न कुछ कहने का हक रखता है।"

वह नाराज हो गई और उसकी नाराजी ने उसके चेहरे के ख़दो-खाल और ज़्यादा मग्मूम कर दिए।

मुझे उस वक्त ऐसा महसूस हुआ कि वह एक ऐसी मोमबत्ती है जो तेज हवा मे जलते रहने की कोशिश कर रही है, उसकी लौ थरथरा रही है, कुछ ऐसे अंदाज़ में जैसे उसे यक़ीन नहीं कि वह ज्यादा देर तक जिंदा रह सकेगी।

मैंने उससे कहा: "अपने दिल का सही हाल कभी तो किसी को बता दीजिए।"

उसके माथे पर चंद शिकनें नुमूदार हुईं: "आप कौन होते हैं मेरे दिल का सही हाल जानने वाले मैं जैसी भी हूँ, जिस हाल मे भी हूँ, ठीक हूँ आप मेरे मुताल्लिक इतने मुतफिकर क्यों हैं?"

"इसलिए कि आपसे बहैसीयत एक अफ़साना निगार मुझे दिलचस्पी है।"

"आपको या किसी और अफ़साना निगार को मुझसे दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए मैं कोई खिलौना नहीं हूँ।"

"मैंने आपको खिलौना कभी नहीं समझा आप गोश्त-पोस्त की बनी हुई औरत हैं, एक ऐसी औरत जिससे किसी ने अच्छा सुलूक नहीं किया आपको गिला किससे है? अपने ख़ालिक़ से, या उन मर्दों से जिन्होंने आपको खिलौना समझा?"

शाहिदा के फीके होठों पर और भी ज़्यादा फीकी मुस्कराहट नुमूदार हुई, जैसे कोई बदरँग खिलौना टूट गया हो : "आप मुझसे इतनी ज़्यादा बातें मत कीजिए मेरे सिर में दर्द हो रहा है ।"

मैंने उसको चिढ़ाने के लिए पूछा : "इस दर्द का बाइस क्या है ?"

"मुझे क्या मालूम डाक्टर जानते होंगे ।"

यूँ तो पूना और बंबई में बेशुमार डॉक्टर थे, जिनमें कई माहिर भी थे, लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है, मैंने उस वक़्त सोचा था कि वह शाहिदा की बीमारी, असल बीमारी की तश्ख़ीस नहीं कर सकते ।

वह अब भी[1] बीमार है । उसकी यह बीमारी जिस्मानी नहीं, रूहानी है ।

इसमें कोई शक नहीं कि वह डब्लू ज़ैड अहमद से अपनी क़िस्मत वाबस्ता कर चुकी है—लेकिन, जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह एक ख़ला में ज़िंदगी बसर कर रही है । वह यक़ीन के साथ यह भी नहीं कह सकती कि वह ज़िंदा है या मुर्दा । वह होने, न होने के बीच की फ़ज़ा में मुअल्लक़ है जहाँ फूल काँटे बन जाते हैं और काँटे फूल, जहाँ पर दूध और शहद की नहरें बहती हैं और साथ ही झुलसा देनेवाली तेज़ाब की नहरें भी—वह दरअसल बहार भी है और ख़िज़ाँ भी । ख़िज़ाँ के दौरान में उस पर हरियावल नज़र आ सकती है और बहार के मौसम में पतझड़—उसके किर्दार का मुताला और मुशाहिदा करते वक्त कोई दक़ीक़ा शनास वुसूक़ से नहीं कह सकता कि वह किस उलझन में गिरफ़्तार है ।

मौसमयात के माहिरीन आमतौर पर पेशीन-गोईयाँ करते रहते हैं कि आज मतला साफ़ रहेगा, या अब्र आलूद, घनगरज होगी, या धूप—शाहिदा के मुताल्लिक़ में ऐसी कोई पेशीन-गोई नहीं कर सकता । इसलिए कि वह अबुलहौल है। वह बरसती भी होगी, गरजी भी होगी और उसका मतला साफ़ भी रहता होगा—हाँ यह ज़रूर कहा जा सकता है कि उस पर अहमद की शख़्सीयत मुकम्मल तौर पर छाई हुई है ।

अहमद, इतने बरस गुज़र जाने के बाद भी, शाहिदा से वैसा ही सुलूक करता है, जैसाकि उसने पहली मुलाक़ात के वक़्त किया था—वह अब भी उसकी इज़्ज़त करता है । ख़ुदा बेहतर जानता है कि उसमें ख़ुलूस कितनी रत्ती है—बहरहाल दोनों मियाँ-बीवी मस्नूई या ग़ैर मस्नूई ज़िंदगी बसर कर रहे हैं ।

डब्लू ज़ैड अहमद ने अब ख़ुदा मालूम क्या पंजसाला इस्कीम बनाई है—उसने गोवन्मेंट (आफ़ पाकिस्तान) से फ़िल्म कोआपरेटिव बनाने की मंज़ूरी हासिल की, कोआपरेटिव बैंक से लाखों रुपए लिए और अपना पहला (पाकिस्तानी) फ़िल्म 'रूही' बनाया । इस फ़िल्म के कारकुन उसके मंज़ूरे-नज़र दोस्त थे, चापलूस क़िस्म के—अब अहमद बहुत-सी क़ानूनी उलझनों में फँसा हुआ है । मुझे यक़ीन है कि वह उनकी गिरफ़्त में नहीं आएगा । वह अगर फ़िल्मसाज़ न होता तो बहुत बड़ा क़ानून-दान होता ।

आज से दो ढाई महीने पहले की बात है । वह हाल रोड पर रहमान हेयर ड्रेसर के पास

1. 'अब भी' से मुराद, पाकिस्तानी लाहौर का वह ज़माना है जिसमें ख़ालिक़ मंटो और मख़लूक़ शाहिदा ने दिन गुज़ारे । —संपादक

आया। मैंने उससे शाहिदा और उसके इश्क के मुतान्लिक गुफ्तुगू करना चाही, मगर वह गोल कर गया—वह गोल करने का माहिर है। उमकी हँमी गो अक्सर मस्नूई होती है, लेकिन आप कभी नही समझ मकेगे कि वह उस हँसी मे आपके सवाल का जवाब छुपा रहा है।

बशर्ते-जिंदगी, मैं मजीद मालूमात हासिल करके शाहिदा उर्फ पुर असरार नीना के मुताल्लिक कुछ और भी लिखूँगा, लेकिन जैसाकि मै पहले अर्ज कर चुका हूँ, उस गरीब मे कोई असरार नही—अगर औरत को आप पुर असरार कहते हैं तो यह आपकी नादानी है—शाहिदा औरत ही नही, ठेठ औरत है।

शाहिदा से मिलकर, हो सकता है, आप मेरा मतलब है वह लोग, जो भडकीलेपन को पसद करते हैं, ना उम्मीद हो—लेकिन सजीदा आदमी उसे यकीनन बहुत एहतिराम की नजरो से देखेगे।

सितारा

लिखने के मामले में मैंने बड़े-बड़े कड़े मरहिल तय किए हैं, लेकिन मशहूर रक़्क़ासा और एक्ट्रेस सितारा के बारे में अपने तास्सुरात क़लमबंद करने में मुझे बड़ी हिचकिचाहट का सामना करना पड़ा है। आप तो उसे एक एक्ट्रेस की हैसियत से जानते हैं जो नाचती भी है और ख़ूब नाचती है, लेकिन मुझे उसके किर्दार का मुताला करने का भी मौक़ा मिला है जो अजीबो-ग़रीब है।

मैंने अपनी ज़िंदगी में कई औरतों के किर्दारो-अतवार का मुताला किया है, लेकिन हक़ीक़त यह है कि जब सितारा के हालाते-ज़िंदगी मुझे आहिस्ता-आहिस्ता मालूम हुए तो मैं चक्रा गया। वह औरत नही, एक तूफ़ान है और वह भी ऐसा तूफ़ान जो सिर्फ़ एक मर्तबा आके नहीं टलता, बार-बार आता है। सितारा यूँ तो मियाना क़द की औरत है मगर बला की मज़बूत है। उसने जितनी बीमारियाँ सही हैं, मेरा ख़याल है, अगर किसी और औरत पर नाज़िल होतीं तो वह कभी जाँबर न हो सकती। वह तबअन बहुत हौसलामंद है, शायद इसलिए कि वह कसरत की आदी है।

मैंने देखा है कि सुबह सवेरे उठकर वह कम-अज़-कम एक घंटे तक रियाज़त करती थी और यह रियाज़त कोई मामूली रियाज़त नहीं होती थी। एक घंटा भरपूर नाचना हड्डियों तक को थका देता है, मगर सितारा मुझे कभी थकी-थकी दिखाई नहीं दी। असल में उसमें वह चीज़ जिसे अंग्रेजी में STAMINA कहते हैं, बार्दजा अतम मौजूद है। वह थकने वाली जिन्स नहीं। दूसरे थक हार जाएँगे मगर वह वैसी की वैसी रहेगी, जैसे उसने कोई मशक़्क़त नहीं की। उसको अपने फ़न से प्यार है, उसी वालेहाना क़िस्म का जो वह मुख़तलिफ़ मर्दों से करती रही है।

मामूली-से डान्स के लिए वह इतनी मेहनत करेगी, जितनी कोई रक़्क़ासा उम्र भर नहीं कर सकती। उसकी तबीयत में उपज है। वह हमेशा कोई ख़ास बात करना चाहेगी। चलत-फिरत जो एक नटुनी में हो सकती है, उसमें ज़रूरत से ज़्यादा मौजूद है। वह एक सैकिंड के लिए भी निचली नहीं बैठ सकती। उसकी बोटी-बोटी थिरकती रहती है।

कहा जाता है कि वह नेपाल की रहने वाली है। मुझे इसके मुताल्लिक़ हत्मी तौर पर कुछ मालूम नहीं, लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि सितारा के अलावा उसकी दो बहनें और थीं। यह त्रिशूल यूँ मुकम्मल होता है: तारा, सितारा और अलकनंदा। तारा और

अलकनंदा तो अब क़रीब-क़रीब मादूम हो चुकी हैं। मेरा ख़याल है, उनका नाम भी किसी को याद नहीं होगा।

इन तीन बहनों की ज़िंदगी वैसे बहुत दिलचस्प है। तारा की कई मर्दों से वाबस्तगी रही। इस हुजूम में एक शौकत हाशमी भी हैं जो अब तक कई पापड़ बेल चुके हैं। हाल ही में उनकी बीबी पूर्निमा ने उनसे तलाक़ ले ली है और वह इस सिलसिले में बड़े दर्दनाक बयान दे चुके हैं। अलकनंदा कई हाथों से गुज़री और आख़िर में प्रभात के शुहरतयाफ़्ता एक्टर बलवंत सिंह के पास पहुँची। उसके पास वह अभी तक है या नहीं, इसका मुझे इल्म नहीं।

इन तीनों बहनों की ज़िदंगी की रूदाद अगर लिखी जाए तो हज़ारों सफ़हे काले किए जा सकते हैं। लोग मुझे कोसते हैं कि मैं फ़ुहश निगार हूँ, गंदा ज़हन हूँ, लेकिन वह यह नहीं सोचते कि इस दुनिया में कैसी-कैसी हस्तियाँ मौजूद हैं। मैं उन्हें फ़ुहश नहीं कहता। मैं तो सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि या तो कोई आदमी माहौल के बाइस मज़्मूमी हरकात का मुर्तकिब होता है या अपनी जिबिल्लत के बाइस।

जो चीज़ आपको फ़ितृरत ने अता की है, उस की इस्लाह नफ़्सियाती इलाज से किसी हद तक हो सकती है, लेकिन अगर आप उससे ग़ाफ़िल रहे हैं तो उसकी ज़िम्मेदारी किस पर आइद होती है, यह ज़रा सोचने की बात है।

तारा, सितारा और अलकनंदा, तीन बहनें किस के हाँ पैदा हुईं, ग़ालिबन नेपाल के किसी गाँव में। वहाँ से वह एक-एक करके बंबई आईं कि फ़िल्मी दुनिया में क़िस्मत-आज़माई करें, लेकिन यह मुक़द्दर की बात है कि सिर्फ़ सितारा का सितारा चमका। जो बाक़ी दो थीं, वह टिमटिमाती रह गईं।

सितारा के मुताल्लिक़ जैसा कि मैं इस मज़्मून के आग़ाज़ में कह चुका हूँ, पूरी तफ़्सील से लिखते हुए झिझकता हूँ। वह औरत नहीं, कई औरतें हैं। उसने इतने जिन्सी सिलसिले किए हैं कि मैं इस मुख़्तसर मज़्मून में उनका अहाता नहीं कर सकता।

अंग्रेजी ज़बान में ऐसी औरत को निम्फोमेनियक कहा जाता है। यह औरत की एक ख़ास क़िस्म है जो एक मर्द के अलावा और सैकड़ों से ताल्लुक़ क़ाइम करती है।

सितारा का मैं जब भी तसव्वुर करता हूँ तो वह मुझे बंबई की पाँच मंज़िला बिल्डिंग मालूम होती है जिसमें कई फ़्लैट और कई कमरे हों। और यह वाक़े है कि वह बयक-वक्त कई मर्द अपने दिल में बसाए रखती थी। मुझे इतना म.लूम है कि जब वह बंबई में आई तो उसका ताल्लुक़ एक गुजराती फ़िल्म डायरेक्टर से क़ाइम हुआ, जिसका पूरा नाम मुझे याद नहीं रहा। लेकिन वह डेसाई था, दुबला-पतला मरियल क़िस्म का इन्सान। लेकिन था बहुत ख़ूबियों का मालिक। अपने काम में काफी होशियार था। मगर क़िस्मत ने उसकी यावरी न की। चूँकि ज़िद्दी था इसलिए जगह-जगह ठुकराया गया। उससे मेरी मुलाक़ात उस ज़माने में हुई जब सरोज फ़िल्म कंपनी ज़िंदा थी। लेकिन असल में ज़िंदा दरगोर थी—मेरी उसकी फ़ौरन दोस्ती हो गई, इसलिए कि वह फ़न-शनास था और अदबी ज़ौक़ भी रखता था। इसी दौरान में मुझे मालूम हुआ कि सितारा उसकी बीवी है लेकिन उससे

जुदा हो गई है। डेसाई को मगर इस जुदाई का इतना रंज नहीं था। उसकी बातों से मुझे सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि वह उस औरत मे पूरा निपट नहीं सकता था।

सितारा उस ज़माने में किसी और के पास थी, लेकिन कभी-कभी अपने शौहर डेसाई के पास भी आ जाती थी। वह ख़ुद्दार इन्सान था, इसलिए वह उससे उमूमन बेएतिनाई बरतता था और उसे मुख़्तसर मुलाक़ात के बाद रुख़्सत कर दिया करता था।

हिंदुओं के मज़हब के मुताबिक़ कोई औरत तलाक़ नहीं ले सकती। डेसाई से सितारा की शादी हिंदू क़ानून के मातहत हुई थी, इसलिए अब भी वह मिसिज़ डेसाई है, हालाँकि वह कई मर्दों से मुन्सलिक हो कर उनसे अलहदगी इख़्तियार कर चुकी है। मैं उस ज़माने की बात कर रहा हूँ, जब डायरेक्टर महबूब का सितारा माइले-ब-उरूज था। महबूब ने उसे अपने किसी फ़िल्म में लिया तो उसके साथ सितारा के जिन्सी ताल्लुक़ात फ़ौरन क़ाइम हो गए। उसकी रुदाद मेरा क़लम बयान नहीं कर सकता। सिर्फ़ बब्बू यानि इशरत जहाँ की ज़बान ही बयान कर सकती है।

आउट डोर शूटिंग के सिलसिले में महबूब को हैदराबाद जाना पड़ा था। वहाँ महबूब साहब हस्बे-दस्तूर बाक़ाइदा नमाज़ पढ़ते थे और बाक़ाइदा सितारा से इश्क़ फ़रमाते थे। मैं यह सबकुछ लिखने में हिचकिचा रहा हूँ। असल में सितारा एक केस हिस्ट्री है। उस पर नफ़्सियात के किसी माहिर ही को लिखना चाहिए था।

बंबई में एक स्टूडियो फ़िल्मसिटी था। महबूब ने ग़ालिबन उसी में अपनी कोई पिक्चर बनाना शुरू की थी। उन दिनों वहाँ साउन्ड रिकार्ड करने वाले मिस्टर पी. एन. अरोड़ा थे, जो अब मशहूर प्रोड्यूसर हैं। बड़े मेहनती क़िस्म के नौजवान—फ़ज़ल भाई ने जो फ़िल्म सिटी के कर्ता-धर्ता थे, उनको विलायत भेजा था कि वह सदाबंदी का काम सीख के आएँ। उसी ज़माने में सेठ शीराज़ अली हकीम भी वहीं थे और लेबोरेट्री के इन्चार्ज थे। डायरेक्टर महबूब से तो सितारा का सिलसिला चल ही रहा था लेकिन बक़ौल दीवान सिंह मफ़्तून, एडिटर रियासत देहली, उसका टाँका पी. एन. अरोड़ा से भी मिल गया।

डायरेक्टर महबूब ने फ़िल्म ख़त्म किया तो सितारा पी. एन. अरोड़ा के हाँ बतौर बीवी या दाश्ता के रहने लगी। लेकिन इस दौरन में एक और हादिसा दरपेश आया। फ़िल्म सिटी ही में या किसी और स्टूडियो में, जहाँ सितारा काम कर रही थी, एक नौवारद अलनासिर तशरीफ़ लाए। यह बड़े ख़ूबसूरत जवान थे। कम उम्र। ताज़ा-ताज़ा डेरादून से तालीम हासिल करके आए थे। गाल सुर्ख़ो-सफ़ेद थे। उनको शौक़ था कि फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हों।

जब आए तो फ़ौरन उन्हें एक फ़िल्म में रोल मिल गया। इत्तिफ़ाक़ से उसके कास्ट में सितारा भी शामिल थी जो बयक वक़्त पी. एन. अरोड़ा, डायरेक्टर महबूब और अपने असली ख़ाविंद मिस्टर डेसाई के पास आया जाया करती थी।

मालूम नहीं, यह पहले की बात है या बाद की, मगर सितारा की दोस्ती नज़ीर से भी हो गई जिसकी पहली दाश्ता जो कि एक यहूदन एक्ट्रेस यासमीन थी, उसे दाग़े-मुफ़ारक़त दे गई थी। मुझे मालूम नहीं, किन हालात में उन दोनों की मुलाक़ात हुई लेकिन मैं इतना

जरूर जानता हूँ कि उन दोनों में गाढ़ी छनने लगी। नज़ीर सितारा का फ़रेफ़्ता था और सितारा नज़ीर पर अपनी जान छिड़कती थी।

मैं नज़ीर को अच्छी तरह जानता हूँ। वह बहुत सख़्त मिज़ाज का आदमी है। वह औरत को ताबे रखने का क़ाइल है। औरत का ज़िक्र ही क्या, मर्द भी जो उसकी मुलाज़मत में हों, उन्हें उसकी गालियाँ और घुरकियाँ सहना पड़ती हैं।

वह आदमी नहीं, देव है लेकिन बड़ा मुख़्लिस देव। वह मेरा दोस्त है। जब कभी मुझसे मिलता है, सलाम दुआ के बजाय गालियाँ देता है लेकिन मैं जानता हूँ कि वह बेरिया है। उसका दिल ख़ुलूस से मामूर है।

उस बेरिया और मुख़्लिस आदमी ने सितारा को कई बरस बर्दाशत किया। उसकी सख़्तगीर तबीयत के बाइस सितारा को इतनी जुर्अत न हुई कि वह अपने पुराने आश्नाओं से राहो-रब्त क़ाइम रखे, लेकिन वह औरत जो सिर्फ़ एक मर्द की रफ़ाक़त पे काने न रहती हो, उसका क्या इला है। सितारा ने कुछ देर के बाद वही सिलसिला शुरू कर दिया जिसकी वह आदी थी। अरोड़ा, अलनासिर, महबूब और उसका ख़ाविंद डेसाई, सब ही उसके इल्तिफ़ात से मुस्तफ़ीद होते रहे। यह चीज़ नज़ीर की ख़ुद्दार तबीयत पर बहुत गिराँ गुज़रती थी। वह ऐसा आदमी है कि एक मतर्बा किसी औरत से ताल्लुक क़ाइम कर ले तो. उसे निभाना चाहता है, मगर सितारा किसी और ही आबोगिल की बनी थी। वह नज़ीर जैसे आदमी से मुतमइन नहीं थी।

मैं इसमें सितारा का कोई क़ुसूर नहीं देखता। जो कुछ भी उससे सरज़द हुआ, सरासर उसकी जिबिल्लत के बाइस हुआ। क़ुदरत ने उसको इस तौर से बनाया है कि वह बादाए-हरजाम ही बनी रहेगी। कोशिश के बावजूद वह अपनी इस फ़ितरत के ख़िलाफ़ नहीं जा सकती।

यासमीन मोतदिल औरत थी। ख़ूबसूरत, निस्वानियत का बडा अच्छा नमूना। मुझे अच्छी तरह याद है कि उसने जब नज़ीर से मुस्तक़िल घरेलू ज़िंदगी बसर करने का इरादा ज़ाहिर किया, तो नज़ीर ने जिसे हज़ारो अश्ख़ाम बहुत सख़्तगीर समझते हैं, यासमीन को इजाज़त दे दी कि वह जिसके साथ शादी करना चाहती है, कर सकती है।

मेरी समझ में नहीं आता कि नज़ीर और सितारा का जिस्मानी ताल्लुक़ इतनी देर कैसे क़ाइम रहा। नज़ीर से मेरी मुलाक़ात हिंदुस्तान सिने टोन में हुई। यह वह जमाना था जब फ़िल्म इंडस्ट्री निहायत नाज़ुक हालत में थी। आज फ़ाइनेन्सर सट्टेबाज़ लाखों के मालिक हैं, तो दूसरे दिन उनका दिवाला पिट रहा है।

हिंदुस्तान सिनेटोन पहले सरोज फ़िल्म कपनी थी। इससे पहले ख़ुदा मालूम उसका क्या नाम था। मैंने एक कहानी 'कीचड़' के उन्वान मे लिखीं। जब मैंने सेठ नानो भाई डेसाई को सुनाई तो उसने बेहद पसंद की। मैं समझता हूँ कि उस ज़माने में जबकि हुकूमत की तरफ़ से सख़्त क़िस्म का एहतिसाब आइद था, कोई प्रोड्यूसर उस कहानी को फ़िल्माने की जुर्अत न करता। मगर नानो भाई दिलेर आदमी था। उसने कहानी ले ली, मगर बाद में माली मुश्किलात दरपेश आईं तो वह मजबूर हो गया।

नज़ीर के लिए मैंने मज़दूर का एक अहम रोल लिखा था जो उसको बहुत पसंद था। जब उसको मालूम हुआ कि माली मुश्किलात के बाइस यह बाग़ी फ़िल्म नहीं बनेगा तो उसने सेठ नानो भाई डेसाई से कहा : "आप यह कहानी मुझे दे दीजिए··· मैं अपना सबकुछ बेचकर इसके फ़िल्माने पर लगा दूँगा···" मगर ऐसी नौबत न आई। नानो भाई को कहानी पसंद थी, चुनाँचे किसी न किसी तरह सर्माए का बंदोबस्त हो गया। फ़िल्म के डायरेक्टर दादा गन्जाल थे, गुजराती–फ़िल्म मुकम्मल होकर रिलीज़ हो गया। लोगों ने उसकी तारीफ़ की, पसंद किया, मगर मैं मुत्मइन न था। लेकिन इसका मेरे मौज़ू से कोई इतना ज्यादा ताल्लुक़ नहीं। मुझे सिर्फ़ यह कहना था कि इस दौरान में नज़ीर को अपनी ज़ाती फ़िल्म कंपनी क़ाइम करने की ख़्वाहिश पैदा हो गई। इसी ज़माने में यासमीन उससे रुख़्सत होने की तैयारियाँ कर रही थी। नज़ीर अज़्म का मालिक है। उसने बहुत जल्द अपना ज़ाती फ़िल्म बनाने का इरादा कर लिया। चुनाँचे जहाँ तक मेरा हाफ़िज़ा काम देता है, उसका पहला फ़िल्म 'संदेसा' था।

इसके बाद उसने अपना दूसरा फ़िल्म बनाया जिसका नाम ग़ालिबन "सोसाइटी" था। उसमें उसने सितारा को भी कास्ट में शामिल किया और जो नतीजा हुआ वह ज़ाहिर है। वह दोनों एक दूसरे में मुदग़म हो गए और बहुत देर तक रहे। लेकिन इस दौरान में जहाँ तक मैं जानता हूँ, सितारा अपने पुराने दोस्तों के हाँ भी आती जाती रही। पी एन अरोड़ा के पास वह अक्सर जाती थी।

मैं आपको एक दिलचस्प लतीफ़ा सुनाऊँ। मुझे बंबई छोड़कर देहली जाना पड़ा। वहाँ मैंने आल इंडिया रेडियो की मुलाज़मत इख़्तियार की। क़रीब-क़रीब एक साल तक मैं बंबई की फ़िल्मी दुनिया के हालातों-कवाइफ़ से ग़ाफ़िल रहा—एक दिन अचानक मैंने नई दिल्ली में अरोड़ा को देखा। हाथ में मोटी छड़ी, कमर दोहरी हो रही थी। यूँ भी बेचारा मुन्हनी क़िस्म का इन्सान है, मगर उस वक़्त बहुत ख़स्ता हालत में था। बड़ी मुश्किल से क़दम उठा रहा था जैसे उसमें जान ही नहीं—मैं ताँगे में था और वह पैदल। ग़ालिबन चहलक़दमी के लिए निकला था। मैंने ताँगा रोका और उससे पूछा कि यह क़िस्सा क्या है। उसका हुलिया क्यों इतना बिगड़ा हुआ है। उसने हाँपते हुए मगर ज़रा फीकी-सी मुस्कराहट के साथ कहा : "सितारा ·मंटो, सितारा," मैं सब समझ गया। मेरा ख़याल है आपको भी समझ जाना चाहिए। अब एक और लतीफ़ा सुनिए। अलनासिर जो अब बहुत मोटा और भद्दा हो गया है, जब वह शुरू-शुरू में फ़िल्म सिटी आया था तो बहुत खुबसूरत था। बड़ा नर्मो-नाज़ुक, सुर्ख़ो-सफ़ेद डेरादून की पहाड़ी फ़ज़ा ने उसको निखार दिया था। मैं तो यह कहूँगा कि वह मिसाइयत की हद तक ख़ूबसूरत था। उसमें वह तमाम अदाएँ थीं जो एक ख़ूबसूरत लड़की में हो सकती हैं। मैं जब देहली में डेढ़ बरस गुज़ारने के बाद सैयद शौकत हुसैन रिज़वी के बुलाने पर बंबई पहुँचा तो उससे मेरी मुलाक़ात मिर्नवा मूवी टोन में हुई। वह गेट के बाहर खड़ा था। मैं हैरतज़दा हो गया। गालों का गुलाबी रँग नदारद। जिस्म पर पतलून ढीली ढाली। ऐसा मालूम होता था कि वह सिकुड़ गया है, निचड़ गया है। मैंने उससे बड़े तश्वीश भरे लहजे में पूछा : "मेरी जान, यह तुमने अपनी क्या हालत

बना ली है।" उसने अपना मुँह मेरे कान के पास लाकर सरगोशी में कहा : "सितारा···मेरी जान, सितारा।"

जहाँ देखो सितारा—मैंने सोचा कि यह सितारा सिर्फ़ ज़र्दियाँ पैदा करने के लिए पैदा हुई है। उधर पी एन अरोड़ा, इँगलैंड का तालीम-याफ़्ता सदा बंद और इधर डेरादून स्कूल का पढ़ा हुआ नौखेज़ लड़का।

अलग ले जाकर जब मैंने उससे पूरी तफ़्सील पूछी तो उसने मुझे बताया कि वह सितारा के चक्कर में पड़ गया था। जिसका नतीजा यह हुआ कि वह बीमार हो गया। जब उसको इस बात का अहसास हुआ कि अगर वह ज़्यादा देर तक उस चक्कर में रहा तो वह ख़त्म हो जाएगा तो वह एक रोज़ टिकिट कटा कर डेरादून चला गया, जहाँ उसने तीन महीने एक सेनीटोरियम में गुज़ारे और अपनी खोई हुई सेहत किसी क़द्र हासिल की। उसने मुझसे यह भी कहा कि वह इस दौरान में उसे हिंदी ज़बान में बड़े लंबे-लंबे ख़त लिखती रही लेकिन वह यह ख़त पढ़ नहीं सकता था, अलबत्ता उनकी आमद से काँप-काँप ज़रूर जाता था उसने फिर मेरे कान में कहा : "मंटो साहब, बड़ी अजीबो-ग़रीब औरत है।"

सितारा असल में है ही अजीबो-ग़रीब औरत। ऐसी औरतें लाख में दो तीन होती हैं। मैं जानता हूँ कि वह कई मर्तबा ख़तरनाक तौर पर बीमार हुई। उसको ऐसे-ऐसे आरिज़े लाहक़ हुए कि आम औरत कभी जाँबर न हो सकती, मगर वह ऐसी सख़्त जान है कि हर बार मौत को गुच्चा देती रही। इतनी बीमारियों के बाद ख़याल था कि उसके नाचने की क़ुव्वतें सल्ब हो जाएँगी, मगर वह अब भी अपने अहदे-जवानी की तरह नाचती है। हर रोज़ घंटों रियाज़ करती है। मालिशिए से तेल की मालिश कराती है और वह सबकुछ करती है, जो पहले करती आई है। उसके घर में दो नौकर होते हैं। एक मर्द, एक औरत। मर्द आमतौर पर उसका मालिशिया होता है। जो औरत है, उसके मुताल्लिक़ मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि वह पुरानी कहानियों की कुटनी मालूम होती है जो आसमान में थिगली लगाया करती थीं। वह औरत मलमल की बारीक साड़ी पहनती है, इतनी बारीक कि उसका सारा ढीला-ढाला जिस्म उसमें से छन-छन कर बाहर आता रहता है और देखनेवालों के लिए कराहत का मूजिब होता है। यह औरत मैंने जब भी देखी, बहुत कमगो, मगर बड़ी तेज़ नज़र देखी। उसकी उम्र कम-अज़-कम पचपन बरस के क़रीब होगी। मगर वह जवानों की मानिंद चाक़ो-चौबंद थी। उसकी आँखें उक़ाब की तरह देखती थीं।

जब सितारा अकेली थी, यानि जब वह किसी एक की होके नहीं रहती थी तो उसका मकान दादर के ख़ुदादाद सरकिल में था और जो सिफ़्तें या क़बाहतें सितारा में हैं वह भी ख़ुदादाद हैं। नज़ीर जो अब स्वर्णलता से मुन्सलिक है, बड़ी ख़ूबियों का मालिक है। उसने बहुत देर तक सितारा को बर्दाशत किया मगर जैसा कि मैं इससे पेशतर अर्ज़ चुका हूँ, वह एक मर्द की औरत नहीं है। चुनाँचे जब नज़ीर तंग आ गया और उसको हत्मी तौर पर मालूम हो गया कि वह उससे निबाह नहीं कर सकता तो उसने एक रोज़ उससे हाथ जोड़ कर कहा : सितारा मुझे बख़्श दो। मुझसे जो ग़लती हो गई है, मैं उसके लिए पशेमान हूँ और तुमसे माफ़ी का ख़ास्तगार।"

नज़ीर, सितारा को मारा-पिटा भी करता था। वह इससे नाख़ुश नहीं थी। ऐसी औरतें ज़दो-कूबे से एक ख़ास क़िस्म की जिन्सी लज़्ज़त महसूस करती हैं, मगर उनसे मुन्सलिका मर्द कब तक हाथा-पाई करता रहे। वह ग़रीब भी एक अर्से के बाद आज़िज़ आ जाता है—अब इसी सिलसिले की एक और कड़ी के मुताल्लिक़ भी सुनिए : जिस ज़माने में सितारा, नज़ीर के यहाँ थी, उसी ज़माने में नज़ीर का भांजा के आसिफ़ भी वहीं था। के आसिफ़ बड़ा तनोमंद नौजवान था, बड़ा हट्टा-कट्टा। जवानी से भरपूर, जिसको औरत ज़ात से शायद कभी साबिक़ा ही नहीं पड़ा था, अपने मामूँ के हाँ रहता था और उससे फ़िल्मी सुनात के मुताल्लिक़ वाक़िफ़ीयत हासिल कर रहा था। दिल में सैकड़ों वलवले थे, बड़े अरमान थे, फिर फ़िल्मी-दुनिया में आकर उसने औरतों और वह भी एक्ट्रेसों को क़रीब से देखा था। उसके अलावा उसने अपने मामूँ नज़ीर और सितारा के बाहमी ताल्लुक़ात भी अपनी आँखों से देखे थे। यह वह ज़माना था, जबकि के आसिफ की जवानी फूटी पड़ती थी। यह वह दौर था, जब मर्द अपनी जवानी के जोश में पत्थरों की दीवार से भी भिड़ जाना चाहता है। और सितारा यक़ीनन एक पथरीली दीवार थी जो किसी से टकराना चाहती थी।

नज़ीर उस ज़माने में रंजीत फ़िल्म स्टूडियों के ऐन सामने एक अहाते के अंदर रहता था। बड़ी ग़लीज़-सी जगह थी। नज़ीर ने एक पूरा फ़्लैट ले रखा था। उसी में उसकी क़ाइम की हुई "हिंद पिक्चर्ज़" का दफ़्तर भी था। दो तीन कमरे थे। उनमें तख़्लिया क्या हो सकता है। चुनाँचे पुरजोश नौजवाम के आसिफ़ को हर वह पहलू देखने का मौक़ा मिला जो मर्दो-जन को बाहमी ताल्लुक़ात से वाबस्ता होता है।

नौजवान आसिफ़ के लिए यह एक नया तजर्बा था। बड़ा हैरत-अँगेज़। उसने अपने शादी-शुदा दोस्तों से इज़्दिवाजी ज़िंदगी के असरार कई बार सुने थे मगर उसे कभी ताज्जुब नहीं हुआ था। उमको मालूम था कि एक बिस्तर होता है, जिस पर इन्सानी फ़ित्रत अपना अज़्ली व अबदी खेल खेलती है। मगर आसिफ़ की आँखों ने जो कुछ एक बार महज़ इत्तिफ़ाक़ से देखा, वह बिलकुल मुख़्तलिफ़ था। बड़ा ख़ौफ़नाक, जिसने उसकी हड्डी-हड्डी झंझोड़ दी। उसने कई बार कुत्तों की लड़ाई देखी थी जो एक दूसरे से बड़े वह्शत-नाक तरीक़े पर गुथ जाते थे। एक दूसरे को झंझोड़ते, भँभोड़ते, काटते और नोचते थे—उसका तन-बदन तर्ज़ गया। उसने सोचा यह मुहब्बत वुहब्बत सब बकवास है। असल में इन्सान दरिंदा है और उसकी मुहब्बत एक बड़ी ख़ौफ़नाक क़िस्म की कुश्ती। मगर उसको अखाड़े में उतरने और ऐसी कुश्ती लड़ने का शौक़ ज़रूर था। उसके बाज़ुओं में कुव्वत थी। उसके बदन में हरारत थी। उसके तमाम पट्ठे फ़ौलादी थे। उसकी ख़्वाहिश थी कि सिर्फ़ एक बार उसे मौक़ा दिया जाए तो वह हरीफ़ को चारों शाने चित गिरा देगा।

उस ज़माने में डायरेक्टर नय्यर[1] भी नज़ीर के साथ था। आसिफ़ और वह दोनों हम-उम्र थे। दोनों कुँवारे और ख़्वाबों की दुनिया में रहनेवाले। आपस में मिलते तो वह

1. अब पाकिस्तान का ज़हीन, मगर बदकिस्मत डायरेक्टर।

औरतों की बातें करते, उन औरतों की जो मुस्तक़बिल में उनकी होने वाली थीं। पर जब सितारा का ज़िक्र आता तो दोनों काँप उठते और एक ऐसी दुनिया में चले जाते जहाँ जिन, देव और चुड़ैलें रहती हैं।

उनको क्या मालूम कि निम्फोमेनियक औरत क्या होती है। उनको क्या मालूम कि सितारा के मुकाबले में ऐसी औरतें भी हैं जिन्हें अगर बर्फ़ की सिल कहा जाए तो बजा है।

लेकिन उनको इतना मालूम था कि सितारा, नज़ीर के साथ वफ़ादार नहीं। वह हरजाई है—यूँ तो नज़ीर की होलटाइम दाश्ता के तौर पर रहती है मगर पी एन अरोड़ा के पास भी जाती है और कभी-कभी अपने पति डेसाई के पास भी, जो बेचारा बड़े हसरत के दिन गुज़ार रहा था—और फिर और भी थे, जिनमें अलनासिर भी शामिल था।

दोनों चक्राए-चक्राए रहते थे। उनकी समझ में कुछ नहीं आता था। नज़ीर के बिस्तर की हर शिकन का पस मन्ज़र उनको मालूम था। नज़ीर के खुरदुरे और गहरे साँवले रंग के चेहरे की गेन्डे ऐसी सख़्त खाल पर जो आए दिन दाग़-धब्बे पड़ते थे, उसका जवाज़ भी उनको मालूम था, लेकिन इस क़द्र दोनों को यक़ीन था कि यह सिलसिला ज़्यादा देर तक नहीं चलेगा, मगर वह चलता रहा अपने मामूल के मुताबिक़।

सुबह-सवेरे सितारा उठती और दूसरे कमरे में रियाज़ शुरू कर देती। यह भी हैरतनाक चीज थी कि सुबह उठते ही दो घंटे लगातार वहशियों की मानिंद नाचती रहे। ऐसे-ऐसे तोड़े ले कि ज़मीन घूम जाए। तबलची के हाथ शल हो जाएँ, मगर उसे कुछ न हो। रियाज़त के बाद वह अपने एक मख़्सूस मालिशिए से मालिश कराती थी। उसके बाद नहा-धोकर वह नज़ीर के कमरे में जाती जो कि सो रहा होता। उसको जगाती और अपने हाथ से दूध या ख़ुदा मालूम किस चीज़ का एक प्याला उसे ज़बरदस्ती पिलाती। और फिर एक दूसरा नाच शुरू हो जाता। यह सब कुछ आसिफ़ और नैयर की आँखों के सामने हो रहा था—उनकी उम्र तजस्सुस की उम्र थी, जब आदमी ख़ाली कमरों में भी ख्वाह-मख्वाह खिड़की की दर्ज़ों से झाँक कर देखता है। रौशनदानों से भरे कमरों का जाइज़ा लेता है। ज़रा-सी आवाज़ आने पर उसके कान खड़े हो जाते हैं और वह उनमें मानी भरने की कोशिश करता है। नैयर आसिफ़ के मुक़ाबले में जिस्मानी लिहाज़ से बहुत कमज़ोर था। उसकी जिन्सी ख्वाहिशें भी इसी लिहाज़ से मोतदिल थीं, मगर आसिफ़ के मज़बूत और तनोमंद जिस्म की रग-रग में बिजली भरी हुई थी जो किसी पर गिरना चाहती थी। इसीलिए आसिफ़ चाहता था कि अंधेरी रात हो, आसमान पर काले बादलों का हुजूम हो, कान बहरे कर देने वाली बिजली की कड़क हो और तूफ़ाने-वादो-बाराँ में वह किसी का हाथ मज़बूती से पकड़े और उसे खींचता कहीं दूर ले जाए जहाँ पत्थरों का बिस्तर हो।

नज़ीर का अज़ीज़ होने के बाइस सितारा घंटों आसिफ़ के पास बैठी रहती और इधर-उधर की बातें करती रहती थी। जूँ-जूँ वक़्त गुज़रता गया, आसिफ़ का हिजाब कम होता गया जो वह लाहौर से अपने साथ लाया था, मगर उसको इतनी जुर्अत नहीं थी कि वह सितारा को हाथ लगाता, क्योंकि वह अपने मामूँ की सख़्तगीर तबीयत से वाक़िफ़ था और उससे डरता था—लेकिन इस दौरान में वह इतना जान गया था कि सितारा उसकी तरफ़

माइल है। वह जब भी चाहे उसकी कलाई अपने मज़बूत हाथ में पकड़कर उसे जहाँ चाहे ले जा सकता है—मगर वह घुप अँधेरी रात, वह तूफ़ाने-बादो-बाराँ और वह पत्थरों का बिस्तर!

आसिफ़ झुंझला रहा था कि क़ुदरत इतनी तावीक़ क्यों कर रही है। जो होना है, आज ही क्यों नहीं हो जाता। गाड़ियाँ जिन्हें कल एक दूसरे से टकराना है.आज ही क्यों नहीं टकरा जातीं। मगर यह कैसे होता जब तक काँटा बदलने वाला काँटा न बदलता।

वह दो गाड़ियों की तरह एक प्लेट फ़ार्म पर रुकते थे मगर उनमें फ़ासला होता था। बहुत मामूली-सा फ़ासला, मगर जिस तरह एक गाड़ी दूसरी गाड़ी से हमकिनार नहीं हो सकती, इसलिए कि वह अपनी-अपनी पटरियों के साथ जकड़ी होती हैं, उसी तरह वह भी एक दूसरे से हमकिनार नहीं हो सकते थे।

जिस तरह इधर के मुसाफ़िर उधर के मुसाफ़िरों से खिड़कियों में से सर बाहर निकाल-निकालकर बातें करते हैं, उसी तरह वह भी करते थे, मगर फ़ौरन एक गाड़ी उधर रवाना हो जाती और दूसरी इधर। आसिफ़ को बड़ी झुंझलाहट होती थी, मगर वह घुप अँधेरी रात और तूफ़ाने-बादो-बाराँ का मुंतज़िर था।

आख़िर वह घुप अंधेरी रात, तूफ़ाने-बादो-बाराँ, रअदो-बर्क़ की जुमूला होलनाकियों के साथ आ ही गई।

बिलआख़िर सितारा के करतूत देखकर नज़ीर भौंचका होके रह गया।

नज़ीर के सर से अब पानी गुज़र चुका था। काफ़ी लान-तान के बाद उसने सितारा से कहा : "अब तुम यहाँ नहीं रह सकतीं ··अपना बिस्तरा फ़ौरन गोल करो।"

सितारा, कुछ भी हो, आख़िर औरत ज़ात है। नज़ीर की सरज़निश के बाद उसमें इतनी ताक़त नहीं थी कि वह अकेली अपना बिस्तरा गोल कर सकती। नज़ीर से वह कैसे मदद माँगती। वह ग़ुस्से में बिफरा, मुँह में झाग निकालता बाहर निकलकर अपने दफ़्तर में जा बैठा। आसिफ़ ने उसके यह तेवर देखे तो उसको यक़ीन हो गया कि वह अंधेरी रात आ गई।

थोड़ी देर वह ख़ामोश बैठा रहा। उसके बाद उठा और आहिस्ता-आहिस्ता दूसरे कमरे में पहुँच गया, जहाँ सितारा पलँग पर बैठी अपनी चोटें सहला रही थी।

चंद बातों ही से उसे मालूम हो गया कि मामला ख़त्म है। दिल ही दिल में वह बहुत ख़ुश हुआ। चुनाँचे उसने सितारा को ढारस दी, कुछ इस तौर पर कि एक नया मामला शुरू हो गया।

आसिफ़ ने उसका बिस्तर बोरिया बांधा और उसके साथ उसके घर वाक़े दादर, ख़ुदादाद सरकिल छोड़ने गया।

यहाँ सितारा ने आसिफ़ का बहुत-बहुत शुक्रिया अदा किया।

आसिफ़ ने जुर्अत से काम लेकर सितारा का हाथ पकड़ लिया और कहा : "इसकी क्या जरूरत थी सितारा।"

सितारा ने अपना हाथ आसिफ़ की गिरफ़्त से छुड़ाने की कोशिश न की, मगर आसिफ़

मुत्मइन न था। थोड़ी देर राज़ो-नियाज़ की बातें हुईं। सितारा ने आसिफ़ को अपने उस सहर का मूना भी चखाया, जिससे वह उस वक़्त तक सैकड़ों मर्दों को—दुबले-पतले, हट्टे कट्टे, ज़िद्दी और वहशी—अपनी ख़्वाहिशात का ग़ुलाम बना चुकी थी।

अगर दिन होता तो आसिफ़ को यक़ीनन तारे नज़र आ जाते, मगर रात को उसे ख़ुदादाद सरकिल के उस फ्लैट में दिन तुलू होता नज़र आया—उसकी मसर्रतों का दिन। मगर वह फिर भी मुत्मइन नहीं था। उसने सितारा से कहा, "देखो, तुम्हारा मेरा संबंध बहुत मज़बूत होना चाहिए। हरजाई पन छोड़ो। बस एक की हो जाओ।"

सितारा ने उसे यक़ीन दिलाया कि वह आसिफ़ के सिवा किसी की तरफ़ आँख उठा कर भी न देखेगी। आसिफ़ मुत्मइन हो गया, मगर इस ख़ौफ़ से कि नज़ीर उससे इतनी देर लगाने की वजह न पूछ बैठे, आशिक़े-सादिक़ की तरह उसका हाथ चूमकर चला गया, और वादा कर गया कि वह दूसरे रोज ज़रूर आएगा।

वह गया तो सितारा उठी, सिंगार मेज़ के पास जाकर उसने अपने बाल दुरुस्त किए, साड़ी तबदील की और किसी की तरफ़ आँख उठाए बगैर नीचे उतरी और टैक्सी लेकर पी एन अरोड़ा के पास चली गई।

जुम्ला मोतरिज़ा है, लेकिन हुआ करे। कहना यह है कि सितारा को मुझसे सख़्त नफ़रत थी। मैं मुसव्विर का एडिटर था और बेलाग लिखता था।" बाल की खाल" और "नित नई" के कालमों में कई बार मैंने उसकी दुरगत बनाई थी, लेकिन बड़े सलीक़े से। उसमें कोई सूक़ियाना पन नहीं था। फिर भी वह नाराज़ थी। और मुझे उस नाराज़ी की, सच पूछिए तो कोई पर्वा भी नहीं थी, इसलिए कि मुझे उससे कोई ग़र्ज़ नहीं थी। और यूँ भी मैं फ़िल्मी हस्तियों से दूर-दूर ही रहता था।

मैंने "नित नई" या "बाल की खाल" के कालमों में जब नज़ीर और उँसकी लड़ाई का ज़िक्र ज़रा नमक-मिर्च लगा-के किया तो वह बहुत सीख़-पा हुई और उसने मुझे ख़ूब-ख़ूब गालियाँ दीं।

इसके बाद जब मुझे अपने जासूसों के जरिए से आसिफ़ और उसके ख़ुफ़िया मुआश्क़े का पता चला और मैंने चुभते हुए इशारों और किनायों में उसका ज़िक्र अपने कालमों में किया तो वह भन्ना गई और उसने आसिफ़ से कहा: "तुम इस शख़्स को पीटते क्यों नहीं ख़ुद नहीं पीटते तो किसी से पिटवाओ या किसी और अख़बार वाले से कहो कि वह उसे अपने अख़बार में ढेरों की ढेर गालियाँ दे।"

आसिफ़ बड़े ज़र्फ़ का आदमी है। उसमें बुर्दबारी है। तहम्मुल है। मज़ाक़ समझने की अहलियत रखता है, हालाँकि अनपढ़ है। उस ने सितारा की यह बातें इस कान सुनीं, उस कान निकाल दीं।

मामला अब ज़्यादा नज़ाकत इख़्तियार कर गया था। यह तो आपको मालूम हो चुका है कि सितारा किस क़िस्म की औरत है। अगर उससे किसी मर्द का वास्ता पड़ जाए तो उसकी रिहाई मुश्किल हो जाती है। फ़क़त एक अलनासिर ही था, जो चंद माह उसके साथ गुज़ार कर डेरादून भाग गया, वर्ना एक रोज़ उसकी अंतड़ियाँ बिलकुल जवाब दे देतीं और उसकी

क़ब्र बंबई के क़ब्रस्तान में बनी होती, जिसके कत्बे पर कुछ इस क़िस्म का शेर मर्क़ूम होता :

लहद पे मिरी वह पर्दा-पोश आते हैं।
चिराग़े-गोरे-ग़रीबाँ, सबा, बुझा देना।

हाँ तो मामला बहुत नज़ाकत इख़्तियार कर गया था, इसलिए कि नज़ीर के दिल में शुकूक पैदा हो रहे थे। वह सोचता था, यह मेरा भांजा इतनी-इतनी देर कहाँ ग़ाइब रहता है—जब वह उससे पूछता तो वह कोई बहाना पेश कर देता।—मगर यह बहाने कब तक चलते। उनका स्टाक एक रोज़ ख़त्म होना ही था।

नज़ीर के दिल में सितारा के लिए अब कोई जगह नहीं थी। वह ऐसा आदमी नहीं कि अपना फ़ैसला तबदील कर दे। उसको सितारा की नहीं, आसिफ़ की फ़िक्र थी। अपने भांजे की, जिसको वह अपना अज़ीज़ समझता था और जिस को उसने सिर्फ़ इस ग़र्ज़ से अपने पास रखा था कि वह कुछ बन जाए।

अलबत्ता उसको फ़िक्र थी कि वह कहीं उस औरत के हत्ते न चढ़ जाए। वह उस औरत के साथ कई बरस गुज़ार चुका था। उस की रग-रग और नख़-नख़ से वाक़िफ़ था। उसको मालूम था कि आसिफ़ जैसे नौजवान उसका मन भाता खाजा हैं। और उनको अपने दाम में फँसाना उस ऐसी तजुर्बेकार औरत केलिए कोई मुश्किल काम नहीं था। लुत्फ़ की बात तो यह है कि वह ख़ुद-बख़ुद उसके दाम के नीचे आ जाते थे। एक बार फँस जाते तो फिर रिहाई मुश्किल हो जाती थी।

सितारा से किसी मर्द का साबिक़ा पड़ जाए और इत्तिफ़ाक़ से वह सितारा को पसंद आ जाए तो फिर दिन और रात का बेशतर हिस्सा उसी के साथ काटना पड़ता है। नज़ीर को आसिफ़ की पे-दरपे ग़ैर हाजिरियों ही से पता चल गया था। मगर जब आसिफ़ कहता "मामूं जान, यह आप क्या कह रहे हैं। मैं इसके मुताल्लिक़ तो सोच भी नहीं सकता" तो वह शशो-पंज में पड़ जाता। लेकिन दिल में उसे पूरा यक़ीन था कि यह लौंडा फँस चुका है, और झूठ बोल रहा है।

आसिफ़ वाक़िई झूठ बोल रहा था। मामला अगर किसी और औरत का होता तो वह यक़ीनन कभी झूठ न बोलता, मगर सितारा उसके मामूँ की दाश्ता थी। उसके साथ वह ऐसे ताल्लुक़ात क़ाइम नहीं कर सकता था, वह ताल्लुक़ात जो क़ाइम हो चुके थे।

पीछे हटना और फ़रार अब बहुत मुश्किल था। आसिफ़ इस "ज़ने तस्मा पा" की गिरफ़्त में था। भाग निकलने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। उधर नज़ीर की आँखों में बराबर ख़ून उतर रहा था। उसको बस एक मौक़ा चाहिए था, ऐसा मौक़ा कि वह सबकुछ ख़ुद अपनी आँखों से देखे।

एक रोज़ नज़ीर ने वह सबकुछ देख भी लिया जो वह ख़ुद अपनी आँखों से देखना चाहता था। मेरा हाफ़िज़ा साथ नहीं देता। मुझे सारे वाक़िआत अच्छी तरह मालूम थे। मगर अब इतना अर्सा गुज़र गया है और बहुत-सी बातें ज़ेहन से उतर गई हैं। वह ख़ून जो नज़ीर की आँखों में एक अर्से से उतर रहा था, वह उस वक़्त पी गया और उन दोनों पर टूट

पड़ा।

आसिफ़ ने अपने मामूँ को क़स्में खा-खाकर यक़ीन दिलाने की कोशिश की कि वह दोनों बेगुनाह हैं। उनके दरमियान ऐसा कोई रिश्ता, ऐसा कोई ताल्लुक़ नहीं जिसके लिए उन्हें मूरिदे-अताब बनाया जाए—लेकिन नज़ीर उस वक़्त कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं था। ऐसा मालूम होता था कि वह मार-मार के उन दोनों की हड्डियाँ-पस्लियाँ तोड़ देना चाहता है ताकि सारा क़िस्सा ही ख़त्म हो मगर मजीद[1] ने बड़ी होशियारी से बीच-बचाओ कर दिया।

नज़ीर मान गया। वह बहुत कम किसी की माना करता है या मगर उन दिनों मजीद, अंग्रेज़ी मुहावरे के मुताबिक़ उसकी "अच्छी किताबों" में था।

मजीद के आसिफ़ और सितारा के मुआश्क़े का इल्म था। सुना है कि उसने आसिफ़ को कई बार मुत्नबे किया था कि वह उस ख़तरनाक खेल से बाज़ आ जाए, मगर जवानी के वह दीवाने दिन, जिनमें से आसिफ़ की ज़िंदगी गुज़र रही थी, आसिफ़ और सितारा न माने और नतीजा इसका यह हुआ कि वह राज़, जिनको वह अपनी दानिस्त के मुताबिक बड़े दबीज़ पर्दों के अंदर छुपाए बैठे थे, फ़ाश हो गया।

नज़ीर जैसा कि मैं इससे पहले अर्ज़ कर चुका हूँ, बहुत सख़्तगीर आदमी है। ऐसे बहुत कम आदमी हैं, जिनको मालूम है कि वह नर्म दिल भी है। जो काम वह ख़ुद करता है, उसकी अच्छाई बुराई का शऊर रखता है जो ओस्त दर्जे का आदमी नहीं रखता। वह सितारा से एक अर्से तक जिस्मानी-तौर पर वाबस्ता रहा वह नहीं चाहता था कि यह वाबस्तगी आसिफ़ की सितारा से भी हो।

आसिफ़ उसका भांजा था। कहा जा सकता है कि वह इसी रिश्ते की बिना पर आसिफ़ और सितारा का मिलाप पंसद नहीं करता था मगर मैं जो नज़ीर के किर्दार के तमाम टेढ़े-तिरछे ज़ाबियों से वाक़िफ़ हूँ, वुसूक़ से कह सकता हूँ कि अगर आसिफ़ के बजाय कोई और आदमी होता तो वह उससे भी यही कहता: "देखो, इस औरत से बचो एक सिर्फ़ मैं ही था जिसे अपनी तवानाई और क़ुव्वत पर नाज़ था, लेकिन मैं भी हार गया "

नज़ीर ख़ुलूस का पुतला है, एक ऐसे ख़ुलूस का जो हर वक़्त बड़ा दुरुश्त और खुरदुरा लिबास पहने रहता है।

नज़ीर ने मजीद के कहने पर सितारा और आसिफ़ दोनों को छोड़ दिया, इसलिए भी कि आसिफ़ ने अपने मामूँ को यक़ीन दिलाया था कि उन दोनों के ताल्लुक़ात बिलकुल पाक और साफ़ हैं।

नज़ीर चला गया, मगर मुत्मइन नहीं थो। बज़ाहिर वह एक अक्खड़ आदमी मालूम होता है, शै लतीफ़ से कोरा, मगर वह दूसरों के दिल की गहराइयों में एक माहिर ग़ोताजन की तरह उतर सकता है और फिर वह सितारा की एक-एक रग से वाक़िफ था। और जिस उम्र से आसिफ़ गुज़र रहा था, उसमें तो वह छलाँगें लगाता गुज़र चुका था। उसने ऐसी कई

1. उस ज़माने का एक एक्टर

मंजिलें देखी थीं जो आसिफ़ शायद सारी उम्र में भी न देख सके—वह मुत्मइन नहीं था।

इस हादिसे के बाद आसिफ़ और सितारा के दरमियान कुछ देर बातें हुईं। वादे-वईद हुए। क़स्में खाई गईं कि वह कभी एक दूसरे से जुदा न होंगे, वग़ैरा-वग़ैरा। इसके बाद आसिफ़ ने सच्चे आशिक़ों के अंदाज़ में सितारा से रुख़्सत ली और चला गया।

सितारा ने अपना मेकअप दुरुस्त किया, नए कपड़े पहने और टैक्सी मँगवाकर पी एन अरोड़ा के पास चली गई, जिसकी सेहत देहली के हकीमों के इलाज से अब किसी क़द्र बहाल हो चुकी थी और उसके पिचके हुए गालों में थोड़ा-सा गोश्त आ गया था।

अलनासिर भी था, डायरेक्टर महबूब भी थे, और ख़ुदामालूम और कितने थे। आसिफ़ गो एक बहुत ही कड़े मरहले से गुज़र चुका था मगर उसने सितारा के यहाँ अपनी आमदो-रफ़्त अक्सर मुन्क़ता न की और वह कर भी कैसे सकता था, जबकि पुरानी जादूगरनियों की तरह उस जादूगरनी ने आसिफ़ को एक मक्खी बनाकर अपनी दीवार के साथ चिपका रखा था। अब सिर्फ़ नजात का एक ही रास्ता था कि पुरानी कहानियों का कोई शहज़ादा सुलेमानी तावीज़ के ज़रिए से उस जादूगरनी का मुक़ाबला करता और अन्जामे-कार आसिफ़ उसके चुंगल से निकलता।

मैं जानता हूँ और अच्छी तरह जानता हूँ कि ताक़तवर से ताक़तवर सुलेमानी तावीज़ भी सितारा पर असर अंदाज़ नहीं हो सकता। वह एक ऐसा हिसार है जिसे लंधोर भी सर नहीं कर सकता।

यह चक्कर यूँ ही चलता रहा। नज़ीर और आसिफ़ के ताल्लुक़ात रोज़-बरोज़ कशीदा होते चले जा रहे थे।

हाँ मैं एक बात कहना भूल ही गया। जब नज़ीर ने सितारा का बिस्तरा गोल किया था तो रफ़ीक़ ग़ज़नवी, मशहूर मौसीक़ार ने मुफ़ाहमत की कोशिश की। उसने सितारा, अरोड़ा और नज़ीर को अपने यहाँ बुलाया। शराब के दौर चले। रफ़ीक़ ने, जो गुफ़्तार का ग़ाज़ी है, बड़े फ़लसफ़ियाना अंदाज में गुफ़्तार और शराब के कई पैग पिलाए मगर कोई सूरत पैदा न हुई और जब कोई सूरत पैदा न हुई तो ख़ुदबख़ुद एक सूरत पैदा हो गई। रात भर सितारा, रफ़ीक़ के फ़्लैट में रही और वह उसको समझाता रहा कि अब कोई सूरत पैदा नहीं हो सकती।

अजीब बात है रफ़ीक ने फिर मुफ़ाहमत की कोशिश न की और न सितारा उसके यहाँ रात को यह सुनने के लिए गई कि अब कोई सूरत पैदा नहीं हो सकती। शायद इसलिए कि सितारा के किसी तोड़े में रफ़ीक़ को एक दो मातरे कम महसूस हुए होंगे। और यह भी हो सकता है कि सितारा ने यह भी महसूस किया हो कि रफ़ीक़ सुर से एक-आध सूत्र ऊपर या नीचे गाता है—इसके मुताल्लिक़ वुसूक़ से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब हम फिर सितारा और आसिफ़ की तरफ़ पलटते हैं। सितारा उस पर बहुत बुरी तरह लट्टू थी कि वह नौजवान ख़ामकार था। उसकी ज़िंदगी में सितारा शायद सबसे पहली औरत थी।

कहा जाता है कि नज़ीर ने एक बार फिर छापा मारा और दोनों को ऐन मौक़े पर जा

पकड़ा। इस दफ़ा किसने बीच-बचाव किया, इसका मुझे इल्म नहीं। बहरहाल मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया, क्योंकि आसिफ़ ने अपने मामूँ को फिर यक़ीन दिला दिया कि उसके और सितारा के दरमियान ऐसी वैसी कोई बात नहीं—आसिफ़ और सितारा के सर से आई बला एक दफ़ा फिर टल गई, मगर इसका नतीजा यह हुआ कि एक दिन आसिफ़ ग़ाइब हो गया। दूसरे दिन मालूम हुआ कि सितारा भी ग़ाइब है। इस्तिफ़सार पर मालूम हुआ कि वह किसी तीर्थ की यात्रा करने गई है। अगर मौसम हज का होता तो यार लोग यक़ीनन उड़ा देते कि हज़रते आसिफ़ हज करने गए हैं।

मुझे मालूम नहीं, वह दोनों कहाँ गए थे। देहली से ख़बर मौसूल हुई कि सितारा मुशर्रफ़-बाइस्लाम हो चुकी है और उसका इस्लामी नाम अल्लाह रक्खी रखा गया है। और यह कि आसिफ़ ने उससे बाक़ाइदा निकाह पढ़वा लिया है।

उसके मामूँ नज़ीर पर इसका क्या रद्दे-अमल हुआ, इसके मुताल्लिक़ आप ख़ुद सोच सकते हैं। पुर-लुत्फ़ बात यह है कि हिंदुओं के क़ानून के मुताबिक़ तलाक़ हो ही नहीं सकती। औरत एक दफ़ा किसी मर्द से वाबस्ता हो जाए तो सौ हीले करने पर भी ख़ुद को अपने पति से जुदा नहीं कर सकती। यूँ वह आवारा गर्दी कर सकती है, सैकड़ों मर्दों की आग़ोश की ज़ीनत बन सकती है, मगर रहेगी अपने पति की पत्नी। और यह भी है कि हिंदू औरत चाहे दूसरा मज़हब इख़्तियार कर ले मगर उसकी असल पोज़ीशन में फ़र्क़ नहीं आ सकता। इस लिहाज़ से गो सितारा, अल्लाह रक्खी बनकर बेगम के आसिफ़ हो गई थी मगर क़ानून की नज़रों में वह मिसिज़ डेसाई थी, उस बीमार सूरत डेसाई की बीवी जो रोटी कमाने के लिए बहुत बुरी तरह हाथ-पाँव मार रहा था।

जब इस ख़बर की तस्दीक़ हो गई तो मैंने 'मुसव्विर' के कालमों में जी भर के लिखा। क़रीब-क़रीब हर हफ़्ते इस नए ब्याहता जोड़े का ज़िक्र होता था, बड़े तन्ज़िया, फ़रहैया और फ़िकाहिया अंदाज में।

माहे-अस्ल यानी हनीमून मनाने के बाद जब यह जोड़ा बंबई वापस आया तो नज़ीर ख़ून के घूँट पीके रह गया। एक दफ़ा मुझे रेसकोर्स जाने का इत्तिफ़ाक़ हुआ। मैंने देखा कि हुजूम में से आसिफ़, शार्क स्किन के बेदाग सूट में मलबूस, फुरतीली सितारा की कमर में हाथ दिए चला आ रहा है। जब वह मेरे क़रीब पहुँचा तो वह पहले मुस्कराया, फिर हँसने लगा। और मेरी तरफ़ हाथ बढ़ा कर कहने लगा "भई ख़ूब, बहुत ख़ूब नमक-मिर्च, और बाल की खाल के कालमों में तुम जो लिख रहे हो, ख़ुदा की क़सम, लाजवाब है।"

सितारा त्यौरी चढ़ाकर एक तरफ़ हट गई मगर आसिफ़ ने उस तरफ़ कोई तवज्जो न की और मुझसे बड़े बुलंद-बाँग ख़ुलूस के साथ देर तक बातें करता रहा। मैं इससे पेशतर अर्ज़ कर चुका हूँ कि वह बड़े ज़र्फ़ का आदमी है। और अनपढ़ होने के बावजूद मिज़ाह और फ़िकाह समझने की अहलियत रखता है।

अब बंबई में हर शख़्स को, जिसे फ़िल्मी सन्अत से दिलचस्पी थी, मालूम हो चुका था कि कोई आसिफ़ है जिससे सितारा ने शादी कर ली है। भिंडी बाज़ार और मौहम्मद अली रोड के इरानी होटलों में, पंजाब और यू.पी. के मुसलमान जो मुस्लिम लीग की हिमायत में

थे, चाय की प्यालियाँ सामने रखकर अपनी बेपनाह मसर्रत का इज़हार करते थे कि मियाँ भाई ने एक काफ़िर औरत को मुसलमान करके अपने अक़्द में ले लिया है।

बाज़ कहते थे कि आसिफ़ को अब उस साली से एक्टिंग नहीं करानी चाहिए।

बाज़ कहते थे : "कोई वांदा[1] नहीं मगर जब बाहर निकले तो पर्दा ज़रूर किया करे।

बाज़ कहते थे : "हटाओ यार, यह सब अस्टन्ट है।"

बहरहाल जहाँ तक मैं समझता हूँ आसिफ़, सितारा से क़ानूनी तौर पर शादी कर चुका था—एक अर्से के बाद जब मैंने उससे पूछा : "क्यों धाँसू, क्या वाक़िई सितारा तुम्हारी मन्कूहा बीवी है?" तो वह हँसा : "कैसा निकाह और कैसी शादी?"

अब अल्लाह ही बेहतर जानता है कि असल मामला क्या था और क्या है।

आसिफ़ का अपना मकान कोई भी नहीं था। बस दोनों वहीं ख़ुदादाद सरकिल, दादर में रहते थे और खुलेबंदों रहते थे। सितारा की मोटर थी। उसमें घूमते थे।

मेरा ख़याल है, देहली में आसिफ़ ने शायद लाला जगत नारायन को इस बात पर आमादा कर लिया था कि वह उसे एक फ़िल्म बनाने का सरमाया दे। उसमे शायद उसने कुछ एडवांस भी लिया होगा, जभी तो वह तँगदस्त नहीं था।

आसिफ़ में एक बहुत बड़ी ख़ूबी है कि ख़ुद एतिमाद है। उसके अंदर अहसासे-कमतरी का शाइबा तक मौजूद नहीं। वह बड़े-बड़े डायरेक्टरों और स्टोरी राइटरों के छक्के छुड़ा देता है, महज़ अपनी ख़ुदा-दाद क़ाबिलीयत की बदौलत। उस ख़ुदा-दाद क़ाबिलीयत को मैं हाउस सेन्स कहा करता था, आसिफ़ के सामने भी, मगर उसने कभी बुरा न माना।

आसिफ़ जब डायरेक्टर बना तो दूसरे तँग ख़याल और कम ज़र्फ़ डायरेक्टरों की मानिंद उसने अपना हल्क़ाए-फ़िक्रो-नज़र महदूद न रखा। उसने हर दिमाग़ को दावत दी कि वह कोई अच्छी चीज़ पेश करे, जिसे वह बख़ुशी क़ुबूल करेगा।

मैं ख़ुदा मालूम कहाँ का कहाँ चला गया हूँ, मगर यहां मुझे एक लतीफ़े का ज़िक्र करना इसलिए दिलचस्प मालूम होता है कि मेरी ज़ात से मुताल्लिक़ है।

आसिफ़ उन दिनों "फूल" बना रहा था। मैं अपने फ़्लैट वाक़े क्लीयर रोड में था कि नीचे से मोटर के हार्न की ताबड़तोड़ आवाज़ें आईं। मैंने बाहर बाल्कनी में निकलकर देखा। एक बहुत बड़ी मोटर नीचे खड़ी थी। जब मैं जँगले पर झुका तो पिछली सीट से आसिफ़ ने खिड़की में से अपना वजनी सर बाहर निकाला और मुस्कराया—मैंने उससे कहा : "आओ, क्या बात है?"

उसने दरवाज़ा खोला और पिछली सीट पर बैठी सितारा से कुछ कहा। इसके बाद मुझसे मुख़ातिब हुआ : "आता हूँ और बताता हूँ।"

लंबी-चौड़ी मोटर का इंजन स्टार्ट हुआ और वह चश्म-ज़दन में एडलफ़ी चैंबर्स के अहाते से बाहर निकल गई। आसिफ़ ने सीढ़ियों का रुख़ किया।

मैंने दरवाज़ा खोल दिया। एक मिनट में आसिफ़ अंदर दाख़िल हुआ और बड़े पुरजोश

1. हर्ज

अंदाज़ में मुझसे हाथ मिलाकर कहने लगा : "मैं तुम्हें अपनी कहानी सुनाने आया हूँ।"

मैंने अज़-राहे-मज़ाक़ कहा : "तुम्हें मालूम है, मैं फ़ीस लिया करता हूँ?"

आसिफ़ ने कुछ न कहा। मुझसे हाथ मिलाया और उलटे पाँव वापस चला गया। मैंने उसको आवाजें दीं। उसके पीछे दौड़ता गया, मगर उसने मेरी एक न सुनी। बस इतना कहा कि वह फ़ीस लेकर आएगा तो कहानी सुनाएगा वर्ना नहीं।

मैं बहुत पशेमान हुआ कि मैंने उससे ऐसा मज़ाक़ किया—मैं समझता था कि वह मेरी उस बात को उसी रँग में लेगा, जिस रँग में वह कही गई थी मगर मामला, इसके बरअक्स निकला और वह चला गया।

मैं ऊपर आया और अपनी बीवी से सारा क़िस्सा बयान किया तो उसने साफ-साफ लफ़्ज़ों में कहा कि यह मेरी ऐन हिमाक़त थी, इसलिए कि आसिफ़ मेरा बेतकल्लुफ़ दोस्त नहीं था। और यह वाक़े है कि उसके और मेरे मरासिम कुछ ज़्यादा नहीं थे। चूँकि वह और मैं तबअन साफ़ गो, दिल-शिकन हद तक साफ़ गो हैं, इसलिए जब मैंने उससे फ़ीस का मजाक किया था तो मेरे दिलो-दिमाग़ में कोई ऐसी बात नहीं थी जिससे मुझे उसके जज़्बात मजरूह करना मतलूब थे और न मैं ऐसा बनिया हूँ कि उससे रुपए का तक़ाज़ा करता। मुझे तो सिर्फ़ कहानी सुनना थी और बस।

मैं कई डायरेक्टरों से उनकी थर्ड क्लास कहानियाँ, एक नहीं चार-चार मर्तबा सुन चुका था, क्योंकि वह मेरी राय के तालिब होते थे। मैंने उनसे कभी अपने वक़्त की, जो कि ज़ाहिर है ज़ाया होता था, क़ीमत तलब नहीं की थी।

मुझे अफ़्सोस था कि मैंने आसिफ़ को नाराज़ किया। मैं उसके मुताल्लिक़ सोच ही रहा था कि दरवाज़े पर दस्तक हुई। मैंने दरवाज़ा खोला। एक आदमी खड़ा था। उसने एक लिफ़ाफ़ा मेरे हाथ में दिया और चला गया। मैं अभी लिफ़ाफ़ा खोल ही रहा था कि नीचे से की आवाज़ आई। मैंने बाल्कनी में जाकर देखा। सितारा की कार थी। और वह एडलफ़ी चैंबर्स के गेट से बाहर निकल रही थी।

लिफ़ाफ़ा खोलकर मैंने देखा कि सौ-सौ के पाँच नोट हैं। उनके साथ एक मुख़्तसर-सी तहरीर थी; "फ़ीस हाज़िर है। अब मैं कल आऊँगा।"

मैं भौंचक्का रह गया।

दूसरे रोज़ सुबह नौ बजे के क़रीब वह उसी कार में आया। सितारा साथ थी, मगर वह ऊपर न आई। आसिफ़ को दस्तक देने की ज़रूरत महसूस न हुई, इसलिए कि दरवाज़ा खुला था और मैं उसके इस्तिक़बाल के लिए दहलीज़ में खड़ा था।

उसने मुझे देखते ही कहा : "क्यों डॉक्टर साहब, फ़ीस मिल गई आपको?"

मैं बहुत शर्मिंदा हुआ, जिसका इज़हार मैंने बड़े पुर-ख़ुलूस और मौज़ूँ व मुनासिब अल्फ़ाज़ में किया और वह पाँच सौ उसको वापस करना चाहे।

आसिफ़ अपने मख़सूस अंदाज़ में हँसा और सौफ़े पर अपनी निशस्त जमाकर कहने लगा : "मंटो साहब, आप किस ख़याल में हैं। यह पैसा मेरा है न मेरे बाप का। प्रोड्यूसर का है। ग़लती मेरी थी, जो मैं बग़ैर फ़ीस के चला आया, हालाँकि मेरी नीयत वल्लाह हरगिज़

यह नहीं थी कि मुफ़्तों मुफ़्ती काम कराया जाए। आपका वक़्त यक़ीनन ज़ाया होगा और उसकी क़ीमत, ख़ुदा की क़सम, आपको ज़रूर मिलनी चाहिए लेकिन अब छोड़िए इस बकवास को और कहानी सुनिए।"

उसने मुझे कुछ और कहने की मोहलत न दी। वह बड़े सौफ़े पर था। मैं उसके सामने एक कुर्सी पर बैठ गया। आसिफ़ को मैंने कभी कहानी सुनाते या सुनते नहीं देखा था। उसने अपनी बोसकी की क़मीस की आस्तीनें ऊपर चढ़ाईं, पतलून के ऊपर के बटन जो पेटी का काम देते हैं, खोले और सौफ़े पर एक आसन जमाकर कहानी सुनाने के अंदाज़ में बैठ गया : "हाँ: तो कहानी सुनिए। उन्वान है 'फूल'। क्या ख़याल है आपका उन्वान के मुताल्लिक़ ?"

मैंने कहा : "अच्छा है"

"शुक्रिया। अब आप सुनिए मैं आपको मंज़र-ब-मंज़र सुनाता हूँ।" और उसने अपनी कहानी, जो ख़ुदा मालूम किसकी लिखी हुई थी, अपने मख़सूस अंदाज़ में सुनाना शुरू की। यह मख़सूस अंदाज़ कुछ इस क़िस्म का है कि कहानी सुनाने के दौरान में वह मदारीपन करता है यानी हस्बे-ज़रूरत वाक़िआत के उतार-चढ़ाव के साथ ख़ुद भी उतरता चढ़ता रहता है। अभी वह सौफ़े पर है, चंद लम्हात के बाद उसकी पुश्त की दीवार पर। दूसरे लम्हे उसका सर नीचे है और टाँगें ऊपर और धम से नीचे फ़र्श पर। उसके फ़ौरन बाद कुर्सी पर उकड़ूँ बैठा है मगर फिर फ़ौरन उठ खड़ा हुआ है। यूँ मालूम होता है कि इलैक्शन में कोई आदमी वोट हासिल करने के लिए तक़रीर कर रहा है।

कहानी ख़त्म हुई—बड़ी लंबी कहानी, शैतान की आँत की तरह।

चंद लम्हात ख़ामोशी में गुज़रे। इसके बाद आसिफ़ ने मुझसे पूछा : "क्या ख़याल है आपका कहानी के मुताल्लिक़ ?"

मेरे मुँह से यह अल्फ़ाज़ ख़ुद-बख़ुद निकल गए : "बकवास है।"

आसिफ़ ने ज़ोर-ज़ोर से अपने होंठ काटे और बौखला कर सौफ़े की पुश्त की दीवार पर बैठ गया और ग़ज़बनाक लहजे में पूछा : "क्या कहा ?"

कोई और होता तो बहुत मुमकिन है लड़खड़ा जाता, मगर मैं हमेशा ऐसे मामलों में साबित क़दम रहा हूँ—मैंने और ज्यादा मज़बूती से कहा : "मैंने कहा था, बकवास है।"

आसिफ़ ने अपने मदारीपन से मुझे मुतास्सिर करने की बहुत कोशिश की। मुझे फ़ुज़ूल की झकझक पसंद नहीं थी। वह बहुत ऊँचे सुरों में बोलता था। मैंने सोचा, इसका इलाज यही है कि एक दफ़ा मैं भी अपने हलक़ को खुली छुट्टी दे दूँ। चुनाँचे मैंने उससे कहा : "सुनिए आसिफ़ साहब, आप एक बहुत वज़नी पत्थर मँगवाइए। उसको मेरे सर पर रखिए और उस पर वज़नी हथोड़े मारिए। ख़ुदा की क़सम, मैं फिर भी कहूँगा कि आपकी यह कहानी बकवास है।"

यह सबकुछ मैंने बहुत ऊँचे सुरों में कहा था। आसिफ़ सौफ़े की पुश्त की दीवार पर से नीचे उतर आया। आगे बढ़कर उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया और अपने होंठ

चूसते हुए कहा : "ख़ुदा की क़सम, बिलकुल बकवास है··· मैं तुमसे यही सुनने आया था।"

मैं समझा शायद मज़ाक़ कर रहा है, लेकिन चंद लम्हात के बाद मुझे मालूम हो गया कि वह क़त्अन संजीदा था। चुनाँचे हम कहानी में तरमीमो-इस्लाह के मुताल्लिक़ सोचने लगे।

लतीफ़ा ख़त्म हुआ। यह मेरी ज़ात से,यक़ीनन मुताल्लिक़ है मगर इसके बयान से मक़सद सिर्फ़ यह था कि आपको आसिफ़ और सितारा के किर्दार का तक़ाबुल नज़र आ जाए।

एक ज़माना गुज़र गया। आसिफ़ और सितारा मियाँ-बीवी की ज़िंदगी गुज़ार रहे थे—मगर यहाँ मुझे एक और लतीफ़ा याद आ गया है।

जिस ज़माने मे आसिफ़ से मेरी दोस्ती नहीं थी, और उसका ताल्लुक़ भी सितारा के साथ क़ाइम नहीं हुआ था, उसके चहेरे पर, बिला-मुबालग़ा दस हज़ार कीलें थीं और इतने ही मुहासे थे, जिनके मुताल्लिक़ कहा जाता है कि यह जवानी की निशानियाँ है। मैं सोचता था, अगर जवानी की निशानियाँ इतनी बदनुमा हों और तक्लीफ़ दें तो ख़ुदा करे किसी पर जवानी न आए। मुझ पर, अल्लाह का शुक्र है, कभी आई ही नहीं।

मैं जब उसके चेहरे की तरफ़ देखता जो कि बिला-मुबालग़ा ख़ाना-ए-जंबूर दिखाई देता था तो मुझे बड़ी कोफ़्त होती। मैं नीम हकीम भी हूँ। अपनी दानिस्त के मुताबिक़ और अपने डॉक्टर दोस्तों से मश्वरा करके मैंने कई दवाएँ ख़रीद कर उसको दीं मगर कोई फ़ाइदा न हुआ। कीलें उसी तरह मौजूद थीं। मगर जब सितारा उसकी ज़िंदगी में आई तो चंद महीनों के अंदर-अंदर उसका चेहरा बिल्कुल साफ़ हो गया। सिर्फ़ निशान बाक़ी रह गए।

एक और लतीफ़ा सुन लीजिए। बंबे टाकीज़ में कमाल अमरोही और मैं दोनो इकट्ठे काम कर रहे थे। उसकी कहानी "महल" को फ़िल्म के लिए मौज़ूँ व मुनासिब शक्ल देने के लिए सोच विचार हो रही थी। इस दौरान में कमाल के दाहिने गाल पर एक छोटी-सी फुन्सी नुमूदार हुई जो उसको बहुत तक्लीफ़ देने लगी। उसने इस तक्लीफ़ का जिक्र मुझसे किया। मैंने उससे कहा : "एक बड़ा सहल इलाज है और तेज़-बहद।"

उसने मुझसे पूछा : "क्या ?"

मैंने उससे कहा : "तुम सितारा का घर जानते हो न ?"

"हाँ हाँ, क्यों नहीं !"

"तो ऐसा करो, उसकी सीढ़ियों का एक चक्कर लगा आओ · मगर देखो, अंदर नहीं जाना।"

कमाल ज़हीन आदमी है। मेरा मतलब समझ गया और बहुत देर तक हँसता रहा।

लतीफ़े ख़त्म हुए।

बहुत देर तक सितारा और आसिफ़ इकट्ठे इज़्दिवाजी ज़िंदगी बसर करते रहे। अब दोनों ग़ालिबन महिम के एक फ़्लैट में रहते थे—हाँ वहीं रहते थे, क्योंकि वहाँ मेरा कई मर्तबा आना जाना हुआ। लेडी जमशेद जी रोड के चर्च के सामने एक गली थी, जिसके

आख़िरी सिरे पर एक तीन मंज़िला बिल्डिंग में ग़ालिबन तीसरी मंज़िल पर सितारा का फ़्लैट था।

मुझे यहाँ जाने का कई बार इत्तिफ़ाक़ हुआ था। उन दिनों आसिफ़ "फूल" बनाने के बाद ग़ालिबन "आनारकली[1]"बनाने की तैयारी कर रहा था। इसकी कहानी कमाल अमरोही ने लिखी थी मगर वह शायद उससे मुत्मइन नहीं था, क्योंकि वह कई आदमियों को दांत दे चुका था कि वह उसमें कुछ जिद्दत पैदा करें। मैं भी उन्हीं लोगों में से एक था।

मैं आमतौर पर सुबह आठ बजे के क़रीब वहाँ पहुँचता। दरवाज़ा एक बुढ़िया खोलती, जो मलमल की बारीक साड़ी पहने होती। उसे देखकर मुझे सख़्त कोफ़्त होती। मुझे ऐसा मालूम होता कि दरवाज़ा अलिफ़ लैला की किसी कुटनी ने खोला है।

मैं अंदर जाता और सौफ़े पर बैठ जाता। साथ वाले कमरे से, जो गालिबन ख़्वाब शाह थी, ऐसी-ऐसी आवाज़ें आतीं कि रूह लर्ज़-लर्ज़ जाती। थोड़ी देर के बाद आसिफ़ नुमूदार होता, हस्बे-आदत अपने होंठ चाटते हुए। उसकी हैयत-कज़ाई देखने की चीज़ थी। मलमल का कुर्ता जगह-जगह से फटा हुआ है। गर्दन और सीने पर नील पड़े हैं। बाल परेशान हैं। साँस फूली हुई है। मामूली अलैक-सलैक होती, और वह वहीं फ़र्श पर ढेर हो जाता। थोड़ी देर के बाद सितारा, आसिफ़ के लिए एक प्याला भेजती जिसमें, मालूम नहीं, किस चीज़ की खीर होती। आसिफ़ आहिस्ता-आहिस्ता बादिले-नख़ास्ता प्याला ख़त्म करता। इसके बाद हम अपना काम शुरू कर देते जो ज़्यादा तर गप्पों पर मुश्तमिल होता।

काफ़ी अर्सा गुज़र गया। सितारा और आसिफ़ के ताल्लुक़ात बड़े मुस्तहकम नज़र आते थे। मगर एकदम जाने क्या हुआ कि यह सुनने में आया कि आसिफ़ अपने अज़ीज़ों में किसी लड़की से शादी कर रहा है। तारीख़ पक्की हो गई है और वह अनक़रीब अपने दोस्तों के साथ लाहौर रवाना होने वाला है।

मैं उन दिनों बहुत मसरूफ़ था, वर्ना उससे मिलकर ज़रूर दर्याफ़्त करता कि यह क्या क़िस्सा है। लेकिन मुझे इसका मौक़ा न मिला—एक रोज़ उससे सरे-राह मुलाक़ात हो गई। मैंने सरसरी तौर पर उससे पूछा तो उसने सिर्फ़ इतना कहा : "मैंने वह क़िस्सा ख़त्म कर देने की ठनी है···चुनाँचे हो जाएगा।"

वह कार में था, मैं पैदल था और उस को उजलत भी थी, इसलिए ज़्यादा बातें न हो सकीं। चंद रोज़ के बाद मालूम हुआ कि आसिफ़ एक बहुत बड़ी पार्टी के साथ रवाना हो गया है। इसके बाद यह इत्तिला मिली कि लाहौर में उसकी शादी बड़े ठाट से हुई। ख़ुम के ख़ुम लुंढाए गए। मुजे हुए और राग-रंग की कई महफ़िलें जमीं। फिर सुना कि आसिफ़ अपनी नई-नवेली दुल्हन के साथ बंबई पहुँच चुका है और पाली हिल, बांद्रा में उसने एक कोठी का निस्फ़ हिस्सा किराए पर उठा लिया है। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि पूरी कोठी नज़ीर के पास थी, जिसने आधी अपने भांजे को दे दी।

यह बड़ा ख़ुशगवार इन्क़िलाब था। मुझे मालूम नहीं, सितारा का रद्दे-अमल क्या

1. बाद में इसका नाम "मुग़्ले-आज़म" रखा गया।

था। लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि अरोड़ा के हाँ वह अक्सर जाया करती थी। और वह भी उसके हाँ अक्सर आया करता था।

उन दिनों आसिफ़ पाली हिल पर रहता था। नई नवेली दुल्हन पास थी। मेरा ख़याल है कि वह उन दिनों "अनार कली" की तैयारियों में मसरूफ़ था। उसकी कहानी कमाल हैदर अमरोही ने लिखी थी, मगर आसिफ़ उससे मुत्मइन नहीं था। उसने कई इन्शापर्दाज़ों से मश्वरा लिया था मगर वह फिर भी मुत्मइन नहीं था।

इस ज़िम्न में मैं आपको कई लतीफ़े सुना सकता हूँ मगर उनसे कोई मतलब हल नहीं होगा। कहना सिर्फ़ यह है कि आसिफ़ और उसकी नई-नवेली बीवी सुनहरे जलवों की ब्याही—चंद रोज़ ही इकट्ठे रहे। इसके बाद यह देखने में आया कि आसिफ़ साहब घर से ग़ाइब हैं और रातें सितारा के साथ गुज़ारते हैं।

वह शादी ज़्यादा देर तक क़ाइम न रही। नज़ीर का नौजवान लड़का भी वहीं था। मालूम नहीं क्या हुआ कि आसिफ़ ने अपनी बीवी के पास जाना छोड़ दिया। नाचाक़ी हुई। इसके बाद पता चला कि तलाक़ होने वाली है—इस दौरान में आसिफ़ बराबर सितारा के यहाँ जाता था।

उससे यह भी मालूम हुआ कि सितारा कारीगर है। उसका मुक़ाबला नई-नवेली दुल्हन नहीं कर सकती। चुनाँचे चंद महीनों के बाद आसिफ़ की दुल्हन अपने घर वापस चली गई और बाद में मालूम हुआ कि तलाक़ हो गई है।

अब फिर आसिफ़ और सितारा इकट्ठे थे। आसिफ़ की ब्याहता बीवी के मुताल्लिक़ कई अफ़साने मशहूर हैं, मगर मैं उनका ज़िक्र करना नहीं चाहता, इसलिए कि मुझे उनकी सदाक़त के मुताल्लिक़ अच्छी तरह इल्म नहीं।

मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि आसिफ़ ने ब्याह किया, लाहौर में बड़े ठाट की मज़लिसें जमीं, इसके बाद आसिफ़ अपनी बीवी को लेकर बंबई आया, पाली हिल पर ठहरा और दो तीन महीने के अंदर-अंदर उसने अपनी बीवी को छोड़ दिया—इसकी वजह सितारा के सिवा और क्या हो सकती थी।

सितारा मर्दम शनास औरत है। उसको वह तमाम ढब आते हैं, जो मर्द को अपनी तरफ़ राग़िब कर सकते हैं, बल्कि यूँ कहिए कि उसे दूसरी औरतों के लिए बिल्कुल नाकारा बना देते हैं। यही वजह है कि आसिफ़ ने अपनी बीवी को छोड़ दिया और सितारा की आग़ोश में चला गया, इसलिए कि उसमें कशिश थी।

आसिफ़ की शादी अपने ख़ानदान में हुई थी। उस ख़ानदान के मुताल्लिक़ मुख़्तलिफ़ रिवायात मशहूर हैं, लेकिन मैंउनका तज़्किरा करना नहीं चाहता।

आसिफ़ ने अपनी ब्याहता बीवी को छोड़ दिया, शायद इसलिए कि उसमें वह ख़ुसूसियतें मौजूद नहीं थीं, जो सितारा में थीं। शायद इसलिए कि आसिफ़ कँवारी लड़की का क़ाइल नहीं था। बहरहाल जो नतीजा बरआमद हुआ, वह हर शख़्स को मालूम है।

आसिफ़ की नई-नवेली दुल्हन चली गई और आसिफ़ ने फिर से सितारा के यहाँ क़याम शुरू कर दिया। इस क़याम के दौरान में अजीबो-ग़रीब अफ़वाहें मुश्तहिर हुईं, मगर मैं

उनके मुताल्लिक कुछ कहना नहीं चाहता।

मैंने यह मज़्मून लिखा है। मुझे मालूम है कि आसिफ़ मुझसे नाराज़ नहीं होगा, इसलिए कि वह बड़े जर्फ़ का आदमी है, सितारा यक़ीनन नाराज़ होगी—मगर वह मुझे थोड़ी देर के बाद बख़्श देगी, इसलिए कि उसका ज़र्फ़ भी छोटा नहीं है। वह बडी क़द-आवर औरत है—हालाँकि उसका क़द बहुत पस्त है—वह मुझे, मालूम नहीं, कैसा आदमी समझती है, मगर मैं उसे बहैसियत औरत के ऐसी औरत समझता हूँ, जो सौ साल में शायद एक मर्तबा पैदा होती है।

बाबू राव पटेल

ग़ालिबन सन अड़तालीस की बात है कि बाबू राव से मेरी मुलाक़ात हुई। मैंने उन दिनों हफ़्तावार 'मुसव्विर' एडिट किया करता था। तन्ख़ाह वाजिबी थी, यानी कुल चालीस रुपए माहवार। 'मुसव्विर' का मालिक नज़ीर लुधियानवी चाहता था कि मेरी इस आमदनी में कुछ इज़ाफ़ा हो जाए, चुनाँचे उसने मेरा तआरुफ़ बाबू राव पाटेल एडिटर 'फ़िल्म इंडिया' से करा दिया।

इससे पहले कि मैं अपनी इस मुलाक़ात का हाल बयान करूँ, मुनासिब मालूम होता है कि मैं यह बताऊँ कि 'फ़िल्म इंडिया' मारिज़े-वुजूद में कैसे आया आप को याद होगा, एक ज़माना था जब पूना की प्रभात फ़िल्म कंपनी अपने पूरे उरूज पर थी। 'अमृत मंथन' और 'अमर ज्योति' जैसे अमर फिल्म पेश करके उसने हिंदुस्तान के अकनाफ़ो-अतराफ़ में ग़ैर-मामूली शोहरत हासिल कर ली थी। अब वह एक मामूली इदारा नहीं रहा था, बल्कि 'प्रभात नगर' में तबदील हो चुका था, जिस का हर रुक्न अज़्म व इत्तिहाद के नशे में मख़्मूर था। शांता राम, सैयद फ़त्ते लाल, ढेबर सबको एक ही लगन थी कि उनकी कंपनी, फ़न और तक्नीक में, सबको पीछे छोड़ जाए।

उसी ज़माने में जबकि प्रभात, वुसअत इख़्तियार कर रही थी और हामला औरत की तरह ख़ूबसूरत और बावक़ार थी, उसने अपने बतन से तीन बच्चे पैदा किए :

एक : फ़ेमस पिक्चर्स, जो प्रभात के फ़िल्मों का वाहिद तक़सीमकार इदारा मुक़र्रर हुआ—इसके मालिक बाबू राव पाई थे।

दो : बी. पी. सामंत एंड कंपनी। इश्तिहारों के तक़सीमकार। प्रभात के तमाम फ़िल्मों की नश्रो-इशाअत का काम इस इदारे के सुपुर्द हुआ।

तीन : न्यू जैक प्रिंटिंग वर्क्स। गुमनाम-सा प्रेस। इसके मालिक पारकर थे। इनको प्रभात ने अपने तमाम पोस्टरों, दस्ती इश्तिहारों, और किताबचों की छपाई का काम तफ़्वीज़ कर दिया।

'फ़िल्म इंडिया', न्यू जैक प्रिंटिंग वर्क्स से पैदा हुआ। पारकर, बाबू राव का दोस्त था। मामूली-सा पढ़ा-लिखा आदमी। उन दोनों ने मिलकर प्लान बनाया। प्रेस मौजूद था। कागज़ भी दस्तयाब हो सकता था, क्योंकि उन दिनों बहुत सस्ता था। बी. पी. सामंत कंपनी मौजूद थी। उससे प्रभात फ़िल्म कंपनी के अलावा दूसरी फ़िल्म कंपनियों के

इश्तिहार मिल सकते थे। ज़ाहिर है कि सब लवाज़िम मौजूद थे—और बाबू राव बड़ा मेहनती आदमी है और दकीका-रस भी। इसके अलावा वह ख़्वाब देखने वाला आदमी नहीं। अंग्रेजी मुहावरे के मुताबिक़ वह कील के सर पर चोट लगाना जानता है, चुनाँचे जब 'फिल्म इंडिया' का पहला पर्चा शाए हुआ तो यह वाक़िआ है कि हिंदुस्तान में फ़िल्मी सहाफ़त का एक नया और अनोखा दौर शुरू हुआ।

बाबू राव के क़लम में फ़साहत थी, बलागत थी, गुंडों की-सी कजकुलाही भी थी। इसके अलावा उसमें एक नाक़ाबिले-नक्ल तन्ज़ और मिज़ाह था। एक ज़हर था, जो मैं समझता हूँ, यहाँ हिंदुस्तान मे किसी अंग्रेज़ी लिखनेवाले अदीब के क़लम को नसीब नहीं हुआ।

बाबू राव के क़लम की जिस ख़ूबी ने उसकी धाक जमाई, वह नुकीला, बहुत ही नुकीला तन्ज़ था जिसमें हलका-सा गुंडपना भी शामिल था। इस सिन्फ़ से हिंदुस्तानी आँखें बिलकुल नाआश्ना थीं, इसलिए उसकी तहरीरें लोगों के लिए चाट का मज़ा देने लगीं।

बाबू राव बड़े ठस्से का आदमी था। उसने अपना दफ्तर अपालो स्ट्रीट की मुबारक बिल्डिंग के एक वसी व अरीज़ फ्लैट मे काइम किया और उसे हर मुमकिन तरीक़े से बारोब बनाया।

मुबारक बिल्डिंग के उसी वसी व अरीज दफ्तर में बाबू राव मे मेरी पहली मुलाक़ात हुई। उस वक़्त तक 'फ़िल्म इंडिया' के ग़ालिबन सात-आठ शुमारे निकल चुके थे जो मैं मुसव्विर के दफ़्तर में देख चुका था और मुतास्सिर हुए बग़ैर न रह सका।

मेरा ख़याल था, ऐसी सुथरी अंग्रेज़ी लिखनेवाला और नुकीले तन्ज़ का मालिक, दुबला-पतला और तीखे-तीखे नक़्शों वाला आदमी होगा, मगर जब मैंने एक जाट को एक जहाज़ी मेज़ के पास घूमने वाली कुर्सी पर बैठे देखा तो मुझे सख़्त नाउम्मीदी हुई—उसके चेहरे का कोई नक़्श, कोई ख़त ऐसा नहीं था जिसमें उसके क़लम का हलका-सा अक्स भी नज़र आ सकता। छोटी-छोटी आँखें, चौड़ा चकला चेहरा, मोटी नाक, बड़ा वाहियात लबे-दहान, दाँत बदनुमा—लेकिन पेशानी बड़ी।

जब वह मुझसे हाथ मिलाने के लिए उठा तो मुझे मालूम हुआ वह मुझसे ऊँचा है, यानि काफ़ी दराज़ क़द है। मज़्बूत डील-डौल, लेकिन जब उसने हाथ मिलाया तो गिरफ़्त बड़ी ढीली। और जब उसने उर्दू में बात-चीत शुरू की तो मेरा सारा मज़ा किरकिरा हो गया। गँवारों का-सा लबो-लहजा, बात-बात में बंबई के मवालियों की तरह 'साला' कहता था, और गालियाँ बकता था।

मैंने ख़याल किया, शायद इसलिए कि उसको उर्दू नहीं आती, लेकिन जब उसने टेलीफ़ोन पर किसी से अंग्रेज़ी में गुफ़्तुगू शुरू की तो ख़ुदा की क़सम, मेरे दिल में शक पैदा हुआ कि यह शख़्स हरगिज़-हरगिज़ वह बाबू राव पटेल नहीं जो 'फिल्म इंडिया' का इदारिया लिखता है, 'बॉम्बे कालिंग' रक़म करता है और सवालों के जवाब देता है। माज़अल्लाह, क्या लबो-लहजा था। ऐसा लगता था कि अंग्रेज़ी, मरहठी में और मरहठी, बंबई की गँवार बोली में बोल रहा है। यहाँ भी हर फ़ुलस्टॉप के बाद या उससे पहले एक

'साला' ज़रूर आता था।

मैंने दिल में कहा: अगर यही साला बाबू राव पटेल है तो साला मैं सआदत हसन मंटो नहीं हूँ।

थोड़ी देर गुफ़्तुगू हुई। नज़ीर लुधियानवी ने मेरी बहुत तारीफ़ की। इस पर बाबू राव ने कहा: "मुझे मालूम है। वह साला आबिद गुल-रेज़ हर हफ़्ते मुझ को 'मुसव्विर' पढ़ के सुना जाता है" फिर वह मुझ से मुख़ातिब हुआ: "यह साला मंटो क्या हुआ?"

मैंने उसको इसका मतलब समझा दिया।

मामला सिर्फ़ इतना था कि प्रभात के किसी फ़िल्म की चौपडी, यानि किताबचे में, जो कहानी का ख़ुलासा था, और जिसे बाबू राव ने लिखा था, मुझे उसका उर्दू में तर्जुमा करना था। मैंने यह ख़ुलासा ले लिया और तर्जुमा करके नज़ीर लुधियानवी के हाथ उसे भिजवा दिया जो उसने बहुत पसंद किया।

इसके बाद देर तक मेरी उसकी मुलाक़ात न हुई। मैं दफ़्तर से बहुत कम बाहर निकलता था। फिल्म कंपनियों में मुलाज़मत हासिल करने के लिए दर-बदर मारे फिरना, मैं उस वक्त भी अपनी शान के खिलाफ़ समझता था।

बाबू राव ने किसी न किसी तरह शांताराम को उकमाया कि वह प्रभात का एक माहाना पर्चा शाए करे जिसमें वह बिलकुल नए अंदाज से उनकी फ़िल्म कंपनी की और उन के फिल्मों की पब्लिसिटी करेगा। शांता राम गो अनपढ़ था, मगर आर्टिस्ट था और बहुत आला पाए का। तबीयत में उपज थी। फ़ौरन मान गया। बस फिर क्या देर थी, 'प्रभात' निकल आया और बड़ी शान से—बाबू राव ने वाक़ई बड़े अनोखे और प्यारे अंदाज़ में प्रभात वालों और उनके फ़िल्मों की पब्लिसिटी की।

नज़ीर लुधियानवी बड़ा वक़्त शनास और मतलब निकालने वाला आदमी था। फ़ौरन बाबू राव के पास पहुँचा, यह स्कीम लेकर कि प्रभात के हर शुमारे के कुछ हिस्से 'मुसव्विर' में भी शाए होने चाहिएँ।

मैं यहाँ एक बात अर्ज़ कर दूँ कि बाबू राव ने चूँकि खुद मुफ़्लिसी के दिन देखे हैं, इसलिए वह हाजतमंदों पर हमेशा मेहरबान हो जाता है। उसको मालूम था कि नज़ीर की माली हालत कोई ज़्यादा अच्छी नहीं थी इसलिए वह फ़ौरन उसकी तजवीज़ मान गया। लेकिन उसको शुबा था कि जो कुछ उसने अंग्रेज़ी में लिखा है, उर्दू में मुंतक़िल न हो सकेगा। नज़ीर ने मेरा नाम लिया तो वह किसी क़द्र मुत्मइन हो गया।

ईमान की बात है, मेरा अंग्रेज़ी का इल्म बहुत महदूद है। बाबू राव ने जो कुछ लिखा था, वह मेरी समझ से बालातर तो न था, मगर उसका उर्दू में मिनो-अन तर्जुमा करना बहुत ही दुश्वार था। उसका एक ख़ास तर्ज़ था। अल्फ़ाज़ की निशस्तो-बर्ख़ास्त एक ख़ास ढब की थी। अंग्रेज़ी और अमरीकी, दोनो मुहावरे थे। बाज़ अल्फ़ाज़ पर वह खेल-खेल जाता था, अब मैं क्या करता। बहुत सोच विचार के बाद यही बात समझ में आई कि मज़्मून सामने रख लूँ और उसके मफ़हूम को अपने अंदाज़ और अपनी ज़बान में मुंतक़िल कर दूँ। चुनाँचे यही मैंने किया।

जब यह ख़ुराफ़ात छप गई तो नज़ीर पर्चा लेकर उसके पास गया—मैं भी नज़ीर के साथ था।

बाबू राव ने मुझे देखते ही कहा : "साला तू भी बाबू राव बनने की कोशिश करता है।"

मैंने बड़ी संजीदगी के साथ उस को सारी बात समझा दी : "तुम्हारी तहरीर को उर्दू में लाने की सिर्फ़ एक यही सूरत थी मैं समझता हूँ, मैंने जो किया है, जाइज़ है।"

दायें हाथ की आख़िरी उंगलियों में सिगरेट दबाए ठेठ देहातियों और मवालियों की तरह उसने मुट्ठी बंद करके ज़ोर का कश लिया और कहने लगा : "साला हमने आबिद गुल-रेज़ से सब सुना। बहुत मज़ा आई मैंने उसको कहा " बाबू राव ने गाली दी : "तू ठीक कहता था कि उर्दू का बहुत बड़ा राइटर है।"

मैं इस दाद से बहुत ख़ुश हुआ। चुनाँचे तय हो गया कि आइंदा तर्जुमे का यह सिलसिला इसी तरह जारी रहेगा—मगर दो ही शुमारों के बाद पर्चा बंद हो गया, क्योंकि प्रभात फ़िल्म कंपनी इतने ज़ाइद शाहाना ख़र्च की कफ़ील नहीं हो सकती थी।

मैं ज़्यादा तफ़्सीलात में नहीं जाना चाहता कि वह मुझे खींचकर और मौज़ूआत की तरफ ले जाएँगी जो इस दास्तान के रेशों के अंदर छुपे हुए हैं। मुझे असल में बाबूराव पटेल के मुताल्लिक़ अपने तास्सुरात बयान करना हैं।

चंद ऐसे वाक़िआत हुए कि नजीर से मेरे—नाँ नाँ, अभी नहीं, यह बाद की बात है—जी हाँ, मैंने शादी का इरादा कर लिया। उन दिनों मैं इंपीरियल फ़िल्म कंपनी में अस्सी रुपये माहवार पर नौकर हो गया था। यहाँ मैंने एक बरस मुलाजमत की, मगर तन्ख़ाह सिर्फ़ आठ महीने की मिली। चार महीने की बाकी थी कि इस कंपनी का दिवाला पिट गया।

यहाँ से मैं सरोज फिल्म कंपनी में चला गया। मगर ऐसा हुआ कि मैं अंदर दाख़िल हुआ ही था कि कंपनी ने बंद होने का इरादा कर लिया। मुझे यक़ीन होने ही वाला था कि मैं सब्ज़-क़दम हूँ कि इस कंपनी के बंद होने के थोड़े ही अर्से बाद उसके सेठ ने हाथ-पाँव मारकर उसी चार-दीवारी मे एक नई कंपनी खड़ी कर दी। यहाँ मैं सौ रुपए माहवार पर मुलाज़िम हुआ। एक कहानी लिखी। यह तीन चौथाई फिल्माई भी गई। इस दौरान में मेरा निकाह हो चुका था और सिर्फ़ रुख़्सती बाकी थी जिसके लिए मुझे रुपए की ज़रूरत थी ताकि कोई मामूली-सा फ़्लैट किराए पर लेकर उसे घर में तबदील कर सकूँ। जब रुपया माँगने का वक़्त आया तो सेठ नानो भाई ने साफ़ जवाब दे दिया, और कहा हालत सख़्त ख़राब है। उसकी हालत तो जो ख़राब थी, सो थी लेकिन यह गौर फ़र्माइए, मेरी हालत कितनी ख़राब होगी। मैंने सेठ को सारे वाक़िआत से आगाह किया, मगर उसके कान पर जूँ तक न रेंगी। मामला बढ़ गया, तू-तू मैं-मैं शुरू हुई तो उसने मुझे कंपनी से निकाल बाहर किया। मेरी इज़्ज़त पर यह साफ हमला था। मेरा वक़ार बिलकुल मिट्टी में मिल गया था। चुनाँचे मैंने तहैया कर लिया कि वहीं बाहर सदर दरवाज़े पर बैठकर भूख हड़ताल शुरू कर दूँगा।

इस मामले की ख़बर किसी न किसी तरीके से बाबू राव तक पहुँच गई। उसने पहले तो

नानो भाई डेसाई को फ़ोन पर बहुत गालियाँ दीं, जब इसका कुछ असर न हुआ तो वह सीधा स्टूडियो पहुँचा और बारह सौ रुपए का फ़ैसला आठ सौ रुपए में करा दिया—मैंने कहा, चलो भागते चोर की लंगोटी ही सही।

मेरा घर बस गया। हाँ, मैं आपसे यह कहना भूल गया कि मैं जिस ज़माने में इंपीरियल फ़िल्म कंपनी में था, उन दिनों वहाँ एक बहुत ही शरीफ़ुल-तबा एक्ट्रेस पदमा देवी के नाम से थी। मेरे पहले फ़िल्म 'किसान कन्या'[1] की हीरोइन यही थी। मेरे उसके बड़े दोस्ताना ताल्लुक़ात थे, लेकिन उसका सही यानी जिस्मानी ताल्लुक़ बाबू राव पटेल से था, जो उस पर बड़ी कड़ी निगरानी रखता था।

यहाँ आपको यह बता देना भी मुनासिब मालूम होता है कि बाबू राव पटेल की उस वक़्त दो बीवियाँ थीं। उनमें से एक को मैंने देखा है, जो डॉक्टर थी।

ख़ैर, चंद ऐसे वाक़िआत हुए कि नज़ीर ने मेरी बेलौस ख़िदमत और दोस्ती ठुकरा दी—हम दोनों अलग हो गए। इसका मुझे अफ़्सोस न था। मैं उससे लेता ही क्या था, लेकिन फिर भी वह मेरे मकान का किराया, जो पच्चीस रुपए बनता था, अदा कर दिया करता था। उन दिनों मैंने रेडियो में भी लिखना शुरू कर दिया था, लेकिन अब चूँकि मेरी अकेली जान का सवाल नहीं था, इसलिए मैंने सोचा कि बाबू राव से मिलना चाहिए—लेकिन ठहरिए, मैं आगे चला आया। दरमियान में मुझे आपसे कुछ और भी कहना था।

मेरी शादी अजीबो-ग़रीब हालात में हुई थी। कुछ ऐसे क़िस्से थे कि मेरे घर में सिवाय मेरी वालिदा के और कोई नहीं था। फ़िल्म इंडस्ट्री के तमाम आदमी आ रहे थे, उनकी ख़ातिरदारी कौन करता। एक ज़ईफ़ औरत बेचारी क्या कर सकती थी।

बाबू राव को कहीं से मालूम हुआ कि मंटो परेशान है तो उसने अपनी चहीती रंगीन मलिका पदमा देवी को भेज दिया कि जाओ उसकी वालिदा का हाथ बटाओ। मुझे अच्छी तरह याद है, पदमा ने मेरी बीवी को शायद कोई ज़ेवर वग़ैरा भी दिया था।

चलिए, अब चलते हैं—जी हाँ, मैं बाबू राव के पास पहुँचा, इसलिए कि वह उर्दू का एक हफ़्ता-वार अख़बार 'कारवाँ' भी निकालता था, सिर्फ़ इस ग़र्ज से कि आबिद गुलरेज़ के लिए, जो उसका दोस्त था, रोज़ी का एक वसीला बन जाए। मगर आबिद गुलरेज़ एक लाउबाली तबीयत का शाइर आदमी था और उन दिनों अख़बार से अलाहिदा होकर मुकालमा-नवीसी, गीत-निगारी और फ़िल्म-साज़ी के चक्कर में पड़ा हुआ था।

मैंने बाबू राव को बरतरफ़ी का वह नोटिस दिखाया, जो मुझे नज़ीर ने भेजा था। उसे देखकर बाबू राव एक लहज़े के लिए चकरा गया। बहुत बड़ी गाली देकर उसने सिर्फ़ इतना कहा : "ऐसा?"

मैंने इस बात में सिर हिला दिया।

बाबू राव ने फ़ौरन ही कहा : "तो साला तुम इधर क्यों नहीं आ जाता... अपना 'कारवाँ'

1. रंगीन फ़िल्म

है · माले को पूछनेवाला ही कोई नहीं ।"

मैंने जवाब दिया : "अगर ऐसी बात है, तो मैं तैयार हूँ ।"

बाबू राव ने ज़ोर से आवाज़ दी : "रीटा ।"

दरवाज़ा खुला । एक मज़्बूत पिंडलियों और सख़्त छातियों वाली गहरे साँवले रँग की क्रिस्चियन लड़की अंदर दाख़िल हुई ।

बाबू राव ने उसे आँख मारी : "इधर आओ ।"

वह उसकी कुर्सी के पास चली गई ।

बाबू राव ने कहा : "मुँह इधर करो ।"

उसने हुक्म की तामील की ।

बाबू राव ने एक ऐसा धप्पा उसके चूतड़ों पर मारा कि उसके कूल्हों का सारा गोश्त हिल गया : "जाओ, कागज़ पैंसिल लाओ " लड़की, जिसका नाम रीटा कारलाइल था और जो बाबू राव की बयक-वक़्त सैक्रेट्री, स्टेनो और दाश्ता थी, चली गई और फ़ौरन ही शार्टहैंड की कॉपी और पैंसिल ले आई । बाबू राव मेरे नाम का एपाइंटमेंट लैटर लिखाने लगा । तन्ख़ाह के पास पहुँचा तो रुक गया और मुझसे मुख़ातिब हुआ . "क्यों मंटो, कितना चलेगा " फिर ख़ुद ही उसने कहा : "एक सौ पचास ठीक है ?"

मैंने कहा · "नहीं ।"

बाबू राव संजीदा हो गया : "देखो मंटो, यह साला 'कारवाँ' ज़्यादा अफ़ोर्ड नहीं कर सकता ।"

मैंने कहा : "तुम मेरा मतलब ग़लत समझे हो मैं साठ रुपए माहवार पर काम करूँगा, इससे कम न इससे ज़्यादा ।"

बाबू राव समझा, मैं उससे मज़ाक़ कर रहा हूँ, पर जब मैंने उसे यक़ीन दिलाया कि मेरा ऐसा कोई मतलब नहीं तो वह अपने मख़सूस गँवार लहजे में बोला : "साला मैड मुल्ला ।"

मैंने उससे कहा : "मैं मैड मुल्ला यानि पागल मुल्ला ही सही लेकिन मैंने यह साठ रुपए इसलिए कहे हैं कि मैं वक्त का पाबंद नहीं रहना चाहता । जब चाहूँगा, आऊँगा, और जब चाहूँगा, चला जाऊँगा, लेकिन 'कारवाँ' वक़्त पर निकलता रहेगा ।"

बात तय हो गई ।

मैंने बाबू राव के दफ्तर में गालिबन छः सात महीने काम किया । इस दौरान में मुझे उसकी अजी़बो-ग़रीब शख़्सीयत के मुताल्लिक़ कई बातें मालूम हुईं ।

उसको रीटा कारलाइल से इश्क़ था । और वह समझता था कि दुनिया में और कोई लड़की उसके हुस्नो-जमाल का मुक़ाबला नहीं कर सकती । रीटा कारलाइल जैसा कि आम क्रिस्चियन लड़कियों का दस्तूर है, जिस रास्ते पर थी, चली जा रही थी, लेकिन बाबू राव की वजह से उसका भाव बढ़ गया था ।

मुझे यक़ीन है, अगर रीटा उर्दू बोल सकती तो वह उसे चंद दिनों में फ़िल्मी आसमान पर पहुँचा देता । उसको अपने क़लम और उसके ज़ोर पर बहुत नाज है । वह समझता है कि वह अगर लकड़ी का एक टुकड़ा चुन ले और कहना शुरू कर दे कि यह नृत्य सम्राट है तो

यक़ीनन् वह चोबे-बेहरकत नृत्य सम्राट बन जाएगी और लोग उस पर ईमान ले आएँगे।

पदमा देवी गुमनामी के गोशे में पड़ी थी मगर जब उसके आग़ोश में आई तो उस ने उसे कलर-क्इन यानि रँगों की मलिका बना दिया। उन दिनों 'फ़िल्म इंडिया' के हर शुमारे में उसके दर्जनों फ़ोटो होते थे, जिनके नीचे वह बड़े चुस्त फ़िक़रे और जुमले लिखता था।

बाबू राव ख़ुद-साख़्ता आदमी है। जो कुछ भी वह उस वक़्त था और जो कुछ भी वह इस वक़्त है, उसके बनाने में किसी का हाथ नहीं। जवानी ही में उसकी अपने बाप से किसी बात पर अनबन हो गई थी, चुनाँचे दोनों के ताल्लुक़ात मुंक़तअ हो गए। बाबू राव से मैंने जब भी बुड्ढे पटेल के बारे में सुना, यही सुना कि "वह साला पक्का हरामी है।"

मालूम नहीं, उन दोनों में से हरामी कौन है। अगर बुड्ढा पटेल हरामी है, बाबू राव के मानों में, तो ख़ुद बाबू राव भी उस बुड्ढे से हरामीपन में, जहाँ तक जूतों का ताल्लुक़ है, कई जूते आगे है, अपने और अपने बाप के जूते मिलाकर।

बाबू राव के क़लम में जिस नुकीले तन्ज़ का मैंने ज़िक्र किया है, अगर उसके अस्बाब तलाश किए जाएँ तो उसकी अवाइल की ज़िंदगी में मिल सकते हैं। वह ग़ज़नी का महमूद बनकर क्यों बुत-शिक्नी करना चाहता है, इसलिए कि बचपन में उसके वालिद ने उस की फ़ितरत तोड़ने और अपने क़ालिब में ढालने की कोशिश की। उसकी शादी की, मगर उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़--दूसरी शादी उसने ख़ुद की, मगर इस मर्तबा वह ख़ुद धोखा खा गया और चिढ़ गया, अपने आपसे, हर एक से।

बाबू राव के किर्दार के शै-नशीनों में कई बुत औंधे और शिकस्ता पड़े हैं। कई बुड्ढे हरामी हैं। सैकड़ों बाज़ारी टखियाइयाँ हैं। लेकिन उन बुतों को तोड़-फोड़ कर उसे वह लज़्ज़त हासिल नहीं हुई तो सोमनाथ का मंदिर ढाकर ग़ज़नी के महमूद को हुई थी।

वह ऊँचे स्थान पर किसी को बैठे हुए नहीं देख सकता, लेकिन जो ज़मीन पर गिरा होगा, उसको उठाने के लिए वह कई कोस चल के आएगा। उसको ऊँचा करने के लिए वह एढ़ी-चोटी का ज़ोर लगा देगा और जब वह उफ़्तादा शख़्स उसकी मदद से और अपनी मेहनत से बुलंद मक़ाम हासिल करने में कामयाब हो जाएगा तो वह उसको गिराने की कोशिश करेगा।

बाबू राव मज्मूआ-ए-अज़दाद है।

एक ज़माना था कि शांता राम उसके नज़दीक दुनिया का सबसे बड़ा फ़िल्म डायरेक्टर था।

एक वह ज़माना आया कि उसने उसी शांता राम के फ़िल्मों में, बल्कि उसके किर्दार में भी कीड़े डालने शुरू कर दिए। कारदार के वह सख़्त ख़िलाफ़ था, लेकिन बाद में बाबू राव को उसकी हर अदा पसंद आने लगी। बटवारा हुआ तो वह फिर उसके ख़िलाफ़ हो गया। उसका स्टूडियो और उसकी जायदाद जब्त कराने के लिए उसने एढ़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया, लेकिन ग़रीब की क़िस्मत अच्छी थी कि बाल-बाल बच गया।

बीच में एक ज़माना आया कि उसने बनांगे-दुहुल एलान कर दिया कि फ़िल्म-साज़ी

सिर्फ़ मियाँ[1] भाई जानते हैं। जो रख-रखाव, जो सलीक़ा और क़रीना मुसलमान फ़िल्म डायरेक्टरों को वदीअत हुआ है, वह किसी हिंदू फ़िल्म-साज़ के हिस्से में नहीं आ सकता। मैं वह दिन भी जानता हूँ, जब पृथ्वी राज को वह एक हक़ीर कीड़ा समझता था और वह दिन भी याद हैं, जब किशोर साहू उसे बहुत खलता था।

बाबू राव पर दौरे पड़ते हैं। नफ़्सीयाती तौर पर उसका दिमाग़ बिलकुल दुरुस्त नहीं। वह एक बहकी हुई भटकी हुई ताक़त है—एक अंधी ताक़त जो कभी इधर अपना सिर फोड़ती है, कभी उधर—वह एक ऐसा आर्टिस्ट है जो अपने ज़ौम में गुमराह हो गया है।

मैं जब 'कारवाँ' में था तो 'फ़िल्म इंडिया' में मेरी ज़हानतो-जक़ावत के चर्चे आम होते थे। वहाँ से निकला तो मैं "यह मंटो कौन है जाने कौन बला है" हो गया। लेकिन थोड़े ही अर्से के बाद जब मेरा फ़िल्म 'आठ दिन' पेश हुआ तो उसने उसके रिव्यू में अपनी टोपी उतारकर मुझे सलाम किया और कहा कि मंटो हमारे मुल्क का मुंफरिद और जहीन अफ्साना निगार है।

जब बाबू राव प्रभात फ़िल्म कंपनी से मुन्सलिक था तो शांता आप्टे हिंदुस्तान की ख़ूबसूरत-तरीन एक्ट्रेस थी। वहाँ से अलाहिदा हुआ तो वह एकदम बदसूरत हो गई। उस के ख़िलाफ़ उसने काफ़ी ज़हर 'फ़िल्म इंडिया' में उगला, मगर वह भी मरहठे की बच्ची थी। एक रोज़ सवारी का लिबास पहने बाबू राव के दफ़्तर में घुस गई और सड़ाप-सड़ाप छः सात हंटर उसके जड़ दिए।

सुनते हैं, ऊँट की कोई कल सीधी नहीं होती—ऊँट के बाद दर्जा बाबू राव पटेल का आता है। उसकी भी कोई कल सीधी नहीं।

अर्सा हुआ, बंबई की अंग्रेज़ी सहाफत के बावा मिस्टर बी.जी. हारनीमैन मर्हूम ने 'बांबे सैंटिनल' के ख़ास कालमों में चंद फ़िक़रे बाबू राव पर चुस्त कर दिए थे—बाबू राव को बड़ा ताव आया। उसने झट हत्तक इज़्ज़त का दावा दाइर कर दिया। अस्सी बरस का गुर्ग-जहाँ-दीदा हारनी मैन बहुत हँसा। उसने एक दोस्त के ज़रिए से बाबू राव को यह पैग़ाम पहुँचवाया कि देखो अगर तुम चाहते हो कि मैं लड़ूँ तो मैं तैयार हूँ, लेकिन अगर तुम अपनी ख़ैरियत चाहते हो तो दो हज़ार की रक़म दाहिने हाथ से भिजवा दो ताकि मैं ख़ामोश रहूँ।

बाबू राव को और ताव आया, पर जब उसने ठंडे दिल से ग़ौर किया और बुड्ढे हारनीमैन के कारनामों पर नज़र डाली तो दो हज़ार रुपए उसकी नज़र कर दिए।

वह बेवक़ूफ़ है, परले दर्जे का अहमक़ है, पर उसके दिल में इन्सानियत की रमक़ मौजूद है। वह निरा खरा हैवान नहीं, ग़रीबों का हमदर्द है—मुझे अच्छी तरह याद है, एक मर्तबा उसने एक बात पर तूफ़ान बर्पा कर दिया था।

बंबई में जो ऊँची इमारतें हैं, उनमें लिफ़्ट लगी है। सीढ़ियाँ भी होती हैं। सबको यह लिफ़्टें इस्तेमाल करने की इजाज़त है लेकिन ग़रीब डाकियों को नहीं। अगर सिर्फ़ पाँचवीं मंज़िल के लिए एक ख़त हो तो उसे पूरा क़ुतुब साहब चढ़ना और उतरना पड़ेगा। बाबू राव

1. मुसलमान

ने बहुत तूफ़ान मचाया और इस ख़िलाफ़े-इन्सानियत हुक्म के ख़िलाफ़ बहुत देर तक सदाए-एहतिजाज बुलंद की और आख़िर उसे मन्सूख़ कराके रहा।

उसने हिंदुस्तानी सनअते-फ़िल्म-साज़ी की सतह बुलंद करने में क़ाबिले-सताइश ख़िद्मात सर-अंजाम दी हैं। ग़ैर मुल्की फ़िल्म-साज़ों से जो हिंदुस्तान, हिंदुस्तानी रिवायात और ख़ुद हिंदुस्तानियों का मज़हका उड़ाया करते थे, उसका उसने तुर्की-बतुर्की जवाब दिया। यूरोप का दौरा किया और उन लोगों को उनकी हिमाक़तों से आगाह किया।

वह कई बच्चों का बाप है। दर्जनों तो नहीं होंगे, लेकिन एक दर्जन के क़रीब ज़रूर होंगे, क्योंकि एक दिन जब मैं उसके घर गया था तो उसने अपने तमाम बच्चों को 'फाल इन' का हुक्म दिया था। बाबू राव उन सबका शफ़ीक़ बाप है।

मगर—

बस इसी मगर के बाद वह बाबू राव शुरू होता है, जिसका आगाज़ और उसके बाद का कुछ हिस्सा मैंने देखा था। तामीर व तासीस, अज़मत व बुज़ुर्गी के ख़िलाफ जो हल्की-सी कद उसकी तहरीरों में झलकियाँ लेती थी,और आहिस्ता-आहिस्ता नुमायाँ हो रही थी, अब अपने पूरे भयानक लिबास में जल्वा-गर है।

महमूद ग़ज़नवी की बुत-शिक्नी का वह हल्का-सा परतौ, जो उसके दिलो-दिमाग़ में मौजूद था, अब निहायत भोंडी शक्ल में हमारे सामने मौजूद है।

दरमियान में उसने जवाहर लाल नेहरू की हर-दिल-अज़ीज़ी और अज़मत से चिढ़कर उस को "गाँधी का ले पालक" और "सारी क़ौम के सिर का दर्द" कहा था। यही चीज अब बिगड़कर पाकिस्तान दुश्मन बन गई है, इसलिए कि पाकिस्तान हक़ीक़त बन गया है और दुनिया के नक़्शे पर अपने लिए एक अहम जगह पैदा कर रहा है। यह उसकी कज-रौ तबीयत के ख़िलाफ़ है।

'फिल्म इंडिया' में जैसा कि नाम से ज़ाहिर है, सिर्फ़ फ़िल्म से मुताल्लिक मजामीन होने चाहिएँ, और हुआ करते थे, लेकिन आहिस्ता-आहिस्ता उसमें सियासत ने भी सिर निकालना शुरू कर दिया। और अब तो यह हालत है कि सियासियात, फ़िल्मियात और जिंसियात कुछ इस तरह आपस में गडमड हो गए हैं कि बिलकुल बाबू राव की मौजूदा प्रो ज़िह्नियत का नक़्शा पेश करते हैं। एक ही जगह पर आपको पाकिस्तान, मोरारजी देसाई, औरतों के अय्याम और वीरा के पपीतानुमा चेहरे का ज़िक्र मिलेगा। लियाकत का मका होगा, साथ ही बाबू राव की तनोमंदी और मर्दमी, उसके साथ आचार्य किशोर साहू और आख़िर में वह गाँधी टोपी को अपनी फूँकों से उड़ाने की कोशिश कर रहा होगा।

सियासियात में क़दम रखकर वह समझता है कि यह भी कोई रीटा, सुशीला है, पद्मा है जिसे वह डुगडुगी बजाकर बाँस पर चढ़ा देगा और ख़ुद तमाशा देखेगा, हालाँकि वह अंदरूनी-तौर पर जानता है कि फ़िल्म-साज़ी के मैदान में वह बहुत बुरी तरह नाकाम रह चुका है और इस मैदान में उससे भी ज़्यादा नाकाम रहेगा—मगर छेड़-छाड़ उसकी सिरिश्त में दाख़िल है।

मुझ से आप पूछिए तो बाबू राव को हिंदुस्तान से ग़र्ज़ है न पाकिस्तान से। वह दरअसल

अज़मत और बुज़ुर्गी का दुश्मन है, वर्ना वह अपने उस बंगले में खुश है जो उसने एक बड़ी रक़म देकर उमर पार्क में ख़रीदा है। अपनी सैक्रेट्री सुशीला रानी से ख़ुश है जिसको आसमानों पर चढ़ाने के लिए उसने 'फ़िल्म इंडिया' दो बरस तक वक्फ़ किए रखा। उसको एक फ़िल्म में भी पेश किया, इस ख़याल से कि दूसरे का हाथ रानी को न लगे। उसने यह फ़िल्म ख़ुद डायरेक्ट किया, लेकिन नतीजा सिफ़र। इस की बाबू राव को कोई पर्वा नहीं। उसके पास रानी है। उसके पास रेस के घोड़े हैं। उसके पाम बेहतरीन दफ़्तर है। उसके पेट में सरतान है, लेकिन उसकी तिजोरी में काफ़ी दौलत है। वह उड़कर अमरीका जा सकता है और उसका इलाज करा सकता है—लेकिन उसको एक़ बहुत बड़ा दुख है।

मैं आपको बताता हूँ—उसको यह दुख है कि मुसलमान क्यों इतने बेवफ़ा होते हैं। मैं सच कहता हूँ, उसके कई मुसलमान दोस्तों ने उससे बेवफ़ाई की है। हिंदु दोस्तों ने भी की है, लेकिन मुसलमान उसे ज़्यादा अज़ीज थे। वह उनकी ख़ू-बू पसंद करता था। उनका रहन-सहन पसंद करता था। उसको उनकी ख़ूबसूरती पसंद थी। सबसे ज़्यादा उसको उनके खाने पसंद थे।

बाबू राव अक़ाइद के लिहाज से बहुत रौशन ख़याल है। उसकी एक लड़की प्रेस के एक मुसलमान मुलाज़िम के इश्क़ में गिरफ़्तार हो गई। मुसलमान क़रीब-क़रीब अनपढ़ था, और बाबू राव की लड़की ज़ाहिर है, तालीम-याफ़्ता थी—लेकिन इश्क़ ऐसी चीज़ें कब देखता है। दोनों भाग गए।

बाबू राव उन दोनों को पकड़कर ले आया। लड़की को लानत मलामत की और चाहा कि यह क़िस्सा ख़त्म हो जाए, लेकिन लड़की न मानी—बाबू राव ने उससे पूछा : "तू क्या चाहती है?"

लड़की ने जवाब दिया : "मैं उससे शादी करना चाहती हूँ।"

बाबू राव ने अपनी लड़की की शादी प्रेस में काम करनेवाले मुसलमान से कर दी।

कुछ अर्से के बाद जब उससे मेरी मुलाक़ात हुई तो वह आँखों में आँसू भर के कहने लगा : "यह तुम साला मुसलमान कैसा है एक तो हमसे छोकरी लेता है, फिर कहता है, खाने के लिए भी दो।"

इस पस मंज़र में भी बाबू राव की मौजूदा ज़हरीली तहरीरों को देखने की ज़रूरत है।

लेकिन यह कितनी बड़ी हिमाक़त है कि वह एक फ़र्द का या दो तीन अफ़राद का बदला एक पूरी क़ौम से लेना चाहता है। एक मज़हब से लेना चाहता है—बाबू राव तारीख़ का तालिबे-इल्म है। क्या उस पर यह हक़ीक़त आशकारा नहीं कि यह क़ौम और यह मज़हब सराब नहीं, एक ठोस हक़ीक़त है।

इस्लाम और हादिए-इस्लाम के ख़िलाफ़ लोग दरीदा-दहनी करते रहे हैं, लेकिन इससे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता। पाकिस्तान के ख़िलाफ़ भी लोग एक अर्से तक ज़हर उगलते रहे हैं। इससे क्या होता है—मुझे अफ़्सोस तो इस बात का है कि हालात ने कितना शानदार क़लम ग़िलाज़त और गंदगी में डुबो दिया—कोई आर्टिस्ट किसी को मज़हबी दिल-आज़ारी का बाइस नहीं हो सकता। वह आर्टिस्ट था, लेकिन अफ़्सोस कि आम आदमी बन गया।

खुदा की कसम 'फिल्म इंडिया' के चंद पिछले शुमारे देखे। मुझे घिन आने लगी—बाबूराव और ऐसी गिरावट। ऐसा मालूम होता है कि वह आर्टिस्ट जो उसमें था, या तो सरतान बन के उसके पेट में चला गया है, या उसकी दो बीवीओं की बददुआओं, रीटा कारलाइल के बरीदा गेसूओं, और पद्मा देवी और सुशीला रानी के बिस्तरों में दफ़्न हो गया है।

किश्ते-ज़ाफ़रान

"लाइट्स ऑन, फैन ऑफ, कैमरा रेडी इस्टार्ट मिस्टर जगताप।"

"इस्टार्टिड।"

"सीन थर्टी-फोर, टेक टेन।"

'नीला देवी, आप कुछ फिक्र न कीजिए। मैंने भी पिशावर का पिशाब पिया है!"

"कट-कट।"

लाइट्स ऑन हुई—वी एच. डेसाई ने राइफ़ल एक तरफ रखते हुए बड़े इत्मीनान से अशोक से पूछा "ओ. के. मिस्टर गंगूली?"

अशोक ने, जो जल-भुनकर राख होने के क़रीब था, क़हर-आलूद निगाहों से ख़ला में देखा और ज़हर के चंद बड़े-बड़े घूँट जल्दी-जल्दी पीकर चेहरे पर मस्नूई ख़ुशी का इज़हार करते हुए डेसाई से कहा : "वंडरफुल " फिर उसने मानी-ख़ेज़ नज़रों से मेरी तरफ़ देखा : "क्यों मंटो ?"

मैंने डेसाई को गले लगा लिया : "वंडरफुल।"

हमारे चारों तरफ़ लोग अपनी-अपनी हँसी का बहुत बुरी तरह गला घोंट रहे थे। डेसाई बहुत ख़ुश था, चूँकि उसने बहुत देर के बाद मेरे मुँह से अपनी इस क़द्र पुर-जोश तारीफ़ सुनी थी। दरअसल अशोक ने कुछ अर्सा पहले मुझे मना कर दिया था कि मैं अपनी झुँझलाहट का इज़हार हरग़िज-हरगिज न करूँ, क्योंकि उसे अंदेशा था कि डेसाई बौखला जाएगा और सारा दिन गारत कर देगा।

जब चंद लम्हात गुज़र गए तो डेसाई ने मुकालमा-आमोज़ दीक्षित से कहा : "दीक्षित साहब, नेक्स्ट डाइलॉग ?"

यह सुनकर अशोक जो कि 'आठ दिन' नामी फ़िल्म डायरेक्ट कर रहा था, मुझ से मुख़ातिब हुआ : "मंटो, मेरा ख़याल है, पहला डाइलॉग एक दफ़ा और ले लें।"

मैंने डेसाई की तरफ़ देखा : "क्यों डेसाई साहब मेरा ख़याल है, इस दफ़ा और भी वंडरफुल हो जाए।"

डेसाई ने गुजराती अंदाज़ में अपना सिर हिलाया : हो तो ले लो अभी। गर्मा-गर्म मामला है।"

दत्ता राम चिल्लाया : "लाइट्स ऑन।"

लाइट्स रौशन हुईं। डेसाई ने राइफ़ल संभाली।

दीक्षित झट-से डेसाई की तरफ़ लपका और मुकालमों की किताब खोलकर कहने लगा: "मिस्टर डेसाई, ज़रा वह डाइलॉग याद कर लीजिए।"

डेसाई ने पूछा: "कौन-सा डाइलॉग ?"

दीक्षित ने कहा: "वही जो आपने इतना वंडरफ़ुल बोला था। ज़रा उसे दोहरा दीजिए।"

डेसाई ने राइफ़ल कंधे पर जमाते हुए बड़े संगीन एतिमाद से कहा: "मुझे याद है।"

दीक्षित ने इशारा किया: "मंटो साहब, ज़रा आप सुन लीजिए।"

मैंने डेसाई के कांधे पर हाथ रखा और बड़े ग़ैर-संजीदा लहजे में कहा: "हाँ तो वह क्या है डेसाई साहब   नीला देवी, आप कोई फ़िक्र न कीजिए। मैंने भी पिशावर का पानी पिया है।"

डेसाई ने अपने सिर पर पिशावरी लुंगी का ज़ाविया दुरुस्त किया और वीरा[1] से मुख़ातिब हो कर कहा: "नीला देवी, आप कोई पिशावर न कीजिए। मैंने भी आप का पानी पिया है।"

वीरा इस क़द्र बेतहाशा हँसी कि डेसाई डर गया: "क्या हुआ मिस वीरा ?"

वीरा साड़ी के आँचल में हँसी दबाती सैट से बाहर चली गई। डेसाई ने तश्वीश ज़ाहिर करते हुए दीक्षित से पूछा: "क्या बात थी ?"

दीक्षित ने अपना हँसी से उबलता हुआ मुँह दूसरी तरफ़ कर लिया।

मैंने डेसाई की परेशानी दूर करने के लिए कहा: "नथिंग सीरियस   खाँसी आ गइ थी।"

डेसाई हँसा: "ओह   " फिर वह मुस्तअद होकर अपने मुकालमे की तरफ़ मुतवज्जे हुआ: "नीला देवी, आप कोई खाँसी न कीजिए। मैंने भी देवी का   "

अशोक अपने सिर को मुक्के मारने लगा—डेसाई ने देखा तो मुतफ़क्किर हो कर उससे पूछा: "क्या बात है मिस्टर गंगूली ?"

अशोक ने एक ज़ोर का मुक्का अपने सिर पर मारा: "कुछ नहीं। सिर में दर्द था   तो हो जाए टेक ?"

डेसाई ने अपना कद्दू-सा सिर हिलाया: "हो।"

अशोक ने मुर्दा आवाज़ में कहा: "कैमरा रेडी   रेडी मिस्टर जगताप ?"

भोंपू से जगताप की मिनमिनाहट सुनाई दी: "रेडी।"

अशोक ने और ज़्यादा मुर्दा आवाज़ में कहा: "इस्टार्ट।"

"इस्टार्टिड।"

कैमरा इस्टार्ट हुआ। क्लैप स्टिक हुई।

"सीन थर्टी-फ़ोर, टेक इलेवन।"

1 फिल्म एक्ट्रेस वीरा—किरदार का नाम नीला देवी।

डेसाई ने राइफ़ल लहराई और वीरा से कहना शुरू किया : "नीला पानी" आप कोई देवी न कीजिए। मैंने भी पिशावर का···"

अशोक दीवानावार चिल्लाया : "कट कट।"

डेसाई ने राइफ़ल फ़र्श पर रखी और घबरा कर अशोक से पूछा : "एनी मिस्टेक मिस्टर गंगूली?"

अशोक ने डेसाई की तरफ़ क़ातिलाना निगाहों मे देखा। मगर फ़ौरन उनमें भेड़ों की सी नर्मी और मासूमियत पैदा करते हुए कहा : "कोई नहीं···बहुत अच्छा था, बहुत ही अच्छा " फिर वह मुझसे मुख़ातिब हुआ : "आओ मंटो, ज़रा बाहर चलें।"

सैट से बाहर निकलकर अशोक क़रीब-क़रीब रो दिया : "मंटो, बताओ, अब क्या किया जाए। सुबह से यह वक़्त हो गया है। पिशावर का पानी इसके मुँह पर चढ़ता ही नहीं मेरा ख़याल है, लंच के लिए ब्रेक कर दें।"

बड़ा माक़ूल ख़याल था, क्योंकि डेसाई से यह फ़ौरी तवक़्क़ो बिलकुल फ़ज़ूल थी कि वह सही मुकालमा बोल सकेगा। एक दफ़ा अगर उसकी ज़बान पर कोई चीज़ जम जाए तो बड़ी मुश्किल से हटती थी। असल में उसका हाफ़िज़ा बिलकुल सिफ़र था। उसे छोटे मे छोटा मुकालमा भी याद नहीं रहता था। अगर सैट पर वह पहली बार कोई मुकालमा सेहत के साथ अदा कर जाता तो उसे महज़ इत्तिफ़ाक़ समझा जाता था। मगर लुत्फ़ यह है कि गलत अदाइगी के बावजूद डेसाई को क़त्अन उस बात का एहसास नहीं होता था कि उसने मुकालमे को किस हद तक, किस रुला देनेवाली हद तक मस्ख़ किया है।

मुकालमे की टाँग तोड़कर उसको मुकम्मल-तौर पर अपाहिज करके वह आम-तौर पर हाज़िरीन की तरफ़ दाद-तलब निगाहों से देखा करता था। उसकी एक-दो लड़खड़ाहटें यक़ीनन तफ़रीह का मूजिब होती थीं, मगर जब वह हद से तजावुज़ कर जाता तो सब के दिल में यह ख़्वाहिश पैदा होती कि उसके सिर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ।

मैं फ़िल्मिस्तान में तीन बरस रहा। इस दौरान में डेसाई ने चार फ़िल्मों में हिस्सा लिया। मुझे याद नहीं कि उसने एक मर्तबा भी पहले ही मरहले में अपना मुकालमा सेहत से अदा किया हो। अगर हिसाब लगाया जाए तो आँजहानी ने अपनी फ़िल्मी ज़िंदगी में लाखों फ़ुट फिल्म ज़ाया किया होगा।

अशोक ने मुझे बताया कि डेसाई की रीटेक्स का रिकार्ड पचहत्तर है, यानी बाम्बे टाकीज़ में उसने एक बार एक मुकालमे को चौहत्तर मर्तबा ग़लत अदा किया। यह सिर्फ़ जर्मन डायरेक्टर फ्रांज़ ओस्टेन ही का हौसला था कि वह बहुत देर तक ज़ब्त किए रहा। आख़िर उसका पैमानाए-सब्र लब्रेज़ हो गया। सिर पीटकर उसने डेसाई से कहा : "मिस्टर डेसाई, मुसीबत यह है कि लोग तुम्हें पसंद करते हैं। तुम्हें पर्दे पर देखते ही हँसना शुरू कर देते हैं, वर्ना आज मैंने तुम्हें ज़रूर उठाकर बाहर फैंक दिया होता।"

फ्रांज़ ओस्टेन की इस साफ़गोई का नतीजा यह हुआ कि चौहत्तर रीटेक हुए और स्टूडियो के हर कारकुन को बारी-बारी डेसाई को दम-दिलासा देने का फ़र्ज़ अदा करना पड़ा—कोई हीला कारगर नहीं होता था। वह एक बार उखड़ जाए तो कोई दवा या दुआ

बाअसर साबित नहीं होती थी। ऐसे वक़्तों में चुनांचे यही मुनासिब ख़याल किया जाता था कि नतीजा ख़ुदा के हाथ सौंपकर धड़ाधड़ फ़िल्म ज़ाया किया जाए। जब उसकी और डेसाई की मर्ज़ी बयक-वक़्त शामिले-हाल हो जाए तो सज्दाए-शुक्राना अदा किया जाए।

अशोक ने लंच के लिए ब्रेक कर दिया। जैसाकि आम दस्तूर था, किसी ने डेसाई से मुकालमे के बारे में गुफ़्तगू न की, ताकि जो कुछ हो चुका है, उसकी याद ताज़ा न हो। अशोक इधर-उधर की गप्पें सुनाता रहा। डेसाई ने हस्बे-मामूल अपनी तरफ़ से मिज़ाह-अंगेज बातें कीं। जिन में ज़र्रा बराबर मिज़ाह नहीं था, लेकिन सब हँसते रहे। लंच ख़त्म हुआ। शूटिंग फिर शुरू हुई। अशोक ने उससे पूछा : "क्यों डेसाई साहब, आपको डाइलॉग याद है ?"

डेसाई ने बड़े वुसूक़ के साथ कहा : "जी हो।"

लाइट्स ऑन हुईं। सीन् थर्टी-फोर, टेक ट्वेल्व शुरू हुआ—डेसाई ने राइफ़ल लहरा कर वीरा से कहा : "नीला देवी · आप आप" और एकदम रुक गया : "आई एम सौरी।"

अशोक का दिल बैठ गया, लेकिन उसने डेसाई का दिल रखने के लिए कहा : "कोई बात नहीं ··जल्दी कीजिए।"

सीन थर्टी-फ़ोर, टेक थर्टीन शुरू हुआ, मगर डेसाई ने पिशावर से पिशाब को अलग न किया। जब चंद और कोशिशें भी बारावर न हुईं तो मैंने अलग ले जाकर अशोक को यह मश्वरा दिया : "दादा मुनि, देखो यूँ करो जब डेसाई यह मुकालमा अदा करे तो वह कैमरे की तरफ़ पीठ करते हुए उसका बक़ाया हिस्सा अदा करे, यानि पिशावर का पिशाब पीया है, कैमरे के सामने मुँह करके न बोले।"

अशोक समझ गया, क्योंकि इस मुश्किल से निकलने की एक सिर्फ़ यही तरकीब थी। और हम बड़ी असानी से यह मुकालमा बाद में डब कर सकते थे। अगर वह सारा मुकालमा कैमरे के सामने मुँह करके अदा करता तो उसके होठों की जुंबिश सही मुकालमे के साथ चिस्पाँ न हो सकती।

जब डेसाई को यह तर्कीब समझाई गई तो उसे बहुत ठेस पहुँची। उसने हम सबको यक़ीन दिलाने की हर मुमकिन कोशिश की कि वह अब गलती नहीं करेगा, मगर पानी सिर से गुज़र चुका था और वह भी पिशावर का, इसलिए उसकी मिन्नत-समाजत बिलकुल न सुनी गई। बल्कि उससे कह दिया गया कि वह, जो उसके दिल में आए बोल दे।

डेसाई बहुत बद-दिल हुआ—उसने मुझसे कहा : "कोई बात नहीं मंटो, मैं मुँह दूसरी तरफ़ मोड़ लूँगा, लेकिन आप देखिएगा कि मैं डाइलॉग बिलकुल कोरेक्ट बोलूँगा।"

"सीन थर्टी-फ़ोर, टेक फ़ोरटीन" की आवाज़ आई। डेसाई ने बड़े अज़्म के साथ राइफ़ल हवा में लहराई और वीरा से मुख़ातिब होकर कहा : "नीला देवी, आप कोई फ़िक्र न कीजिए " यह कह कर वह मुड़ा : "मैंने भी पिशावर का पिशाब पीया है।"

सीन कट हुआ। डेसाई ने फ़तहमंदाना अंदाज़ में राइफ़ल कंधे पर रखी और अशोक से पूछा : "क्यों मिस्टर गंगूली ?"

अशोक अब बिलकुल संग-दिल बन चुका था। उसने बड़े रूखे अंदाज़ में कहा : "ठीक़

है ठीक है "फिर वह कैमरा मैन हरदीप से मुखातिब हुआ : "चलो नेक्स्ट शॉट ।"

शूटिंग ख़त्म हुई—मुझे अपने एक दोस्त के साथ चर्च गेट जाना था, इसलिए हम जल्दी-जल्दी स्टेशन पहुँचे । गाडी खडी थी । हम एक डिब्बे में बैठ गए । क्या देखते हैं कि डेसाई साहब भी ब्राजमान हैं और मुसाफिरों को अपने कारनामे सुना रहे हैं ।

मेरा दोस्त, जो उस दिन की शूटिंग देख चुका था, डेसाई के पास बैठ गया । दौराने-गुफ्तुगू मे उसने एक बडा बेढब-सा सवाल किया · "सैट पर जो लोग डाइलॉग भूल जाते हैं, उनका क्या इलाज किया जाता है ?"

डेसाई ने जवाब दिया । "मालूम नही मैं तो कभी नही भूलता ।"

उसका यह जवाब बेहद मासूम था, जैसे वह डाइलॉग भूल जाने के मर्ज से कत्अन ना-आश्ना हो—मेरा खयाल है कि खुद उसको इसका कामिल यकीन था कि उससे कोई गलती सरजद नही होती । और यह दुरुस्त था, इसलिए कि गलती का एहसास तो सिर्फ उसी सूरत मे पैदा हो सकता है, अगर सेहत के मुताल्लिक हलका-सा तसव्वुर इन्सान के दिमाग मे मौजूद हो । डेसाइ मर्हूम के दिमाग मे कोई ऐसा खाना ही नही था जो गलत और सही मे तमीज कर सके । वह इससे बिलकुल बेनियाज था, मासूमियत की हद तक ।

वह लोग जो समझते हैं कि वह बहुत बडा मिजाह-कार था, यकसर गलत है । वह जो यह समझते हैं कि वह बहुत बडा किदारकार था कत्अन ना-दुरुस्त है । ऐसा गुनाह आँजहानी से कभी सरजद नही हुआ । लोग अगर उसकी हरकात पे हँस-हँस के दोहरे होते ये तो उसका बाइस कुदरत की छेडखानी थी । खुदावंदेताला ने उसकी तख्लीक ही ऐसे आबो-गिल मे की थी, जिसस जाफरान गुंधी हो ।

एक दफा रेसकोर्स पर मैंने दूर से उस की तरफ इशारा किया और अपनी बीवी से कहा "वह रहा डेसाई वह ।"

मेरी बीवी ने उस जानिब देखा और बेइख्तियार हँसना शुरू कर दिया ।

मैंने पूछा "इतनी दूर से देखने पर इस कद्र बेतहाशा हँसने की कोई वजह ?"

वह मेरे सवाल का इत्मीनान-बख्श जवाब न दे सकी "मालूम नही ।" सिर्फ यह कह कर वह और ज्यादा हँसने लगी ।

आँजहानी को रेस का बहुत शौक था । वह अपनी बीवी और लडकी को साथ लाता था और दस रुपए से ज्यादा कभी नही खेलता था । उस के बयान के मुताबिक कई जौकी उसके बहुत ही करीबी दोस्त थे जो उसको सोलह-आने खरी टिप देते थे । यह टिप वह अक्सर दूसरों को देता था, इस दर्खास्त के साथ कि वह इसे अपने तक रखे और किसी और को न बताएँ । खुद वह किसी और की दी हुई टिप पर खेलता था ।

रेस कोर्स पर जब मैंने उसको अपनी बीवी से मुतारिफ कराया तो उसने एक श्यार यानी यकीनी टिप दी । जब वह न आई तो उसने मेरी बीवी से पुर-ताज्जुब लहजे मे कहा "हद हो गई है यह टिप तो आना ही माँगती थी ।" उसने खुद एक दूसरे नम्बर का घोडा खेला था जो प्लेस में आ गया था । इस पर उसने किसी किस्म के ताज्जुब का इजहार नही किया था ।

डेसाई आँजहानी की अवाइली ज़िंदगी के मुताल्लिक लोगों की माल्मात बहुत महदूद हैं। ख़ुद मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि वह गुजरात के एक मुतवस्सित घराने का फ़र्द था। बी. ए. करने के बाद उसने एल. एल. बी. किया। छ-सात बरस तक बंबे की छोटी अदालतों की ख़ाक छानता रहा। उसकी प्रेक्टिस मामूली थी लेकिन उसका घरबार चलाने के लिए काफ़ी थी—जब वह दिमाग़ी आरिज़े में गिरफ़्तार हुआ तो उसकी माली हालत बहुत पतली हो गई। एक अर्से तक वह नीम-पागल रहा। इलाज मुआलजे से यह आरिज़ा दूर तो हो गया, मगर डॉक्टरों ने उसे दिमाग़ी काम करने से मना कर दिया, क्योंकि ख़तरा था कि मर्ज़ फिर औद न कर आए—अब डेसाई ग़रीब के लिए बड़ी मुश्किल थी कि वह करे तो क्या करे। वकालत, ज़ाहिर है कि यक्सर दिमाग़ी काम था, इसलिए उधर रुजू करने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। कुछ अर्से तक वह इधर-उधर हाथ-पाँव मारता रहा। तिजारत से उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी, हालाँकि उसकी रगों में ठेठ गुजराती ख़ून था।

जब हालात बहुत नाज़ुक हो गए तो वह सागर मूवी टोन के चमन लाल डेसाई से मिला और ख़्वाहिश ज़ाहिर की कि उसे स्टूडियो में काम मिल जाए। असल में उसका मक़सद यह था कि उसे एक्टिंग का मौक़ा दिया जाए। चमनलाल भी डेसाई था। उसने वी. एच. को मुलाज़िम रख लिया। उसके कहने पर चंद डायरेक्टरों ने आज़माइश के तौर पर उसे मुख़्तलिफ़ फ़िल्मों में थोड़ा-थोड़ा काम दिया और इस नतीजे पर पहुँचे कि उसको फिर आज़माना बहुत बड़ी ख़ता है। चुनाँचे वह कुछ अर्से के लिए बेकार सागर मूवी टोन में पड़ा रोटियाँ तोड़ता रहा।

इस दौरान में मिस्टर हिमांसू राय 'बंबे टाकीज' क़ाइम कर चुके थे जिसके मुतादिदद फ़िल्म कामयाब भी हो चुके थे। इस इदारे के मुताल्लिक़ मशहूर था कि तालीम-याफ़्ता लोगों की क़द्र करता है। यह दुरुस्त भी था। चुनाँचे डेसाई क़िस्मत-आज़माई के लिए वहाँ पहुँचा। दो तीन चक्कर लगाने और मुख़्तलिफ़ सिफ़ारिशी ख़ुतूत हासिल करने के बाद मिस्टर हिमांसू राय से मिला—हिमासू राय ने उसकी शक्लो-सूरत और उसकी तमाम कमज़ोरियों को पेशे-नज़र रखते हुए एक ख़ास किर्दार वज़ा किया और हिंदुस्तानी स्क्रीन को एक ऐसा एक्टर बख़्शा जो एक्टिंग से बिलकुल ना-आश्ना था।

पहले ही फ़िल्म में वी. एच. डेसाई फ़िल्म-बीनों की तवज्जो का मर्कज़ बन गया। बंबे टाकीज़ के अमले को शूटिंग के दौरान में जो मुश्किलात पेश आईं, वह बयान से बाहर हैं। सबकी क़ुव्वते-बर्दाश्त जवाब दे जाती थी, मगर वह अपने तजबे में डटे रहे और आख़िर कामयाब रहे। उस पहले फ़िल्म के बाद डेसाई बंबे टाकीज़ के फ़िल्मों का जुज़्वे-लायनफ़िक बन गया। उसके बग़ैर बंबे टाकीज का फ़िल्म ग़ैर-मुकम्मल और रूखा-फीका समझा जाता था।

डेसाई अपनी कामयाबी पे ख़ुश था मगर उसको हैरत हरगिज़ नहीं थी? वह समझता था कि उसकी कामयाबी उसकी ज़हानत व ज़कावत और अनथक कोशिशों का नतीजा है, मगर ख़ुदा बेहतर जानता है कि इन तमाम चीज़ों का उसकी शुहरत और कामयाबी में ज़र्रा बराबर दख़ल नहीं था। यह सिर्फ़ क़ुदरत की सितम ज़रीफी थी कि वह फिल्मों को सबसे

बड़ा ज़रीफ़ बन गया।

मेरी मौजूदगी में उस ने फ़िल्मस्तान के तीन फ़िल्मों में हिस्सा लिया। उन तीन फ़िल्मों का नाम अलीअल-तर्तीब यह है 'चल-चल रे नौजवान', 'शिकारी', और 'आठ दिन'। हर फ़िल्म की तैयारी के दौरान में हम उसकी तरफ़ से मुतादि्दद बार मायूस हुए, मगर अशोक और मुखर्जी मुझे बता चुके थे कि उससे काम लेने के लिए पित्ता क़तई तौर पर मार देना पड़ता है, इसलिए मुझे अपनी जल्द घबरा जाने वाली तबीयत को क़ाबू में रखना पड़ा, वर्ना बहुत मुमकिन था कि मैं 'चल-चल रे नौजवान' की शूटिंग ही के दौरान दूसरे जहाँ को चल पड़ता। वैसे कभी-कभी गुस्से के आलम में यह ख़्वाहिश बड़ी शिद्दत से पैदा होती थी कि कैमरा उठाकर उसके सिर पर दे मारा जाए। माइक्रोफ़ोन का पूरा बूम उसके हलक़ में ठोंस दिया जाए और सारे बल्ब उतारकर उसकी लाश पर ढेर कर दिए जाएँ, मगर जब इस क़स्द से उसकी तरफ देखते तो ये सफ़्फ़ाकाना अज़्म हँसी मे तब्दील हो जाता।

मुझे मालूम नहीं, इज़्राईल-अलैहस्सलाम ने उसकी जान क्योंकर ली होगी क्योंकि उसको देखते ही हँसी के मारे उनके पेट में बल पड़-पड़ गए होंगे, मगर सुना है कि फ़रिश्तों के पेट नहीं होता। कुछ भी हो, डेसाई की जान लेते हुए वह यक़ीनन एक बहुत ही दिलचस्प तजर्बे से दो चार हुए होंगे।

जान लेने का ज़िक्र आया है तो मुझे 'शिकारी' का आख़िरी सीन याद आ गया है—उस सीन में हमें डेसाई की जान लेना थी। उसे बेरहम जापानियों के हाथों ज़ख़्मी होकर मरना था और मरते वक़्त अपने होनहार और बहादुर शागिर्द बादल[1] और उसकी महबूबा नीला देवी से मुख़ातिब होकर यह कहना था कि वह उसकी मौत पर मग़्मूम न हों और अपना नेक काम किए जाएँ। मुकालमों की सेहते-अदाइगी का सवाल हस्बे-मामूल मुश्किल था, मगर अब यह मुसीबत दरपेश थी कि डेसाई को किस अंदाज से मारा जाए कि लोग न हँसें। मैंने तो अपना फ़ैसला दे दिया था कि उसको अगर सचमुच भी मार दिया जाए तो लोग हँसेंगे। वह कभी यक़ीन ही नहीं करेंगे कि डेसाई मर रहा है या मर चुका है। उनके ज़ेहन में डेसाई की मौत का तसव्वुर आ ही नहीं सकता।

मेरे इख़्तियार में होता तो मैंने यक़ीनन यह आख़िर का सीन हज़्फ़ कर दिया होता, मगर मुश्किल यह थी कि कहानी का बहाव ही कुछ ऐसा था कि अंजाब में उस केरेक्टर की मौत ज़रूरी थी जो कि उसे सौंपा गया था। कई दिन हम सोचते रहे कि इस मुश्किल का कोई हल मिल जाए, मगर नाकाम रहे। अब इसके सिवा और कोई चारा नहीं था कि उसे मरता दिखाया जाए।

मुकालमों की सेहत अब सानवी अहमियत रखती थी। जब रिहर्सलें की गईं तो हम सबने नोट किया कि वह निहायत ही मज़्हका-ख़ेज तरीक़े पर मरता है। अशोक और वीरा से मुख़ातिब होते हुए वह कुछ इस अंदाज़ से अपने दोनों हाथ हिलाता है जैसे कूक भरा खिलौना। उसकी यह हरकत बहुत ही ख़ंदा-ख़ेज़ थी। हमने बहुत कोशिश की कि वह

1. हीरो का यह रोल अशोक कुमार ने अदा किया था।

साकित पड़ा रहे और अपने बाज़ुओं को जुम्बिश न दे, मगर दिमाग़ की तरह उस का जिस्म भी उसके इख़्तियार से बाहर था।

बड़ी देर के बाद आख़िर अशोक को एक तर्कीब सूझी और वह यह थी कि जब सीन शुरू हो तो वीरा और वह दोनों उसके हाथ पकड़ लें। यह तर्कीब कारगर साबित हुई। सब ने इत्मीनान का साँस लिया। लेकिन जब पर्दे पर यह फ़िल्म पेश हुआ और डेसाई की मौत का यह मंज़र आया तो सारा हाल क़हक़हों से गूँज उठा—हमने फ़ौरन दूसरे शो के लिए उसको क़ैंची से मुख़्तसर कर दिया। मगर तमाशाइयों के रद्दे-अमल में कोई तबदीली वाक़े न हुई। आख़िर थक-हार कर उसको वैसे का वैसा ही रहने दिया गया।

डेसाई आँजहानी बेहद कंजूस था। किसी दोस्त पर एक दमड़ी भी ख़र्च नहीं करता था। बड़े अर्से के बाद उसने क़िस्तों पर अशोक से उसकी पुरानी मोटर ख़रीदी। वह ख़ुद चूँकि ड्राइव करना नहीं जानता था, इसलिए एक मुलाज़िम रखना पड़ा। फिर हुआ यह कि मुलाज़िम हर दसवें-पंद्रहवें रोज़ बदला जाने लगा। मैंने एक रोज़ उसकी वजह दरयाफ़्त की तो डेसाई गोल कर गया, लेकिन मुझे साउंड रिकार्डिस्ट जगताप ने बताया कि डेसाई साहब एक ड्राइवर रखते हैं, नमूने के तौर पर उसका काम दस-बारह रोज़ देखते हैं, और फिर उसे कंडम करके दूसरा रख लेते हैं। यह सिलसिला काफ़ी देर तक जारी रहा, मगर इसी दौरान में उसने ख़ुद मोटर चलाना सीख लिया।

आँजहानी को दमे की शिकायत बहुत अर्से से थी। यह मर्ज़ ला-इलाज क़रार दे दिया गया था। किसी के कहने पर उसने हर रोज़ दवा के तौर पर थोड़ी-सी ख़ुश्क भंग खाना शुरू कर दी थी और फिर वह उसका आदी बन गया था। शाम को सर्दियों के मौसम में ब्रांडी का आधा पैग भी पीता था और ख़ूब चहका करता था।

'आठ दिन' में एक सीन ऐसा था कि उसे पानी के टब में बैठना था। मौसम ख़ुशगवार था, मगर उसकी हद से ज़्यादा नाज़ुक तबीयत के लिए नाक़ाबिले-बर्दाश्त हद तक सर्द था। हमने इसके पेशे-नज़र पानी गर्म करवाया और साथ ही प्रोडक्शन मैनेजर से कह दिया कि ब्रांडी तैयार रखे। जिन अस्हाब ने यह फ़िल्म देखा है, उनको यह मंज़र ज़रूर याद होगा जिसमें टीकम लाला यानि डेसाई, सुरेंद्र के फ्लैट के ग़ुस्लख़ाने में टब में बैठा है, सिर पर बर्फ़ की थैली है, एक छोटा पंखा चल रहा है और वह शराब के नशे में धुत यह कह रहा है: "चारों तरफ़ समंदर ही समंदर है। ऊपर बर्फ़ का पहाड़ है—" वग़ैरा-वग़ैरा।

शूटिंग ख़त्म हुई तो जल्दी-जल्दी डेसाई के कपड़े तबदील कराए गए। उसके बदन को अच्छी तरह ख़ुश्क किया गया। फिर उसको एक पैग ब्रांडी का दिया गया—ब्रांडी उसके हलक़ से नीचे उतरी तो उसने बहकना शुरू कर दिया। इतनी क़लील मिक़्दार ही ने उसे पूरा शराबी बना दिया—कमरे में सिर्फ़ मैं मौजूद था, चुनाँचे वह मुझे लुकनत-भरे लहजे में अपने तमाम कारनामों की दास्तान सुनाने लगा। कचहरियों में वह कैसे मुक़द्दमे लड़ता था और किस शानदार और ज़ोरदार तरीक़े पर अपने मुवक्किलों की वकालत करता था।

डेसाई, क़ाइदे-आज़म मौहम्मद अली जिनाह मर्हूम और श्री भोला भाई डेसाई की क़ानून दानी और उनके ज़ोरे-वक़ालत का बहुत मोतरिफ़ था। क़ाइदे-आज़म मर्हूम से वह

कई बार शर्फ़े-मुलाक़ात हासिल कर चुका था और मुतादि्दद मर्तबा अदालते-आलिया में उनकी कनूनी मूशिगाफियाँ मुन चुका था।

ग़ालिबन 'आठ दिन' फ़िल्माने ही का ज़माना था कि हुकूमते-पंजाब ने ज़ेरे-दफ़ा 292 मेरे वारंट जारी किए। मेरे अफ़्साने 'बू' पर फ़हाशी का इल्ज़ाम था। इसका ज़िक्र डेसाई से हुआ तो उसने अपनी क़ानूनी वाक़िफ़ीयत बघारना शुरू कर दी। दफ़अतन मुझे एक दिलचस्प शरारत सूझी। वह यह कि अपने मुक़दमे की पैरवी के लिए उसे मुंतख़ब करूँ। अदालत में यक़ीनन एक हंगामा बर्पा हो जाता, जब वह मेरी तरफ़ से पेश होता। मैंने इस का ज़िक्र मुखर्जी से किया। वह फ़ौरन मान गए। बात वाक़ई मज़े की थी।

गवाहो की फ़ेहरिस्त बनाई तो मैंने इंडियन चार्ली नूर मौहम्मद को इसमें शामिल किया, चार्ली और डेसाई सारे लाहौर को अदालत के कमरे में खींचने के लिए काफ़ी थे। मैं इसका तसव्वुर करता तो मेरे सारे वुजूद में हँसी का चश्मा फूटने लगता, मगर अफ़्सोस कि शूटिंग की मुश्किलात के बाइस मेरा यह दिलचस्प ख़्वाब पूरा न हुआ।

डेसाई ने मुताल्लिक़ा दफ़ा के मुताल्लिक तमाम मालूमात हासिल कर ली थीं जो मेरे नज़दीक क़तई ज़रूरी नहीं थी, इसलिए कि मैं तो सिर्फ़ तफ़रीह चाहता था। नूर मौहम्मद चार्ली ने भी अपनी गवाही का ख़ाका तैयार कर लिया था, मगर वह उधर रंजीत में कुछ इस तरह अपने फ़िल्मों की शूटिंग में मसरूफ़ था कि एक दिन के लिए भी बंबे छोड़ नहीं सकता था।

डेसाई को अफ़्सोस था कि उसे अपनी क़ानूनी क़ाबिलीयत दिखाने का मौक़ा न मिला। कमबख़्त की निगाहों से यह बिलकुल ओझल था कि मुझे उसकी इस काबिलीयत से कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैं तो यह चाहता था कि जब वह अदालत में पेश हो तो बार-बार बोखलाए और जो कुछ कहना चाहता है, बार-बार भूले। पिशावर के पानी को पेशाब बनाए, और इतने रीटेक कराए कि सबकी तबीयत साफ़ हो जाए।

डेसाई मर चुका है। ज़िंदगी में सिर्फ़ एक बार उसने रीटेक होने नहीं दिया। रिहर्सल किए बग़ैर उसने इज़्राईल अलैहस्साल के हुक्म की तामील की और लोगों को मज़ीद हँसाए बगैर मौत की गोद में चला गया।

अंतिम शब्द

और खुद चेखव को मोपासाँ की हक़ीक़तनिगारी पसंद थी।

अपने एक अफ़साने A Woman's Kingdom मे चेख़व ने मोपासाँ का ज़िक्र यूँ किया है। इस अफ़साने का एक किरदार, एक दूसरी किरदार ऐना से कहता है :

"मोपासाँ, अज़ीज़े-मन[1], मोपासाँ को पढ़ो। उसके एक-एक सफ़हे मे रूए-ज़मीन[2] की सारी दौलत से ज्यादा तोल है। उसकी हर सतर में एक नया उफ़क़[3] है नर्मो-नाज़ुक रूमानी महसूसात के साथ-साथ शदीद तूफ़ान, सनसनीखेज जज़्बात, शैतानी शह्वत[4], नाज़ुक रेशों का जाल "

और ऐना इस लफ़्फ़ाजी की धुंध के परे सिर्फ़ एक चीज देख रही थी : जिंदगी, ज़िंदगी, जिंदगी। मोपासाँ के हाँ ज़िंदगी है ज़िंदगी, मोपासाँ के हाथों ढलकर अफ़साने बन जाती है

चेख़व और मोपासाँ का हमारे अफ़सानवी अदब पर भी ज़बरदस्त असर पड़ा है। मोपासाँ को पहचानने में तो हमें चंदाँ दिक़्क़त न होगी, क्योंकि भला मोपासाँ के तर्ज़ का अफ़सानानिगार हमारे हाँ मंटो के सिवा और कौन हो सकता है—मंटो, हमारा मोपासाँ है।

मंटो के मौज़ूआत[5] भी मोपासाँ की तरह इनसान के वहशियाना, हैजानी[6] जज़्बात से ताल्लुक़ रखते हैं—जिंस[7], शहवानियत[8], ज़ुल्म, ईज़ादही[9], क़त्लो-ख़ून, तेज़ हैजानी जज्बात, ग़ैरमामूली वाक़यात और तूफ़ानी हादिसात।

मंटो ने भी मोपासाँ की तरह ज़िंदगी का ज़हर इस तरह चखा था कि उसकी तल्ख़ी कामो-दहन[10] से उतरकर कल्बो-रूह तक पहुँच गई, लेकिन फिर भी मंटो ने मोपासाँ की तरह हमें यही एहसास दिलाया कि इनसान में बदी है, बदसूरती है, गंदगी है, हैवानियत है, लेकिन इनसानियत फिर भी ख़ूबसूरत है।

मंटो को पढ़ते हुए भी हमें वही एहसास होता है जैसे मोपासाँ के मुताल्लिक चेख़व के एक किरदार को हुआ था : ज़िदगी, ज़िंदगी, ज़िंदगी। मंटो के हाँ ज़िंदगी है ज़िदगी, मंटो के हाथों ढलकर अफ़साने बन जाती है !

मुमताज़ शीरीं

Then, some time in 1850, she and her husband rented, near the village of Tourville-sur-Arques, five miles inland from Dieppe, the imposing Chateau de Miromesnil, an isolated, red-brick and white-stone Norman mansion complete with cover towers and a sixteenth-century chapel; and here, on the fifth of August, was born their first son, Henry-Rene-Albert-Guy de Maupassant.

और तैंतालीस बरसों के बाद :

But Maupassant's disintegration continued the European name for the last stage of his syphilis, progresive paralysis, is more descriptive than the English equivalent, paresis - and its inexorable, violent progress was freely reported by Dr. Blanche to Paris society in the salone of Princesse Mathilde Bonaparte.

Death came to the body on July 6, 1893.

... the eloquence of the words Zola uttered beside the grave : "If he was understood and loved from the first, it was because the French soul found in him the gifts and the qualities that have created its finest achievements. He was understood because he had clarity, simplicity, moderation and strength. He was loved because he possessed a laughing goodness, a profound staire which miraculously is not unkind, and a brave gaiety which persists even through tears "

Francis Steegmuller

सन् निनानवे बस कुछ ही दिनों की दूरी पर खड़ा है। वह बरस जब मोपासाँ को रुखसत हुए सौ बरस हो जाएंगे।

कहानी का तालिबे-इल्म[11], दुनिया के किसी भी मुल्क में हो, मोपासाँ को नहीं भूल सकता।

हमारी हालत यह है कि हम और कुछ हों या न हों, कहानी के तालिबे-इल्म ज़रूर हैं।
मंटो भी हमें याद रहा, मोपासाँ भी हमें याद रहा।
हमारी याद का रूप 'दस्तावेज़' का इंतसाब है : मोपासाँ के नाम
हमें यक़ीन है, मंटो को कोई एतराज़ न होगा।

'शुक्रिया' ऐसी चीज़ है कि अदा करने में चूक हो जाए तो फाँस बन जाती है।

दो बार हमसे यह चूक हो चुकी है और दोनों बार हमारी जान आफ़त में पड़ गई।

तीसरी बार हम हर उलझन से बचना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सारी बलाएँ एक साथ टाल दें :

हम दुनियावालों का शुक्रिया अदा करते हैं जिन्होंने वह 'आसान' हालात पैदा किए कि मुश्किलपसंद मंटो खुल खेल सका।

हम मंटो का शुक्रिया अदा करते हैं जिसने अपने आईना ख़ाना-ए-दिल में हमें उतरने की इजाज़त दी।

यह तो था पुराना क़र्ज़ जो सूद समेत हमने आज चुकाया। और यह है आज का क़र्ज़ जो हम आज ही चुकाते हैं :

हम इंतज़ार हुसैन, किश्वर नाहीद, अनवर सज्जाद, मुहम्मद असदुल्लाह, शमीम हनफी और मुग़नी का शुक्रिया अदा करते हैं जो भूलभुलैयों में हमारे साथ भटके।

हम नरेश 'नदीम', ताहिर हुसैन और नंद कत्याल का शुक्रिया अदा करते हैं जो हमारे क़दमों की आहट सुनकर आधी रात को भी जाग उठे और हमारे साथ चल पड़े।

हम राजकमल प्रकाशन का शुक्रिया अदा करते हैं जिसने इंतज़ार के कड़े बरस झेले।

बला टली, जान बची। है ना ऐंटी की पैंटी पो !

और अब आख़िर में हम आख़िरी कंटीन्यूटली मिलाते हैं :

अपनी ज़िंदगी के आख़िरी दिनों में मंटो ने कुछ वक़्त एक नामुकम्मल और ग़ैरमतबूआ किताब की तरतीब में गुज़ारा। उसने किताब का नाम रखा : 'नाख़ुन का क़र्ज़'।

किताब का जो ख़ाका मंटो के ज़ेहन में था, वह हमारे ज़ेहन में मौजूद है। फिर वो सैकड़ों अहम नोट्स भी हमारी 'मंटो फ़ाइल' में रखे हैं जो हम 'दस्तावेज़' में शामिल न कर सके।

हमारा इरादा है कि साल भर में, 'दस्तावेज़' के पोस्टस्क्रिप्ट के तौर पर, 'नाख़ुन का क़र्ज़' अदा हो जाए।

तो दोस्तो,

साल भर की मुहलत, बस साल भर

नई दिल्ली : 26 नवंबर 1992 **बलराज मेनरा, शरद दत्त**

1. मेरी प्यारी; 2. भूतल; 3. क्षितिज; 4. कामवासना; 5. विषय; 6. उथल-पुथल से भरे; 7. यौन; 8. कामातुरता; 9. कष्ट देना; 10. दाँत और मुँह; 11. अध्येता, छात्र।